साहित्य-रत्न-माला—१

[संरक्षक—श्रीमान् ठाकुर कल्याणसिंह जी शेखावत
बी. ए. जागीरदार खाचरियावास (जयपुर)]

बौद्ध-कालीन भारत

अर्थात्

बुद्ध-जन्म के समय से गुप्त साम्राज्य के
उदय तक के भारत की राजनीतिक,
सामाजिक, आर्थिक आदि
व्यवस्थाओं का वर्णन

लेखक
जनार्दन भट्ट एम० ए०

प्रकाशक
रामचंद्र वर्म्मा
साहित्य-रत्न-माला कार्य्यालय, काशी

पहली बार १५००] सं० १९८२ वि० [मूल्य ३)

प्रकाशक
रामचंद्र वर्म्मा,
साहित्य-रत्न-माला कार्य्यालय,
काशी।

मुद्रक
गणपति कृष्ण गुर्जर,
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, जतनबड़,
काशी।

बौद्ध-कालीन भारत

चिड़ावा निवासी सेठ दुलीचन्दजी डालमिया

Mohila Press, Cal

समर्पण

यह स्नेह-भेंट परोपकारी, उदार-हृदय,

हिन्दी-हितैषी, चिड़ावा-निवासी

सेठ दुलीचन्द्र जी डालमिया

को

सादर समर्पित है।

जनार्दन भट्ट।

प्रकाशक का निवेदन

साहित्य-रत्न-माला का यह तीसरा ग्रंथ "बौद्ध-कालीन भारत" पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करते हुए मुझे बहुत सन्तोष तथा आनन्द होता है। इस सन्तोष तथा आनन्द का कारण यह है कि मैंने ग्रंथों का जो आदर्श अपने सामने रखकर साहित्य-रत्न-माला का प्रकाशन आरंभ किया था, यह ग्रंथ भी, पहले दोनों ग्रंथों की भाँति, उस आदर्श के अनुरूप ही हुआ है। जैसा कि पाठकों को इसके अनुशीलन से विदित होगा, इसके सुयोग्य लेखक महोदय ने इसके लिखने में प्रशंसनीय परिश्रम किया है; और अपने प्रतिपाद्य विषय से सम्बन्ध रखनेवाली बहुत अधिक सामग्री का अच्छा उपयोग किया है। बौद्ध-कालीन भारत के संबंध की प्रायः सभी उपयोगी और ज्ञातव्य बातों का इसमें समावेश हुआ है—करीब करीब सभी बातें इसमें आ गई हैं।

यह ग्रंथ आज से प्रायः तीन साढ़े तीन वर्ष पहले लिखा गया था; पर दुःख के साथ कहना पड़ता है कि इतने दिनों में ऐसे अच्छे ग्रंथ को प्रकाशित करने के लिये कोई प्रकाशक ही न मिला। हिन्दी के प्रकाशकों और पाठकों के लिये यह एक प्रकार से लज्जा की ही बात है। मैं स्वयं अपने अनुभव से कह सकता हूँ कि हिन्दी में अच्छे ग्रंथों का उतना अधिक आदर नहीं होता, जितना होना चाहिए। पर साहित्य-रत्न-माला आर्थिक लाभ की दृष्टि से नहीं निकाली गई है। और इसी लिये जब यह ग्रंथ मेरे सामने आया, तब मैं तुरन्त ही इसे प्रकाशित करने के लिये तैयार हो गया। यद्यपि मुझे कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा और इस ग्रंथ की भाषा आदि ठीक करने में बहुत कुछ परिश्रम भी करना पड़ा,

तथापि आज इसे प्रकाशित करके मैं अपने आपको सफल-मनोरथ समझता हूँ। अब इसका आदर करना या न करना हिन्दी-संसार के हाथ है।

एक बात और है। यह ग्रंथ सन् १९२२ में लिखा गया था; और तब से अब तक इतिहास तथा पुरातत्त्व के क्षेत्रों में अनेक नई नई बातों का पता लगा है और बहुत सी नई नई खोजें हुई हैं। मैं अपने अल्प ज्ञान के अनुसार इसमें थोड़ा बहुत परिवर्त्तन और परिवर्द्धन करना चाहता था (और कहीं कहीं मैंने ऐसा किया भी है); पर अनेक कारणों से मेरी वह इच्छा सर्वांश में पूरी नहीं हो सकी, इसका मुझे दुःख है। उदाहरणार्थ पाटलिपुत्र की कुम्हराड़ (पटना) वाली खुदाई से जो अनेक नई बातें मालूम हुई हैं, उनका इसमें समावेश नहीं हो सका है। मालव सिक्कों पर जो "मपोजय" "मगज" "मजव" "मजुप" आदि कई निरर्थक जान पड़नेवाले शब्द मिलते हैं, उनके संबंध में श्रीयुक्त काशीप्रसादजी जायसवाल की उस आनुमानिक व्याख्या का भी इसमें उल्लेख हो जाना चाहिए था, जो उन्होंने अपने नव-प्रकाशित Hindu Polity नामक ग्रंथ के पहले खंड के परिशिष्ट में की है। परन्तु इस प्रकार की त्रुटियों का उत्तरदायी मैं हो सकता हूँ, इसके सुयोग्य लेखक महोदय नहीं। हाँ, यदि कभी सौभाग्यवश इस ग्रंथ के दूसरे संस्करण की नौबत आई—जिसके लिये कि मैं निराश नहीं हूँ—तो इन अभावों की पूर्त्ति अवश्य ही कर दी जायगी।

आशा है, हिन्दी-प्रेमियों में इस ग्रंथ का समुचित आदर होगा।

निवेदक
रामचंद्र वर्म्मा।

फाल्गुन शुक्ल ११
संवत् १९८२.

विषय-सूची

पहला अध्याय

बौद्ध-कालीन इतिहास की सामग्री

दूसरा अध्याय

बुद्ध के जन्म-समय में भारत की दशा

तीसरा अध्याय

जैन धर्म का प्राचीन इतिहास

चौथा अध्याय

गौतम बुद्ध की जीवनी

पाँचवाँ अध्याय

गौतम बुद्ध के सिद्धान्त और उपदेश

छठा अध्याय

बौद्ध संघ का इतिहास

सातवाँ अध्याय

प्राचीन बौद्ध काल का राजनीतिक इतिहास

आठवाँ अध्याय

प्राचीन बौद्ध काल के प्रजातन्त्र राज्य

नवाँ अध्याय

मौर्य साम्राज्य की शासन पद्धति

दसवाँ अध्याय

प्राचीन बौद्ध काल के राजनीतिक विचार

ग्यारहवाँ अध्याय

प्राचीन बौद्ध काल की सामाजिक अवस्था

बारहवाँ अध्याय

प्राचीन बौद्ध काल की सांपत्तिक अवस्था

तेरहवाँ अध्याय

प्राचीन बौद्ध काल का साहित्य

चौदहवाँ अध्याय

प्राचीन बौद्ध काल की शिल्प-कला

द्वितीय खण्ड

पहला अध्याय

राजनीतिक इतिहास

दूसरा अध्याय

प्रजातन्त्र या गण राज्य

तीसरा अध्याय

धार्मिक दशा

चौथा अध्याय

सामाजिक दशा

पाँचवाँ अध्याय

सांपत्तिक दशा

छठा अध्याय

साहित्यिक दशा

सातवाँ अध्याय

शिल्प कला की दशा

आठवाँ अध्याय

परिशिष्ट

प्राक्कथन

पं० जनार्दन भट्ट कृत यह ग्रंथ हिंदी भाषा के ऐतिहासिक साहित्य भांडार में उच्च स्थान ग्रहण करेगा। इस ग्रंथ के निर्माण में कितनी विद्वत्ता और कितने परिश्रम से काम लिया गया है, यह पाठकों को इसके पढ़ने से ही विदित होगा। प्रसिद्ध इतिहासकार गिबन का यह नियम था कि वह नई पुस्तक पढ़ने के पहले विचार कर लेता था कि इस विषय की मुझे कितनी जानकारी है। पढ़ने के बाद वह फिर विचार करता था कि अमुक पुस्तक से मैंने कितनी नई बातें सीखीं। यदि प्रस्तुत ग्रंथ के पाठक इस नियम का अवलम्बन करेंगे, तो उन पर इस ग्रंथ का महत्त्व अच्छी तरह प्रकट हो जायगा।

भारतवर्ष के इतिहास में बौद्ध युग अत्यंत उज्ज्वल और गौरवपूर्ण है। इस युग में धर्म, आचार, साहित्य, कला, उद्योग, व्यापार, राजनीतिक संघटन आदि सभी विषयों में देश ने आश्चर्यजनक उन्नति की थी। भारतीय इतिहास के अन्य युगों में, तथा वर्तमान युग में भी, एक गुण की कमी दिखाई देती है। हमारे देश ने संघटन शक्ति का यथोचित विकास नहीं किया। यदि दूसरों के सामने हमें कई बार सिर झुकाना पड़ा है, तो विद्या, बुद्धि या धन की कमी के कारण नहीं, किंतु संघटन की कमी के कारण ही। बौद्ध काल में देश ने राजनीतिक और साम्प्रदायिक संघटन का उत्तम

परिचय दिया था। उसी गुण के सहारे हमारे देश ने संसार पर प्रगाढ़ प्रभाव डाला था। आज भी स्याम, लंका, तिब्बत, चीन, जापान, मंगोलिया, कोरिया आदि देशों में बौद्ध धर्म माना जाता है। यद्यपि उन देशों की मानसिक और सामाजिक स्थिति ने बौद्ध धर्म का स्वरूप बहुत कुछ बदल दिया है, तथापि आज भी उनके मुख्य धार्मिक सिद्धान्तों और आचार शास्त्रों पर भारत की छाप स्पष्ट दिखाई देती है। उधर पश्चिमी एशिया मे पहुँचकर बौद्ध धर्म ने ईसाई धर्म के जन्म और सिद्धान्तों पर बहुत असर डाला। ईसाई इतिहास-कार यह बात स्वीकृत नहीं करते; पर पैलेस्टाइन के तत्कालीन धार्मिक पन्थों से बौद्ध धर्म का मिलान करने पर यह बात निर्विवाद रूप मे सिद्ध हो जाती है कि सम्राट् अशोक के भेजे हुए धर्म-प्रचारकों का श्रम व्यर्थ नहीं गया था।

वह ऐसा ही महत्वपूर्ण समय था, जिसका चित्र इस ग्रंथ मे खींचा गया है। सच्चा इतिहास केवल राजाओं के जन्म, मरण, तथा युद्धों की तिथियों का वर्णन नहीं है। सच्चे इतिहास-कार का कर्त्तव्य यह है कि वह भूत-पर्व राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक, धार्मिक, आर्थिक आदि सभी अवस्थाओं का सुसम्बद्ध वर्णन करे, परिवर्तनों का उल्लेख करे और उन के कारणों की खोज करे। भट्ट जी ने इस आदर्श तक पहुँचने की चेष्टा की है। आशा है कि शीघ्र ही आप भारतीय इतिहास के अन्य समयों की विवेचना भी इसी प्रणाली के अनुसार करेंगे।

प्रयाग विश्वविद्यालय।
२६—१२—१९२२

बेणीप्रसाद

भूमिका

प्राचीन भारत का इतिहास समय के अनुसार तीन बड़े बड़े भागों में बाँटा जा सकता है; यथा—(१) वैदिक काल; (२) बौद्ध काल; और (३) पौराणिक काल। वैदिक काल का प्रारंभ कब से हुआ, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। मैक्स-म्यूलर, विल्सन और ग्रिफिथ साहब ने वैदिक काल का प्रारंभ मोटे तौर पर ई० पू० २००० या १५०० वर्ष से, जैकोबी महाशय ने ई० पू० ४००० वर्ष से और तिलक महाराज ने ई० पू० ५००० या ४५०० वर्ष से माना है। वैदिक काल का प्रारंभ चाहे जब से हुआ हो, पर हम निश्चित रूप से इतना अवश्य कह सकते हैं कि वैदिक काल का अंत ई० पू० छठी शताब्दी में बौद्ध धर्म के उदय से होता है। अतएव भारतीय इतिहास का बौद्ध काल ई० पू० छठी शताब्दी से लेकर ईसा के बाद चौथी शताब्दी तक माना जाता है। इसके बाद गुप्त-वंशी राजाओं के समय में बौद्ध धर्म का ह्रास और पौराणिक धर्म का विकास होने लगता है। अतएव चौथी शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक, अर्थात मुसलमानों की विजय तक, पौराणिक काल कहा जाता है।

ईसा पूर्व छठी शताब्दी से लेकर ईसा के बाद चौथी शताब्दी तक, अर्थात् मोटे तौर पर १००० वर्ष का समय, भारतवर्ष के

इतिहास में, इसलिये बौद्ध काल कहलाता है कि इस काल में अन्य धर्मों की अपेक्षा बौद्ध धर्म की प्रधानता थी। इस काल में जितने बड़े बड़े राजा और सम्राट् हुए, वे प्रायः बौद्ध धर्मावलंबी ही थे। इस काल के जितने शिलालेख, मंदिरों और स्तूपों के जितने भग्नावशेष और जितनी मूर्तियाँ मिली हैं, वे अधिकतर बौद्ध धर्म संबंधी हैं। इस काल के शिलालेखों में जितने व्यक्तियों के नाम आये हैं, जितने देवी-देवताओं और दोनों के उल्लेख हुए हैं, उनमें से अधिकतर बौद्ध धर्म संबंधी हैं। इस काल के अधिकतर शिलालेख ब्राह्मणों की भाषा संस्कृत में नहीं, बल्कि जन साधारण की भाषा प्राकृत में हैं। पर इसके बाद गुप्त काल से लेकर अधिकतर शिलालेख संस्कृत में ही मिलते हैं। गुप्त काल के प्रारंभ से शिलालेखों में ब्राह्मणों, हिन्दू देवी-देवताओं, हिन्दू मंदिरों और यज्ञों का ही अधिकतर उल्लेख आता है। यहाँ तक कि पाँचवीं शताब्दी के तीन-चौथाई शिलालेख हिंदू धर्म संबंधी ही हैं। पर इससे यह न समझ लेना चाहिए कि बौद्ध काल में हिंदू या ब्राह्मण धर्म बिलकुल लुप्त हो गया था। उस समय भी यज्ञ आदि होते थे, पर अधिक नहीं। हिंदू देवी-देवताओं की पूजा भी प्रचलित थी, पर पहले की तरह नहीं। इसका प्रमाण पुष्यमित्र के अश्वमेध यज्ञ, बेसनगर के गरुड़-ध्वज, कैडफाइसिज़ द्वितीय तथा वासुदेव के सिक्कों और वासिष्क के मथुरावाले स्तूप-स्तंभ से मिलता है। तात्पर्य यह कि बौद्ध धर्म की प्रधानता होने के कारण ही यह काल "बौद्ध काल" के नाम से पुकारा जाता है।

इस काल का इतिहास दो प्रधान भागों में बाँटा जा सकता है। एक भाग में बुद्ध के जन्म-समय से लेकर मौर्य साम्राज्य के

अंत तक का इतिहास है; और दूसरे भाग मे मौर्य साम्राज्य के अंत से लेकर गुप्त साम्राज्य के पहले तक का इतिहास आता है। इसी लिये यह ग्रंथ भी दो खंडों में बाँटा गया है; और प्रत्येक खंड में उस समय की राजनीति, समाज, धर्म, संपत्ति, साहित्य, शिल्प-कला आदि का वर्णन यथासंभव विस्तारपूर्वक किया गया है। बौद्ध काल के दो विभाग इसलिये किये गये हैं कि पहले विभाग की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक दशा से दूसरे विभाग की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक दशा में बड़ा अंतर आ गया था।

इस ग्रंथ का उद्देश्य केवल उस समय के राजाओं और उनके कार्यों का ही वर्णन करना नहीं, बल्कि पाठकों के सामने तत्कालीन भारत के समाज, सभ्यता, साहित्य, शिल्प-कला आदि का चित्र रखना भी है। उस समय की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक और शिल्प-कला संबंधी दशा कैसी थी, यह पाठक-गण इस ग्रंथ से जान सकते हैं। इस ग्रंथ के लिखने में अपनी कल्पना से बहुत कम काम लिया गया है और कोई निराधार बात नहीं लिखी गई है। बौद्ध काल के संबंध में दूसरे लेखकों ने समय समय पर जो बातें लिखी हैं, और जो अब तक हमारे देखने आई हैं, उन्हीं को हमने इस ग्रंथ में एकत्र करने का प्रयत्न किया है। जहाँ जहाँ जिस लेखक या ग्रंथ से सहायता ली गई है, वहाँ वहाँ उसका उल्लेख भी कर दिया गया है। इस ग्रंथ के लिखने मे जिन लेखों और ग्रंथों से सहायता ली गई है, उन की एक सूची भी पुस्तक के प्रारंभ में दे दी गई है।

अंत में हम प्रयाग विश्वविद्यालय के इतिहासाचार्य प्रोफेसर

वेणीप्रसाद जी एम० ए० को धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकते। आपने इस पुस्तक के लिखने में जो सहायता दी है, उसके लिये हम आपके चिर-कृतज्ञ रहेंगे। यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि बिना आपकी सहायता के इस पुस्तक का लिखा जाना असंभव था। अनेक कार्यों के रहते हुए भी आपने यह पुस्तक पढ़कर इसमें कई स्थलों पर संशोधन और परिवर्तन किये हैं। इसके लिये हम आपको जितना धन्यवाद दें, थोड़ा है। अपने मित्र बा० नरेंद्र-देव एम० ए०, वाइस प्रिंसिपल, काशी विद्यापीठ, को भी हम धन्यवाद देते हैं। आपसे भी हमें इस पुस्तक के लिखने में बड़ी सहायता और उत्साह मिला है।

लेखक।

बौद्ध-कालीन भारत

प्रथम खण्ड

(बौद्ध काल के उदय से मौर्य साम्राज्य के अस्त तक)

साहित्य-रत्न-माला

में

सचमुच

केवल **रत्न** ही प्रकाशित होते हैं।

यदि आप पारखी होंगे,

तो अवश्य उसके स्थायी ग्राहक बनेंगे।
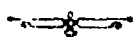
बौद्ध-कालीन भारत

पहला अध्याय

बौद्ध-कालीन इतिहास की सामग्री

बौद्ध-कालीन भारत के इतिहास की सामग्री मुख्यतया तीन भागों में बाँटी जा सकती है; यथा—(१) पाली और संस्कृत के ग्रन्थ, (२) विदेशी इतिहास-कारों और यात्रियों के ग्रन्थों में आये हुए भारत सम्बन्धी उल्लेख; और (३) शिलालेख तथा सिक्के आदि। पहले हम इन्हीं के सम्बन्ध में कुछ आवश्यक और उपयोगी बातें बतलाते हैं।

(१) पाली, प्राकृत और संस्कृत के ग्रंथ

जातक—बुद्ध के जन्म समय की तथा बुद्ध के जीवन-काल की भारतवर्ष की राजनीतिक, सामाजिक और सांपत्तिक दशा का बहुत कुछ विवरण जातक-कथाओं में मिलता है। जातक कथाएँ आजकल जिस रूप में मिलती हैं, उस रूप में वे कदाचित् इतनी पुरानी न हों, पर जिन घटनाओं का हवाला उनमें है, वे अवश्य ही ई० पू० छठी और पाँचवीं शताब्दी की हैं।

बौद्ध धर्म के प्राचीन ग्रंथ—त्रिपिटक नाम के पाली ग्रंथों से

बुद्ध भगवान् के समय की भारत की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक दशा का बहुत कुछ ज्ञान हो सकता है। आगे चलकर इन ग्रंथों का विस्तृत वर्णन किया जायगा। ये ग्रंथ कदाचित् बुद्ध के निर्वाण के कुछ ही समय बाद बने थे। इनमें हमें गौतम बुद्ध के बाद की कुछ शताब्दियों का प्रामाणिक इतिहास मिलता है। बौद्ध धर्म के अधिकतर पाली ग्रंथ लंका से प्राप्त हुए हैं। बौद्ध धर्म के अधिकतर संस्कृत ग्रंथ कनिष्क के समय के तथा उसके बाद के हैं। ये प्रायः पाली ग्रंथों के अनुवाद हैं, या उनके आधार पर लिखे गये हैं; और अधिकतर नेपाल, तिब्बत, चीन, जापान और चीनी तुर्किस्तान में पाये गये हैं।

जैन धर्म के सूत्र-ग्रंथ—जैन धर्म के सूत्र-ग्रंथ ईसा पूर्व तीसरी या चौथी शताब्दी के कहे जाते हैं; पर कदाचित् ये इससे भी पुराने हैं। इनमें प्राचीन बौद्ध काल के विषय में बहुत सी ऐतिहासिक बातें मालूम हुई हैं। ये ग्रंथ प्राचीन अर्ध-मागधी भाषा में हैं।

कौटिलीय अर्थ शास्त्र—चाणक्य अथवा कौटिल्य के अर्थशास्त्र से मौर्य साम्राज्य के शासन के सम्बन्ध में बहुत सी बहुमूल्य बातों का पता लगा है। कहा जाता है कि चाणक्य चंद्रगुप्त मौर्य का प्रधान मंत्री था। मेगास्थिनीज़ ने भारतवर्ष का जो वर्णन किया है, उसमें और अर्थ शास्त्र में लिखी हुई बातों में बहुत कुछ समानता है।

पतंजलि का महाभाष्य—पतंजलि शुंग वंशी राजा पुष्यमित्र के समकालीन थे। उनके महाभाष्य में जहाँ तहाँ उस समय का थोड़ा बहुत उल्लेख आया है।

पुराणों की राज-वंशावली—अठारह पुराणों में से पाँच पुराणों—वायु, मत्स्य, विष्णु, ब्रह्माण्ड और भागवत—में बौद्ध-कालीन राजाओं की क्रमबद्ध सूची दी गई है। बहुत से युरोपीय लेखक पुराणों मे दी हुई राजवंशों की सूची को प्रामाणिक नहीं मानते और पुराणों को बहुत प्राचीन नहीं समझते। पर पुराणों में दी हुई राज-वंशावलियों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने से बहुत सी ऐतिहासिक बात का पता लगता है। पुराण किसी न किसी रूप मे ई० पू० चौथी शताब्दी मे अवश्य वर्तमान थे; क्योंकि कौटिलीय अर्थ शास्त्र मे पुराण का उल्लेख आया है। बहुत से लोग पुराणों को और भी अधिक प्राचीन मानते हैं; और कुछ लोगों ने तो उपनिषदों तक में उनका उल्लेख ढूंढ़ निकाला है।

दीपवंश और महावंश—लंका के इन दो बौद्ध ग्रंथों में बौद्ध-कालीन राजवंशों और विशेषतः मौर्य वंश के संबंध की कई दंतकथाएँ लिखी हुई मिलती हैं। ये दोनों ग्रंथ पाली भाषा मे हैं। इनमे से "दीपवंश" कदाचित् ईसवी चौथी शताब्दी मे और "महावंश" कदाचित् ईसवी पाँचवीं शताब्दी में रचा गया था।

मुद्राराक्षस—मुद्राराक्षस से नन्द वंश और चंद्रगुप्त के बारे में बहुत कुछ पता लगता है। इसमे नन्द वंश के नाश, चंद्रगुप्त के राज्यारोहण तथा चाणक्य की कुटिल नीति का बहुत अच्छा वर्णन मिलता है। श्रीयुक्त काशीप्रसाद जी जायसवाल के मत से यह नाटक चंद्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) के समय में, अर्थात् पाँचवीं शताब्दी के प्रारंभ में, रचा गया था *। इस नाटक का रचना

---

* इन्डियन एन्टिक्वेरी, अक्तूबर १९१३, पृ० २६५-७.

काल चाहे जो हो, पर इसमें कोई संदेह नहीं कि इसके कथानक की घटनाएँ सच्ची हैं।

राजतरंगिणी—कश्मीर के कल्हण पंडित का रचा हुआ राज-तरंगिणी नामक ग्रंथ ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्व का है। संस्कृत साहित्य मे यही एक ऐसा ग्रंथ है, जिसे हम ठीक ठीक अर्थ मे इतिहास कह सकते हैं। इसका रचना-काल ईसवी बारहवीं शताब्दी है। इससे बौद्ध काल के संबंध की बहुत सी प्राचीन बातों का पता लगता है।

(२) विदेशी इतिहासकारों और यात्रियों के ग्रंथों में भारत के उल्लेख

सिकंदर के सम-कालीन यूनानी इतिहास-लेखक—सिकंदर के समय तक भारतवर्ष युरोप की दृष्टि से छिपा हुआ था। पहले पहल सिकंदर के आक्रमण से ही युरोप के साथ भारतवर्ष का संबंध हुआ। सिकंदर के साथ कई इतिहास-लेखक भी थे, जिन्होंने तत्कालीन भारत का वर्णन अपने इतिहास-ग्रंथों मे किया है। कई चीनी यात्रियों के यात्रा-विवरण भी इस संबंध में बहुत महत्व रखते हैं। यहाँ हम उनमें से कुछ मुख्य लेखकों का ही परिचय कराते हैं।

मेगास्थिनीज—सिकंदर की मृत्यु के लगभग बीस वर्ष बाद सीरिया और मिस्र के राजाओं ने मौर्य साम्राट् के दरबार में अपने अपने राजदूत भेजे थे। इन राजदूतों ने भारतवर्ष का जो वर्णन किया है, उसका कुछ भाग बहुत से यूनानी और रोमन लेखकों के ग्रंथों में उद्धृत किया हुआ मिलता है। इन राजदूतों में

सीरिया के राजा सेल्यूकस के राजदूत मेगास्थिनीज का नाम विशेष-तया उल्लेखनीय है। मेगास्थिनीज कई वर्षों तक चंद्रगुप्त मौर्य के दरबार में था। वहाँ रहकर उसने अपना समय भारत की तत्कालीन राजनीतिक तथा सामाजिक दशा का ऐतिहासिक विवरण लिखने में लगाया था। उसके वर्णन का केवल कुछ ही अंश—और वह भी दूसरों के ग्रंथों में—मिलता है।

एरियन—ईस्वी दूसरी शताब्दी में एरियन नाम का एक यूनानी-रोमन अफसर हो गया है। उसने भारतवर्ष का तथा सिकंदर के आक्रमण का बहुत अच्छा वर्णन किया है। उसने अपना इतिहास लिखने में सिकंदर के उच्च राज-कर्मचारियों के लिखे हुए वर्णनों और यूनानी राजदूतों के लेखों से बहुत कुछ सहायता ली है। ई० पू० चौथी शताब्दी का इतिहास जानने के लिये एरियन के ग्रंथ बहुत महत्व के हैं*।

फाहियान और ह्वेनत्सांग—फाहियान ई० पाँचवीं शताब्दी के प्रारंभ में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय और ह्वेनत्सांग ई० सातवीं शताब्दी में हर्ष के समय चीन से भारतवर्ष में यात्रा करने के लिये आये थे। उन्होंने तत्कालीन भारत का जो कुछ वर्णन

---

* यूनानी और रोमन इतिहास-लेखकों तथा यात्रियों ने भारत का जो कुछ वर्णन जहाँ जहाँ किया है, उसे एकत्र करके मि० मैक क्रिन्डिल ने निम्नलिखित ६ खंडों मे अनुवाद किया है–(1) Ktesias. (2) Indika of Megasthenes and Arrian. (3) Periplus of the Erythracan Sea. (4) Ptolemy's Geography (5) Alexander's Invasion. (6) Ancient India, as described by other Classical Writers.

किया है, वह तो किया ही है; साथ ही अपने से पूर्व काल की भी बहुत सी बातों का उल्लेख किया है, जिनसे बौद्ध काल का बहुत सा इतिहास विदित होता है।

(३) शिलालेख तथा सिक्के आदि

शिलालेख—बौद्ध काल का इतिहास जानने के लिये शिलालेखों से भी बहुत सहायता मिलती है। यदि अनेक राजाओं के शिलालेख अब तक सुरक्षित न रहते, तो बहुत से राजाओं के नामों और वंशों का पता भी हम लोगों को न लगता। इनमें से सब से अधिक महत्व के शिलालेख मौर्य सम्राट् अशोक के हैं। अशोक का अधिकतर इतिहास उसके शिलालेखों से ही जाना जाता है। कुल मिलाकर उसके तीस से अधिक शिलालेख हैं, जो चट्टानों, गुफाओं की दीवारों और स्तम्भों पर खुदे हुए मिलते हैं। अशोक के शिलालेख भारतवर्ष के भिन्न भिन्न भागों में, हिमालय से लेकर मैसूर तक और बंगाल की खाड़ी से लेकर अरब सागर तक, पाये जाते हैं। अशोक के पहले का कोई शिलालेख अब तक नहीं मिला है। अशोक के बाद बौद्ध काल के असंख्य शिलालेख भारतवर्ष में चारों ओर पाये गये हैं, जिनका उल्लेख यथा स्थान किया जायगा।

सिक्के—बौद्ध काल के इतिहास की खोज में सिक्कों का महत्व अन्य ऐतिहासिक सामग्री से कुछ कम नहीं है। सिक्कों की सहायता से बौद्ध काल के कई अंधकाराच्छन्न भागों का क्रमबद्ध और विस्तृत इतिहास लिखा जा सकता है। प्राचीन भारतवर्ष के यूनानी (इंडो-

ग्रीक) तथा पार्थिव (इंडो-पार्थियन) राजाओं का इतिहास तो केवल सिक्कों के ही आधार पर प्रस्तुत किया गया है।

प्राचीन बौद्ध स्थानों के भग्नावशेष और मूर्तियाँ—प्राचीन बौद्ध स्थानों के भग्नावशेषों में बौद्ध काल का राजनीतिक इतिहास जानने में कुछ विशेष सहायता नहीं मिलती; पर हाँ, उनसे उस समय की गृह-निर्माण-कला का बहुत कुछ पता अवश्य लगता है। इसी प्रकार बौद्ध काल की मूर्तियाँ देखने से उस समय की शिल्प-कला, समाज तथा धर्म का भी कुछ कुछ ज्ञान अवश्य हो जाता है।

इसी सामग्री के आधार पर आगे के अध्यायों में बौद्ध काल का राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक तथा शिल्प-कला संबंधी इतिहास पाठकों के सामने रखने का प्रयत्न किया जायगा।

दूसरा अध्याय

बुद्ध के जन्म-समय में भारत की दशा

संसार के इतिहास में ई० पू० छठी शताब्दी चिर-स्मरणीय है। इसी शताब्दी के लगभग भारत में भगवान् बुद्ध का, चीन में कनफूची का और ईरान मे ज़रतुश्त का जन्म हुआ था। उस समय सब ओर लोगों के मन में नई नई शंकाएँ और नये नये विचार उत्पन्न हो रहे थे। उन दिनों प्रचलित धर्म के प्रति असंतोष और अविश्वास फैला हुआ था। लोग नये नये भावों और विचारों से प्रेरित होकर परिवर्तन के लिये लालायित हो रहे थे। वे एक ऐसे पुरुष की प्रतीक्षा कर रहे थे, जो अपने गम्भीर विचारों से उनकी शंकाओं का समाधान करता, जो अपने सदुपदेश से उनकी आत्मिक पिपासा शांत करता और जो उनके सामने एक ऊँचा आदर्श रखकर उनके जीवन को उन्नत करता। जब समाज की ऐसी दशा होती है, तब किसी महापुरुष का जन्म या अवतार अवश्य होता है। वह समाज के सामने अपने जीवन का आदर्श रखता है। उस समय के लोगों की आशाएँ और अभिलाषाएँ उसमें प्रतिबिंबित होती हैं। वह अपने समय के लोगों का मूर्तिमान आदर्श होता है। अतएव किसी महापुरुष के जीवन और महत्व को ठीक ठीक समझने के लिये यह आवश्यक है कि पहले हम तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक दशा से पूरी

तरह परिचित हो जायँ। किसी महापुरुष को उसके समय से अलग करके देखिये, तो उसका जीवन बहुत कुछ अर्थ-रहित मालूम पड़ेगा और उसके काम निरर्थक प्रतीत होंगे। इसलिये यदि हम भगवान् बुद्ध के जीवन को ठीक ठीक समझना चाहते हों, तो यह आवश्यक है कि हम अच्छी तरह से यह जान लें कि उनके समय में भारत की क्या दशा थी। इसी उद्देश्य से यहाँ बुद्ध के जन्म-समय की भारत की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक दशा का कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

राजनीतिक दशा

उस समय भारतवर्ष तीन बड़े बड़े भागों में बँटा हुआ था। इनमें से बीचवाला भाग "मज्झिम देश" (मध्य देश) कहलाता था। जातकों में अनेक स्थानों में "मज्झिम देश" का उल्लेख आया है; पर इन उल्लेखों से यह पता नहीं लगता कि मध्य देश कहाँ से कहाँ तक था। हाँ, मनुस्मृति अध्याय २, श्लो० २१ में निश्चित रूप से मध्य देश की सीमा लिखी हुई है। उसमें लिखा है—"हिमालय और विंध्याचल के बीच तथा सरस्वती नदी के पूर्व और प्रयाग के पश्चिम में जो देश है, उसे मध्य देश कहते हैं"। इस मध्य देश के उत्तर का भाग उत्तरापथ तथा दक्षिण का भाग दक्षिणापथ कहलाता था। इस प्रकार कुल देश तीन बड़े बड़े प्रदेशों में बँटा हुआ था। अब आइये, देखें कि उस समय की राजनीतिक दशा कैसी थी।

उस समय देश में सोलह राज्य (षोड़श महाजनपद) थे,

जिनके नाम नीचे लिखे जाते हैं—

(१) अंगा (अंग-राज्य)	(९) कुरू (कुरु-राज्य)
(२) मगधा (मगध-राज्य)	(१०) पंचाला (पंचाल-राज्य)
(३) काशी (काशी-राज्य)	(११) मच्छा (मत्स्य-राज्य)
(४) कोसला (कोशल-राज्य)	(१२) सूरसेना (शूरसेन-राज्य)
(५) वज्जी (वृजियों का राज्य)	(१३) अस्सका (अश्मक-राज्य)
(६) मल्ला (मल्लों का राज्य)	(१४) अवन्ती (अवन्ति-राज्य)
(७) चेती (चेदि-राज्य)	(१५) गन्धारा (गान्धार-राज्य)
(८) वंसा (वत्स-राज्य)	(१६) कम्बोजा (कम्बोज-राज्य)

ऊपर जिन राज्यों की सूची दी गई है, उनके संबंध में ध्यान देने लायक पहली बात यह है कि वे देशों के नाम नहीं, बल्कि जातियों के नाम हैं। बाद को इन्हीं जातियों के नाम पर देशों का नाम भी पड़ गया था। दूसरी बात यह है कि इनमें से "वज्जी" और "मल्ला" ये दोनों जाति के नाम नहीं, बल्कि कुल के नाम थे। तीसरी बात यह है कि इनके ऊपर, या इनसे बढ़कर, कोई शक्ति ऐसी न थी जो इन पर अपना आतंक जमा सकती या इन को एक साम्राज्य के अन्दर ला सकती। इनमें से प्रत्येक का वर्णन नीचे दिया जाता है—

(१) अंगों का राज्य—अंग-राज्य, मगध-राज्य के बिलकुल बगल में था। दोनों राज्यों के बीच केवल एक नदी का अन्तर था। इस नदी का नाम "चंपा" था। इसी नदी पर चंपा नगरी बसी हुई थी, जो अंग-राज्य की राजधानी थी। प्राचीन चंपा नगरी वर्तमान भागलपुर के निकट थी। अंग पहले स्वतंत्र राज्य था;

पर बाद को वह मगध की अधीनता में चला गया था।

(२) मगधों का राज्य—मगध-राज्य वर्तमान जिला बिहार के स्थान पर था। इसकी उत्तरी सीमा कदाचित् गंगा नदी, पूर्वी सीमा चंपा नदी, दक्षिणी सीमा विंध्य पर्वत और पश्चिमी सीमा सोन नदी थी। इसकी राजधानी राजगृह (वर्तमान राजगिर) थी। राजगृह के दो भाग थे। इसका प्राचीन भाग गिरिव्रज कहलाता था। गिरिव्रज एक पहाड़ी पर बसा हुआ था। बाद को राजा बिंबिसार ने, जो बुद्ध भगवान् के समकालीन थे, इस प्राचीन नगर को उजाड़कर एक नये राजगृह की नींव डाली। नवीन राजगृह पहाड़ी के नीचे बसाया गया। बुद्ध के निर्वाण के बाद मगध की राजधानी राजगृह से हटाकर पाटलिपुत्र में स्थापित की गई थी।

(३) काशी का राज्य—बुद्ध के जन्म से पहले "कासी रट्ठ" (काशी-राष्ट्र) बिलकुल स्वतंत्र था; पर बुद्ध-जन्म के बाद यह राज्य कोशल-राज्य में मिला लिया गया था। काशी-राष्ट्र की राजधानी वाराणसी (बनारस) थी। काशी उस समय नगर का नाम नहीं, बल्कि राज्य का नाम था। जातकों में लिखा है कि उस समय इस राज्य का विस्तार दो हजार वर्ग मील था।

(४) कोशलों का राज्य—कोशल-राज्य की राजधानी "सावत्थी" (श्रावस्ती) थी। प्राचीन श्रावस्ती नगर वर्तमान गोंडा और बहराइच जिलों की सीमा पर सहेथ महेथ नामक ग्राम के स्थान पर था। कोशल राज्य का एक दूसरा प्रधान नगर साकेत था। जातकों से पता लगता है कि बुद्ध के कुछ पहले कोशल की राजधानी साकेत हो गई थी।

(५) **वृजियों का राज्य**—वृजी-राज्य में प्रायः आठ स्वतंत्र राज-कुल मिले हुए थे। उनमें से "लिच्छवि" और "विदेह" राज-कुलों की प्रधानता थी। वृजियों की राजधानी "वेसालि" (वैशाली) थी, जी वर्तमान मुजफ्फरपुर जिले के बसाढ़ नामक स्थान पर थी।

(६) **मल्लों का राज्य**—चीनी यात्री ह्वेनत्सांग के अनुसार यह पहाड़ी राज्य शाक्य-राज्य के पूर्व और वृजी-राज्य के उत्तर में था। पर कुछ लोगों का मत है कि यह राज्य वृजी के पूर्व और शाक्यों के दक्षिण में था।

(७) **चेदियों का राज्य**—जातकों मे "चेतिय-रट्ठ" या "चेत-रट्ठ" का उल्लेख आया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि "चेतिय" या "चेत" संस्कृत के "चैद्य" या "चेदि" का अपभ्रंश है। चेदि-राज्य मोटे तौर पर वर्तमान बुन्देलखण्ड के स्थान पर था।

(८) **वत्सों का राज्य**—वत्स-राज्य की राजधानी कौशांबी थी। प्राचीन कौशांबी नगरी प्रयाग मे प्राय ३० मील दूर दक्षिण की ओर यमुना नदी के किनारे पर वर्तमान कोसम ग्राम के पास थी। यह राज्य अवंती राज्य के उत्तर मे था।

(९) **कुरुओं का राज्य**—कुरु-राज्य की राजधानी दिल्ली के पास "इंदपट्ट" (इंद्रप्रस्थ) नगर में थी। इस राज्य के पूर्व में पंचाल-राज्य और दक्षिण में मत्स्य-राज्य था। इस राज्य के उत्तर-कुरु और दक्षिण-कुरु नाम के दो विभाग थे। कुरु-राज्य का फैलाव २००० वर्ग मील था।

(१०) **पंचालों का राज्य**—पंचाल-राज्य भी दो थे—एक उत्तर-पंचाल और दूसरा दक्षिण-पंचाल। पंचाल-राज्य कुरु राज्य के पूर्व में पहाड़ और गंगा के बीच मे था। उत्तरी पंचाल की

राजधानी "कंपिल्ल" (कांपिल्य) और दक्षिणी पंचाल की राजधानी कन्नौज थी। प्राचीन कांपिल्य नगर कदाचित् गंगा के किनारे वर्तमान बदाऊँ और फर्रुखाबाद के बीच में था।

(११) **मत्स्यों का राज्य**—महाभारत के समय में मत्स्य राज्य राजा विराट के अधिकार में था। वर्तमान अलवर, जयपुर और भरतपुर के कुछ हिस्से प्राचीन मत्स्य-राज्य में थे। राजा विराट की राजधानी जयपुर रियासत में कदाचित् बैराट नामक स्थान में थी।

(१२) **शूरसेनों का राज्य**—शूरसेन-राज्य की राजधानी यमुना नदी के किनारे पर प्राचीन "मधुरा" (मथुरा) नगरी थी। मनुस्मृति (अध्या० २, श्लो० १९) में लिखा है—"कुरुक्षेत्र और मत्स्य देश तथा पंचाल और शूरसेन सब मिलकर ब्रह्मर्षि-देश कहलाते हैं।"

(१३) **अश्मकों का राज्य**—अश्मक-राज्य गोदावरी नदी के किनारे पर था और इसकी राजधानी पोतन या पोतली थी।

(१४) **अवन्तियों का राज्य**—अवन्ति-राज्य के दो विभाग थे। इसका उत्तरी भाग केवल "अवन्ति" कहलाता था और उसकी राजधानी उज्जयिनी थी; और इसका दक्षिणी भाग अवंति-दक्षिणापथ कहलाता था और उसकी राजधानी माहिस्सती (माहिष्मती) थी।

(१५) **गंधारों का राज्य**—गंधार-राज्य में पश्चिमी पंजाब और पूर्वी अफ़गानिस्तान शामिल था। इसकी राजधानी तक्कसिला (तक्षशिला) थी। प्राचीन तक्षशिला नगरी आजकल के रावलपिंडी ज़िले के सराय काला नामक स्टेशन के पास थी।

(१६) **कंबोजों का राज्य**—प्राचीन कंबोज-राज्य कहाँ था, इसका निश्चय अभी तक नहीं हुआ है। एक मत यह है कि उत्तरी हिमालय के लोग कंबोज थे। दूसरा मत यह है कि तिब्बत के लोग कंबोज थे। पर बुद्ध-जन्म के समय वे कदाचित् सिंध नदी के बिलकुल उत्तर-पश्चिम में बसे हुए थे। प्राचीन ईरानी शिलालेखों में जिन "कंबुज्जिय" लोगों का उल्लेख आया है, वे कदाचित् यही "कंबोज" थे।

जिस समय का हाल हम लिख रहे हैं, उस समय अर्थात् ई० पू० छठी शताब्दी में आर्यावर्त इन्हीं छोटे छोटे स्वतंत्र राज्यों में बँटा हुआ था। ये अक्सर आपस में लड़ा भी करते थे। उस समय कोई ऐसा साम्राज्य या बड़ा राज्य न था, जो इन सब को अपने अधिकार में रखता। लोगो मे राजनीतिक स्वतंत्रता का भाव प्रबलता के साथ फैला हुआ था। कोई उनकी स्वतंत्रता मे बाधा डालनेवाला न था। प्रत्येक गाँव और प्रत्येक नगर अपना प्रबंध अपने आप करता था। सारांश यह है कि उस समय सब ग्राम और सब नगर एक तरह के छोटे मोटे प्रजा-तंत्र राज्य थे। उस समय उत्तरी भारत में कई प्रजातंत्र राज्य भी थे, जिनमे से मुख्य ये थे—(१) **शाक्यों** का प्रजातंत्र राज्य; (२) **भग्गों** का प्रजातंत्र राज्य; (३) **बुलियों** का प्रजातन्त्र राज्य; (४) **कालामों** का प्रजातन्त्र राज्य; (५) **कोलियों** का प्रजातंत्र राज्य; (६) **मल्लों** का प्रजातंत्र राज्य; (७) **मौर्यों** का प्रजातंत्र राज्य; (८) **विदेहों** का प्रजातंत्र राज्य; और (९) **लिच्छवियों** का प्रजातंत्र राज्य। इन प्रजातंत्र राज्यों मे सब से अधिक प्रभुत्व शाक्यों, विदेहों और लिच्छवियो का था। बुद्ध के जीवन पर इन

प्रजातंत्र राज्यों का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा था। गौतम बुद्ध शाक्यों के प्रजातन्त्र-राज्य में पैदा हुए थे। उनके पिता शुद्धोदन इसी प्रजातंत्र राज्य के एक सभापति या प्रधान थे। गौतम बुद्ध ने स्वाधीन विचार, संघटन शक्ति और एकता की शिक्षा यहीं प्राप्त की थी। बुद्ध भगवान् ने अपने भिक्षु-संघ का संघटन भी इन्हीं प्रजातंत्र राज्यों के आदर्श पर किया था। इन प्रजातंत्र राज्यों का सविस्तर वर्णन आगे चलकर किया जायगा।

सामाजिक दशा

बुद्ध के पहले ही आर्यों में जाति-भेद बहुत बढ़ गया था। हमारे यहाँ आजकल जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र होते है, वैसे ही चार वर्ण उस समय भी थे। इन चारों वर्णों में, राइज़ डेविड्स के अनुसार, क्षत्रिय लोग सब से श्रेष्ठ थे और उन्हीं का मान सब से अधिक था *। उनके बाद ब्राह्मणों का दरजा था; और ब्राह्मणों के बाद वैश्यों तथा शूद्रों का। समाज में क्षत्रियों की मर्यादा सब से बढ़ी चढ़ी थी। इस मत की पुष्टि में राइज़ डेविड्स बौद्ध और जैन ग्रंथों का प्रमाण देते हैं। वे ब्राह्मणों के लिखे हुए ग्रंथों को प्रामाणिक नहीं मानते; क्योंकि उनके मत से ब्राह्मणों ने अपने स्वार्थ और प्रशंसा के लिये अपने ही गुण गाये हैं और अपने को चारों वर्णों में सब से श्रेष्ठ बतलाया है। अतएव राइज़ डेविड्स का मत है कि वर्ण-व्यवस्था के बारे में

* राइज़ डेविडस कृत "बुद्धिस्ट इंडिया" (Budhist India) पृ० ५२, ६०, ६१.

जो कुछ ब्राह्मणों के ग्रंथों में लिखा है, वह कदापि माना नहीं जा सकता।

मालूम होता है कि छठी या सातवीं शताब्दी में ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बीच बहुत द्वेष उत्पन्न हो गया था। वे एक दूसरे से आगे बढ़ जाना चाहते थे। इसी कारण बौद्ध तथा जैन ग्रंथों में, जो ब्राह्मणों के विरुद्ध और क्षत्रियों के पक्ष में थे, ब्राह्मणों का स्थान क्षत्रियों के नीचे रक्खा गया है और उनका उल्लेख अपमान तथा नीचता-सूचक शब्दो में किया गया है। यह भी मालूम होता है कि उस समय क्षत्रिय लोग विद्या, ज्ञान और तप में ब्राह्मणो का मुकाबला करने लगे थे और उनसे आगे निकल जाना चाहते थे। क्षत्रियों की तुलना में ब्राह्मणों की हीनता दिखाने के लिये जैन कल्प-सूत्र मे लिखा है कि अर्हत इत्यादि नीच जाति या ब्राह्मण जाति मे कभी जन्म ग्रहण नहीं कर सकते। अर्हत, तीर्थंकर या बुद्ध का अवतार सदा क्षत्रिय वंश में हुआ है और होगा। ऐसी अवस्था में बौद्ध तथा जैन ग्रंथो को बिलकुल सत्य मान लेना उचित नहीं मालूम होता।

इन चारों वर्णों को छोड़कर और बहुत सी ऐसी जातियों का भी पता जातकों से लगता है, जो शूद्रों से भी हीन समझी जाती थी। इनको "हीन-जातियो" कहते थे। ऐसे लोग बहेलिये, नाई, कुम्हार, जुलाहे, चमार इत्यादि थे। जातकों से पता लगता है कि उस समय अछूत जातियाँ भी थीं; और उनके साथ बुरा बर्ताव किया जाता था। "चित्त-संभूत जातक" में लिखा है कि जब ब्राह्मण और वैश्य वंश की दो स्त्रियाँ एक नगर के फाटक से निकल रही थीं, तब उन्हें रास्ते में दो चांडाल दिखाई

पड़े। चांडाल के दर्शन को उन्होंने बड़ा अशकुन समझा और वे घर लौट गईं। घर जाकर उन्होंने उस दर्शन के पाप को मिटाने के लिये अपनी आँखें धो डालीं। इसके बाद लोगों ने उन दोनों चांडालों को खूब पीटा और उनकी खूब दुर्गति की। "मातंग जातक" तथा "सतधम्म जातक" से भी पता लगता है कि अछूत जातियों के साथ अच्छा बर्ताव नहीं किया जाता था। बुद्ध के दयापूर्ण हृदय में इस सामाजिक अन्याय के प्रति अवश्य घृणा का भाव उत्पन्न हुआ होगा। इसी अन्याय को दूर करने के लिये उन्होंने ऊँच नीच के भेद को बिलकुल त्याग दिया; और अपने धर्म तथा संघ का द्वार सब वर्णों तथा सब जातियों के लिये समान रूप से खोल दिया।

जातकों से यह भी पता लगता है कि बौद्ध काल के पूर्व एक वर्ण दूसरे वर्ण के साथ विवाह और भोजन कर सकता था। इस तरह के विवाह से जो संतान उत्पन्न होती थी, वह अपने पिता के वर्ण की समझी जाती थी। जातकों से ही यह भी पता लगता है कि दूसरे वर्ण में विवाह करने की अपेक्षा अपने वर्ण में विवाह करना अच्छा समझा जाता था। पर एक ही गोत्र में विवाह करना निषिद्ध माना जाता था *।

जातकों से यह भी प्रकट होता है कि बौद्ध काल के पहले सब वर्णों और जातियों के मनुष्य अपने से इतर वर्ण और इतर जाति का भी काम करने लगे थे। ब्राह्मण लोग व्यापार भी करते थे। वे कपड़ा बुनते हुए, पहिये आदि बनाते हुए और

---

* देखो—"भद्दसाल जातक," "कुम्मासपिण्ड जातक" और "उद्दालक जातक"।

खेती-बारी करते हुए लिखे गये हैं। क्षत्रिय लोग भी व्यापार करते थे। एक क्षत्रिय के बारे में लिखा है कि उसने कुम्हार, माली और पाचक के काम किये थे। तो भी इन लोगों की जातियों मे कोई अंतर नहीं हुआ था। यही उस समय की सामाजिक दशा थी। अब तत्कालीन धार्मिक दशा का वर्णन किया जाता है।

धार्मिक दशा

यज्ञ और बलिदान—बुद्ध के जन्म के समय धर्म की बड़ी बुरी दशा थी। उस समय पशु-यज्ञ पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ था। निरपराध, दीन, असहाय पशुओं के रुधिर से यज्ञ-वेदी लाल की जाती थी। यह पशु-बध इसलिये किया जाता था कि जिसमें यजमान की मनोकामना पूरी हो। पुरोहित लोग यजमानो से यज्ञ कराने के लिये सदैव तत्पर रहते थे। यही उनकी जीविका का मुख्य द्वार था। विना दक्षिणा के यज्ञ अपूर्ण और निष्फल समझा जाता था; अतएव ब्राह्मणों को इन यज्ञों और बलिदानो से बड़ा लाभ होता था। जन्म से लेकर मरण पर्यंत प्रत्येक संस्कार के साथ यज्ञ होना अनिवार्य था। कर्म-कांड का पूर्ण रूप से और सार्वभौमिक प्रसार था। समाज बाह्याडम्बर में फँसा हुआ था; पर उसकी आत्मा घोर अंधकार में पड़ी हुई प्रकाश के लिये पुकार रही थी। किंतु कोई यह पुकार सुननेवाला न था। समाज पर इस यज्ञ-प्रथा का बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ता था। एक तो यज्ञो में जो पशु-बध होता था, उससे मनुष्यों के हृदय कठोर और निर्दय होते जा रहे थे और

उनमें से जीवन के महत्त्व का भाव उठता जा रहा था—लोग आत्मिक जीवन का गौरव भूलने लगे थे। इस यज्ञ-प्रथा का दूसरा बुरा प्रभाव यह था कि मनुष्यों में जड़ पदार्थ की महिमा बहुत बढ़ गई थी। लोग बाह्य बातों को ही अपने जीवन में सब से श्रेष्ठ स्थान देते थे। यज्ञ करना और कराना ही सब से उच्च धर्म और सब से बड़ा कार्य गिना जाने लगा था। आत्मा की वास्तिविक उन्नति की ओर लोग उपेक्षा से देखते थे। लोगों में यह विश्वास फैला हुआ था कि यज्ञ करने से पुराने किये हुए बुरे कर्मों का दोप नष्ट हो जाता है। ऐसी हालत में समाज में पवित्र आचरण और आत्मिक उन्नति का गौरव भला कब रह सकता था!

इसके अतिरिक्त यज्ञ करने में बहुत धन व्यय होता था। ब्राह्मणों को बड़ी बड़ी दक्षिणाएँ दी जाती थीं। बहुमूल्य वस्त्र, गौएँ, घोड़े और सुवर्ण इत्यादि दक्षिणा के तौर पर दिये जाते थे। कुछ यज्ञ तो ऐसे थे, जिनमे साल साल भर लग जाता था और जिनमें सहस्त्रों ब्राह्मणो की आवश्यकता होती थी। अतएव यज्ञ करना और उसके द्वारा यश प्राप्त करना हर किसी का काम न था। केवल धनवान् ही यज्ञ करने का साहस कर सकते थे। इसलिये विचार-प्रवाह कर्म-कांड के विरुद्ध बहने लगा और लोग आत्मिक शान्ति प्राप्त करने के लिये नये उपाय सोचने लगे।

हठ योग और तपस्या—आत्मिक शांति प्राप्त करने के उपायों मे से एक उपाय हठ योग भी था। लोगो का यह विश्वास था कि कठिन तपस्या करने से हमें ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त हो सकती है। आत्मिक उन्नति करने अथवा प्रकृति पर विजय पाने के लिये

लोग अनेक प्रकार की तपस्याओं के द्वारा अपनी काया को कष्ट पहुँचाते थे। इन्द्रियों पर विजय पाने के लिये पंचाग्नि तापना, एक टाँग से खड़े होकर और एक हाथ उठाकर तपस्या करना, महीनों तक कठिन से कठिन उपवास करना और इसी तरह की दूसरी तपस्याएँ आवश्यक समझी जाती थीं। सरदी और गरमी का कुछ खयाल न करके ये लोग अपने उद्देश्य की सिद्धि में दत्त-चित्त रहते थे। इन लोगो को कठिन से कठिन शारीरिक दुःख से भी क्लेश न होता था। इनका अभ्यास इतना बढ़ा चढ़ा होता था कि इनमें से कुछ तपस्वी अपने सिर तथा दाढ़ी मूँछ के बालों को हाथ से नोच नोचकर फेंक देते थे। लोगों मे यह विश्वास बहुत जोरो के साथ फैला हुआ था कि यदि इस तरह की तपस्या पूर्ण रूप से की जाय, तो मनुष्य सारे विश्व का भी साम्राज्य पा सकता है। बुद्ध भगवान् के जन्म समय में पूर्वोक्त तामसी तप की महिमा खूब फैली हुई थी। भगवान् बुद्धदेव ने स्वयं लगभग छः वर्षों तक इसी हठयोग का कठिन व्रत धारण किया था। पर जब उनको इसकी निस्सारता का विश्वास हो गया, तब वे इसे छोड़कर सत्य ज्ञान की खोज में चल पड़े थे।

ज्ञान-मार्ग और दार्शनिक विचार—पर आत्मिक उन्नति चाहनेवाले पुरुषों की आत्मा को न तो कर्म-कारण्ड से ही शांति मिली और न हठ योग या तपस्या से ही परमानंद की प्राप्ति हुई। ऐसे लोगों को समाज का बनावटी और झूठा जीवन कष्ट देने लगा। सत्य के इन अन्वेषकों ने अपने घर-बार और इस असत्य संसार से मुँह मोड़कर बन की ओर प्रस्थान किया। बुद्ध भगवान् के अवतार लेने के पहले, और उनके समय में भी,

बहुत से भिक्षु, साधु, संन्यासी, वैखानस, परिव्राजक आदि एक जगह से दूसरी जगह विचरा करते थे। लोगों में इनका बहुत अधिक मान था। उस समय के लोग आतिथ्य-सेवा करना बहुत अच्छी तरह जानते थे। अतएव इन परिव्राजकों के ठहरने के लिये राजे-महराजे तथा धनी पुरुष बस्ती के बाहर अच्छे अच्छे आश्रम बनवा देते थे। बहुत से स्थानों में उन आश्रमों का प्रबंध पंचायती चंदे से भी होता था। विचरते हुए परिव्राजक इन आश्रमों में आ ठहरते थे। लोग उनके भोजन आदि का प्रबंध पूर्ण रूप से कर देते थे। नित्य प्रति लोग इन परिव्राजकों के दर्शन करने के लिये वहाँ जाते थे और दार्शनिक तथा धार्मिक विषयों पर इनके विचार सुनते थे। यदि वहाँ उसी समय और भी कोई परिव्राजक ठहरे होते थे, तो प्रायः शास्त्रार्थ भी छिड़ जाता था। वे पूर्ण स्वतंत्रता के साथ अपने विचार प्रकट करते थे। स्त्री और पुरुष दोनो परिव्राजिका और परिव्राजक हो सकते थे। प्रचलित संस्थाओं के प्रति इन लोगों में कोई विशेष प्रेम न था। उनमें से बहुतों ने तो प्रचलित धर्म से असंतुष्ट होकर ही घर-बाड़ छोड़कर संन्यासाश्रम ग्रहण किया था; इसलिये वे प्रचलित धर्म का प्रतिपादन और समर्थन न करते थे। प्रचलित धर्म और प्रचलित प्रणाली की त्रुटियों से असंतुष्ट होने के कारण ही ये लोग चारों तरफ इन संस्थाओं की बुराइयाँ प्रकट करते थे और तत्कालीन समाज की खुले तौर पर समालोचना करते थे। वे सर्व साधारण में प्रचलित धर्म की ओर अश्रद्धा तथा असंतोष उत्पन्न कर रहे थे और उनके विश्वासों की जड़ धीरे धीरे कमज़ोर करते जाते थे। इस प्रकार प्रचलित धर्म की जड़

हिलने लगी। इन परिव्राजकों ने धीरे धीरे नये विचारों का बीज बोने के लिये क्षेत्र तैयार कर दिया था। पर अभी बीज बोने-वाले की कमी थी; और लोग उसी की प्रतीक्षा कर रहे थे।

बुद्ध-जन्म के पहले प्राचीन उपनिषद् भी लिखे जा चुके थे। उपनिषदों के बनानेवालों ने यह विचारने का प्रयत्न किया था कि सब जीवित तथा निर्जीव वस्तुएँ एक ही सर्वव्यापी ईश्वर से उत्पन्न हुई हैं और वे सब एक ही सर्वव्यापी आत्मा के अंश हैं। इन उपनिषदों में कर्म की अपेक्षा ज्ञान की प्रधानता दिखाई गई थी। उनमें ज्ञान के द्वारा अज्ञान का नाश और मोह से निवृत्ति बत-लाई गई थी। उनमें पुनर्जन्म का भी अनुमान किया गया था। अज्ञान, जीव के सुख-दुःख के कारण, परमात्मा की सत्ता और आत्मा-परमात्मा का संबंध आदि सब विषयों पर बहुत ही बुद्धिमत्ता के साथ गूढ़ विचार किया गया था। धीरे धीरे उप-निषदों का अनुशीलन करनेवालों की संख्या बढ़ने लगी। उनमें प्रतिपादित विचारों का अध्ययन और मनन होने लगा। किसी ने उपनिषदों में अद्वैतवाद पाया, तो किसी ने उनमें से विशिष्टा-द्वैत निकाला। इसी तरह अनेक प्रकार के मत-मतांतर हो गये और भिन्न भिन्न शास्त्रों का प्रादुर्भाव हुआ। वर्तमान षड्दर्शन उस समय के आचार्यों की व्याख्याएँ हैं। जिन बहुत सी व्याख्याओं में परस्पर अधिक विरोध न था, उनमें से बहुतों का नाश हो गया। कहा जाता है कि पहले कम से कम ७८ प्रकार के दार्शनिक संप्रदाय थे; पर मुख्य यही छः थे। भिन्न भिन्न आचार्य सृष्टि के रहस्य का पृथक् पृथक् रूप के उद्घाटन करते थे। पर इन सब से प्रबल दो तरह के सिद्धान्त थे। एक सिद्धान्त सांख्य का था, जो आत्मा और

प्रकृति में भेद मानता था। दूसरा सिद्धान्त सांख्य के विरुद्ध था। यही दूसरा सिद्धान्त विकसित रूप में वेदान्त के नाम से प्रचलित हुआ था। अस्तु; बुद्धदेव के समय तक दार्शनिक विचार परिपक्व हो चुके थे। पर बहुतेरे वेदान्ती, भिक्षु, संन्यासी और परिव्राजक आत्मा, परमात्मा, माया और प्रकृति संबंधी शुष्क वितण्डा-वाद में ही फँसे हुए थे।

इस तरह से बुद्ध के जन्म-समय में (१) यज्ञ और बलिदान, (२) हठयोग और तपस्या तथा (३) ज्ञान-मार्ग और दार्शनिक विचार, ये तीन मुख्य धाराएँ बड़ी प्रबलता से बह रही थीं। पर सतह के नीचे और भी बहुत सी छोटी छोटी धाराएँ थीं। जैसे, टोने-टोटके का लोगों में बहुत रिवाज था। सर्प, वृक्ष आदि की पूजा तथा भूत-चुड़ैल आदि का माहात्म्य भी काफी तौर पर फैला हुआ था। पर उस समय असली प्रश्न, जो मनुष्य के सामने अनादि काल से चला आ रहा है, यह था कि जो कुछ दुःख इस संसार में है, उसका कारण क्या है। याज्ञिकों ने इसका उत्तर यह दिया था कि संसार में दुःख का कारण देवताओं का कोप है। उन लोगों ने देवताओं को प्रसन्न करने का साधन पशु-यज्ञ स्थिर किया था; क्योंकि लोक में देखा जाता है कि जो मनुष्य रुष्ट हो जाता है, वह प्रार्थना करने और भेंट देने से प्रसन्न हो जाता है। हठयोग और तपश्चरण करनेवालों ने इस प्रश्न का यह उत्तर दिया कि तपस्या से मनुष्य अपनी इंद्रियों को अपने वश में कर सकता है; और इंद्रियों को वश में करने से वह चित्त की शांति अथवा दुःख से छुटकारा पा सकता है। ज्ञान-मार्ग का अनुसरण करनेवालों ने इस प्रश्न का उत्तर

यह दिया कि ज्ञान के द्वारा अज्ञान का नाश करके मनुष्य दुःख से मुक्ति पा सकता है। पर ये तीनों उत्तर मनुष्यों के हृदयों को संतोष और शांति देने में असमर्थ थे। उस समय समाज में सब से बड़ी आवश्यकता सहानुभूति, प्रेम और दया की थी। समाज में नीरसता, निर्दयता और शुष्क ज्ञान मार्ग का प्रचार हो रहा था। उस समय समाज को एक ऐसे वैद्य की आवश्यकता थी, जो उसके इस रोग की ठीक तरह से दवा करता। भगवान् बुद्धदेव ने अवतार लेकर समय की आवश्यकता को ठीक तरह से समझा; और तब अच्छी तरह सोच समझकर उन्होंने दुनिया को जो उपदेश दिया, और जो नई बात लोगों को बतलाई, वह यह थी कि जो लोग संसार में धर्म-मार्ग पर चलना चाहते हो और परोपकार तथा आत्मोन्नति मे लगना चाहते हों, उन्हें चाहिए कि वे दयालु, सदाचारी और पवित्र-हृदय बनें। बुद्ध के पहले लोगों का विश्वास था यज्ञों मे. मंत्रों में, तपस्याओं मे और शुष्क ज्ञान-मार्ग मे। पर बुद्ध ने यज्ञ, मंत्र, कर्म काण्ड और धर्माभास की जगह लोगों को अपना अंतःकरण शुद्ध करने की शिक्षा दी। उन्होंने लोगों को दीनों और दरिद्रों की भलाई करने, बुराई से बचने, सब से भाई की तरह स्नेह रखने और सदाचार तथा सच्चे ज्ञान के द्वारा दुःखो से छुटकारा पाने का उपदेश दिया। उनकी दृष्टि में ब्राह्मण और शूद्र, ऊँच और नीच, अमीर और गरीब सब बराबर थे। उनके मत से सब लोग पवित्र जीवन के द्वारा निर्वाण-पद प्राप्त कर सकते थे। वे सब को अपने इस धर्म का उपदेश देते थे। बुद्ध भगवान की पवित्र शिक्षाओं का यह प्रभाव हुआ कि कुछ ही शताब्दियो में बौद्ध धर्म

केवल एक ही जाति या देश का नहीं, बल्कि समस्त एशिया का मुख्य धर्म हो गया। इन महात्मा का जीवन चरित्र और इनके उपदेश तथा सिद्धांत आगे के अध्यायों में विस्तारपूर्वक लिखे जायँगे। पर इसके पहले हम जैन धर्म और उसके संस्थापक महावीर स्वामी का भी कुछ परिचय दे देना चाहते हैं; क्योंकि जिस समय बुद्ध भगवान् हुए थे, उसी समय महावीर स्वामी भी अपने धर्म का प्रचार कर रहे थे। इसके अतिरिक्त दोनों के सिद्धांतों में भी बहुत कुछ समानता थी।

तीसरा अध्याय

जैन धर्म का प्राचीन इतिहास

जैन धर्म की स्थापना—ईसा के पूर्व छठी शताब्दी के उत्तर भाग में भारतवर्ष में कई नये नये धर्मों और संप्रदायों का जन्म हुआ था। बौद्ध ग्रंथों से पता लगता है कि बुद्ध के समय में प्राय: तिरसठ संप्रदाय ऐसे प्रचलित थे, जिनके सिद्धांत ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध थे। जैन साहित्य से तो इससे भी अधिक संप्रदायों का पता लगता है। इनमें से कुछ संप्रदाय कदाचित् बुद्ध के भी पहले से चले आ रहे थे। इन संप्रदायों में से वर्धमान महावीर का स्थापित किया हुआ जैन संप्रदाय भी एक है। बुद्ध की तरह महावीर ने भी वेदों, यज्ञों और ब्राह्मणों की पवित्रता और श्रेष्ठता का खंडन करके अपने धर्म का प्रचार किया था। पर यह एक विचित्र बात है कि बुद्ध की तरह महावीर ने भी भिक्षुओं के नियम तथा उनके जीवन का क्रम ब्राह्मणों के धर्म से ही ग्रहण किया। स्मृतियों और धर्म-शास्त्रों में हिंदुओं का जीवन ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और परिव्राजक इन चार आश्रमों में विभक्त है। कौटिलीय अर्थ शास्त्र* में परिव्राजक के कर्तव्यों का वर्णन इस प्रकार किया है—"इंद्रियों का दमन करना, सांसारिक व्यवहारों को त्यागना, अपने पास धन न रखना, लोगों का संग न करना, भिक्षा

---

* कौटिलीय अर्थ शास्त्र, पृ० ८.

माँगकर खाना, बन में रहना, एक ही स्थान पर लगातार न रहना, बाह्य और आभ्यन्तरिक शुद्धता रखना, प्राणियों की हिंसा न करना, सत्य का पालन करना, किसी से ईर्ष्या न करना, सब पर दया करना और सब को क्षमा करना, ये सब कर्तव्य परिव्राज के हैं।" जैन ग्रंथों में भी दूसरे शब्दों में भिक्षुओं के यही कर्तव्य दिये गये हैं। इससे प्रकट है कि भिक्षुओं के नियम तथा उनके जीवन का क्रम महावीर स्वामी ने भी ब्राह्मण धर्म से ही ग्रहण किया था।

जैन धर्म की प्राचीनता—बहुत समय तक लोगों का यह विश्वास था कि जैन धर्म भी बौद्ध धर्म की ही एक शाखा है। लेसन, वेबर और विल्सन आदि युरोपीय विद्वानों का मत था कि जैन लोग बौद्ध ही थे, जिन्होंने बौद्ध धर्म छोड़कर उस धर्म की एक अलग शाखा बना ली थी। बौद्ध और जैन ग्रंथों तथा सिद्धांतों में बहुत कुछ समानता है; इसी से कदाचित् इन विद्वानों ने यह निश्चय किया था कि जैन धर्म बौद्ध धर्म की ही एक शाखा है। पर डाक्टर व्यूलर और डाक्टर जैकोबी इन दो जर्मन विद्वानों ने जैन ग्रंथों की खूब अच्छी तरह खोज करने और बौद्ध धर्म तथा ब्राह्मण धर्म के ग्रंथो से उनकी तुलना करने के बाद पूरी तरह से इस मत का खंडन कर दिया है। अब यह सिद्ध हो गया है कि जैन और बौद्ध दोनों धर्म साथ ही साथ उत्पन्न हुए थे और कई शताब्दियों तक साथ ही साथ प्रचलित रहे। पर अन्त में बौद्ध धर्म का तो भारतवर्ष में लोप हो गया, और जैन धर्म अब तक यहाँ के कुछ भागो में प्रचलित है। कुछ विद्वानों का तो यह भी मत है कि जैन धर्म बौद्ध धर्म से भी पुराना है।

जैन धर्म के चौबीस तीर्थंकर—साधारणतः महावीर ही जैन धर्म के वास्तविक संस्थापक माने जाते हैं। पर जैन लोग अपने धर्म को अत्यन्त प्राचीन बतलाते हैं। उनका कहना है कि महावीर के पहले तेईस तीर्थंकर हो चुके थे, जिन्होंने समय समय पर अवतार लेकर संसार के निर्वाण के लिये सत्य धर्म का प्रचार किया था। इनमें से प्रथम तीर्थंकर का नाम ऋषभदेव था। ऋषभदेव कब हुए, यह नहीं कहा जा सकता। जैन ग्रंथों में लिखा है कि वे करोड़ों वर्ष तक जीवित रहे। अतएव प्राचीन तीर्थंकरों के बारे में जैन ग्रंथो में लिखी हुई बातों पर विश्वास करना असंभव है। जैन ग्रंथों के अनुसार बाद के तीर्थंकरों का जीवन-काल घटता गया; यहाँ तक कि तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जीवन-काल केवल सौ वर्ष माना गया है। कहा जाता है कि पार्श्वनाथ महावीर स्वामी से केवल ढाई सौ वर्ष पहले निर्वाण-पद को प्राप्त हुए थे। महावीर चौबीसवें और अन्तिम तीर्थंकर माने जाते हैं।

तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ—डाक्टर जैकोबी तथा अन्य विद्वानों का मत है कि पार्श्वनाथ ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। इन विद्वानों के मत से पार्श्व ही जैन धर्म के वास्तविक संस्थापक हैं। कहा जाता है कि वे महावीर के निर्वाण के ढाई सौ वर्ष पूर्व हुए थे; अतएव उनका समय ई० पू० आठवीं शताब्दी निश्चित होता है। हम लोगों को पार्श्व के जीवन की घटनाओं और उपदेशों के बारे में बहुत कम ज्ञान है। भद्रबाहु कृत जैन-कल्पसूत्र के एक अध्याय में सब तीर्थंकरों या जिनों की जीवनी दी हुई है। उसी में पार्श्व की भी संक्षिप्त जीवनी है। पर ऐतिहासिक दृष्टि

से इस ग्रंथ की लिखी हुई बातें सर्वथा माननीय नहीं हैं; क्योंकि जितने तीर्थंकर हुए हैं, उन सब की जीवनी इसमे प्रायः एक ही शैली या ढंग पर लिखी गई है। इस ग्रन्थ से पता लगता है कि अन्य तीर्थंकरों की तरह पार्श्व भी क्षत्रिय कुल के थे। वे काशी के राजा अश्वसेन के पुत्र थे। उनकी माता का नाम वामा था। तीस वर्षों तक गृहस्थी का सब सुख भोगकर और अंत में अपना राज-पाट छोड़कर वे परिव्राजक हो गये थे। चौरासी दिनों तक ध्यान करने के बाद वे पूर्ण ज्ञान को प्राप्त हुए। तभी से वे लगभग सत्तर वर्षों तक परमोच्च अर्हत पद पर रहते हुए सम्मेत पर्वत के शिखर पर निर्वाण को प्राप्त हुए। पार्श्वनाथ के धार्मिक सिद्धान्त प्रायः वही थे, जो बाद को महावीर स्वामी के हुए। कहा जाता है कि पार्श्व अपने अनुयायियों को निम्न-लिखित चार नियम पालन करने की शिक्षा देते थे–(१) प्राणियों की हिंसा न करना; (२) सत्य बोलना; (३) चोरी न करना; और (४) धन पास न रखना। महावीर ने एक पाँचवाँ नियम ब्रह्मचर्य-पालन के संबंध में भी बनाया था। इसके सिवा पार्श्व ने अपने अनुयायियों को एक अधोवस्त्र और एक उत्तरीय पहनने की अनुमति दी थी; पर महावीर अपने शिष्यों को बिलकुल नग्न रहने की शिक्षा देते थे। कदाचित् आजकल के "श्वेतांबर" और "दिगंबर" जैन संप्रदाय प्रारंभ में क्रम से पार्श्व और महावीर के ही अनुयायी थे।

महावीर स्वामी की जीवनी—महावीर के जीवन की घटनाओं का संक्षिप्त विवरण लिखना सहज नहीं है; क्योंकि जैन कल्प-सूत्र में, जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है, महावीर स्वामी

की जीवनी अतिशयोक्तियों और कल्पनाओं से भरी हुई है। यदि यह ग्रंथ वास्तव में भद्रबाहु का रचा हुआ हो, और यदि भद्रबाहु ई० पू० तीसरी शताब्दी के पहले के हों, तो महावीर के संबंध में इस ग्रंथ की कुछ न कुछ बातें ऐतिहासिक दृष्टि से अवश्य महत्व की हैं। इसके सिवा जैन धर्म के कई अन्य ग्रंथों मे भी कुछ वाक्य ऐसे हैं, जिनसे महावीर के जीवन की भिन्न भिन्न घटनाओं के संबंध में अनेक बातों का पता लगता है। बौद्ध ग्रंथो से भी महावीर के बारे में बहुत सी बातो का पता लगा है। इन सब ग्रंथो के आधार पर महावीर स्वामी की संक्षिप्त जीवनी यहाँ दी जाती है।

प्राचीन विदेह राजाओं की राजधानी वैशाली* समृद्ध नगरी थी। इस नगरी में एक प्रकार का प्रजातंत्र राज्य था। इस प्रजातंत्र राज्य के चलानेवाले लिच्छवि लोग थे, जो "राजा" कहलाते थे। वैशाली के बाहर पास ही कुंड ग्राम (वर्तमान बसुकुंड नाम का गाँव) था। वहाँ सिद्धार्थ नाम का एक धनाढ्य और कुलीन क्षत्रिय रहता था। वह "ज्ञातृक" नाम के क्षत्रियों का मुखिया था। उसकी रानी वैशाली के राजा चेटक की बहन थी और उसका नाम राजकुमारी त्रिशला था। चेटक की पुत्री का विवाह मगध के राजा बिंबिसार से हुआ था। इस तरह से सिद्धार्थ का मगध के राज-घराने से भी घनिष्ट संबंध था। सिद्धार्थ के एक पुत्री और दो पुत्र हुए, जिनमें से छोटे का नाम वर्धमान

---

* प्राचीन वैशाली आजकल के मुजफ्फरपुर जिले में बसाढ और बखीरा नाम के ग्राम हैं।

था। आगे चलकर वही महावीर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जैन-कल्प-सूत्र से पता लगता है कि महावीर जब पुष्पोत्तर नामक स्वर्ग से जन्म लेने के लिये उतरे, तब वे ऋषभदत्त नाम के ब्राह्मण की पत्नी देवानन्दा के गर्भ में आये। ये दोनों (ब्राह्मण और ब्राह्मणी) भी कुंडग्राम में ही रहते थे। पर इसके पहले यह कभी नहीं हुआ था कि किसी महापुरुष ने ब्राह्मण कुल में जन्म लिया हो। अतएव शक्र (इन्द्र) ने उस महापुरुष को देवानंदा के गर्भ से हटाकर त्रिशला के गर्भ में रख दिया। यहाँ यह कह देना उचित जान पड़ता है कि इस कथा को केवल श्वेतांबरी जैन मानते हैं; दिगंबरी लोग इसे नहीं मानते। दिगंबरी और श्वेतांबरी संप्रदायों में मत-भेद की जो बहुत सी बातें हैं, उनमें से एक यह भी है।

वर्धमान के जन्म लेने पर राजा सिद्धार्थ के यहाँ बड़ा उत्सव मनाया गया। बड़े होने पर उन्हे सब शास्त्रों और कलाओं की पूर्ण शिक्षा दी गई। समय आने पर यशोदा नाम की एक राजकुमारी से उनका विवाह हुआ। इस विवाह से वर्धमान को एक कन्या उत्पन्न हुई, जो बाद को जमालि से ब्याही गई। जब वर्धमान ने "जिन" या "अर्हत" की पदवी प्राप्त करके अपना धर्म चलाया, तब जमालि अपने श्वसुर का शिष्य हुआ। उसी के कारण बाद को जैन धर्म में पहली बार मत-भेद खड़ा हुआ। वर्धमान ने अपने माता-पिता की मृत्यु के बाद अपने ज्येष्ठ भ्राता नन्दिवर्धन की आज्ञा लेकर, तीसवे वर्ष, घर-बार छोड़कर, भिक्षुओं का जीवन ग्रहण किया। भिक्षु-संप्रदाय ग्रहण करने के बाद वर्धमान ने बहुत उत्कट तपस्या करना प्रारंभ किया। यहाँ तक

कि उन्होंने लगातार तेरह महीने तक अपना वस्त्र भी नहीं बदला और सब प्रकार के कीड़े मकोड़े उनके बदन पर रेंगने लगे। इसके बाद उन्होंने सब वस्त्र फेंक दिये और वे बिलकुल नग्न फिरने लगे। निरंतर ध्यान करने, पवित्रतापूर्वक जीवन बिताने और खाने पीने के कठिन से कठिन नियमों का पालन करके उन्होंने अपनी इन्द्रियों पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली। वे बिना किसी छाया के बनों में रहते थे और एक स्थान से दूसरे स्थान को विचरा करते थे। कई बार उन पर बड़े बड़े अत्याचार किये गये, पर उन्होंने धैर्य और शांति को कभी हाथ से न जाने दिया; और न अपने ऊपर अत्याचार करनेवाले से कभी द्वेष ही किया।

एक बार जब वे राजगृह के पास नालन्द में थे, तब गोसाल मंखलिपुत्र नाम के एक भिक्षु से उनका साक्षात्कार हुआ। इसके बाद कुछ वर्षों तक उसके साथ महावीर का बहुत घनिष्ठ संबंध रहा। छः वर्षों तक दोनों एक साथ रहते हुए बहुत कठोर तपस्या करते रहे। पर इसके बाद किसी साधारण बात पर झगड़ा हो जाने के कारण महावीर से गोसाल अलग हो गया। अलग होकर उसने अपना एक भिन्न संप्रदाय स्थापित किया और यह कहना प्रारंभ किया कि मैंने तीर्थंकर या अर्हत का पद प्राप्त कर लिया है। इस प्रकार जब महावीर तीर्थंकर हुए, उसके दो वर्ष पहले ही गोसाल ने तीर्थंकर होने का दावा कर दिया था। गोसाल का स्थापित किया हुआ संप्रदाय "आजीविक" के नाम से प्रसिद्ध है। गोसाल के सिद्धांतों और विचारों के बारे में केवल जैन और बौद्ध ग्रंथों से ही पता लगता है। गोसाल या उसके अनुयायी (आजीविक लोग) अपने सिद्धांतों और विचारों

के संबंध में कोई ग्रंथ नहीं छोड़ गये हैं। जैन ग्रंथों में गोसाल के संबंध में बहुत ही कटु शब्दो का व्यवहार किया गया है। उनमें गोसाल के संबंध में धूर्त, वंचक, दांभिक आदि शब्द कहे गये हैं। इससे पता चलता है कि जैनों और अजीविको में बहुत गहरा मत-भेद था और इसी मत-भेद के कारण महावीर के प्रभाव को प्रारंभ में बड़ा धक्का पहुँचा। गोसाल का प्रधान स्थान श्रावस्ती में एक कुम्हार की दूकान में था। यह दूकान हालाहला नाम की एक स्त्री के अधिकार में थी। मालूम होता है कि गोसाल ने श्रावस्ती में बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त कर ली थी।

बारह वर्षों तक कठोर तप करने के बाद तेरहवें वर्ष महावीर ने वह सर्वोच्च ज्ञान या कैवल्य पद प्राप्त किया, जो दुःख और सुख के बंधन से पूर्ण मोक्ष प्रदान करता है। उसी समय से महावीर स्वामी "जिन" या "अर्हत" कहलाने लगे। उस समय उनकी आयु ४२ वर्ष की थी। तभी से उन्होंने अपने धर्म का प्रचार प्रारंभ किया और "निर्ग्रंथ" नाम का एक संप्रदाय स्थापित किया। आजकल "निर्ग्रंथ" (बंधन-रहित) के स्थान पर "जैन" (जिन के शिष्य) शब्द का व्यवहार होता है। महावीर स्वामी स्वयं "निर्ग्रंथ" भिक्षु और "ज्ञातृ" वंश के थे; इससे उनके विरोधी बौद्ध लोग उन्हें "निर्ग्रंथ ज्ञातृपुत्र" कहा करते थे। महावीर स्वामी ने तीस वर्षों तक अपने धर्म का प्रचार करते हुए और दूसरे धर्मवालों को अपने धर्म में लाते हुए चारों ओर भ्रमण किया। वे विशेष करके मगध और अंग के राज्यों में, अर्थात् उत्तरी और दक्षिणी बिहार में, घूमते हुए वहाँ के सभी बड़े बड़े नगरों में गये। वे अधिकतर चंपा, मिथिला, श्रावस्ती, वैशाली या राजगृह में रहते थे। वे

बहुधा मगध के राजा बिंबिसार और अजातशत्रु (कूणिक) से मिलते थे। जैन ग्रंथों से पता चलता है कि उन्होंने मगध के उच्च से उच्च समाजों में से बहुत से लोगों को अपने धर्म का अनुयायी बनाया था। जैन ग्रंथो के अनुसार बिंबिसार और अजातशत्रु महावीर स्वामी के अनुयायी थे। पर बौद्ध ग्रंथों में ये दोनो राजा बुद्ध भगवान् के शिष्य कहे गये हैं। मालूम होता है कि दोनो राजा महावीर और बुद्ध दोनो का समान आदर करते थे।

महावीर स्वामी का निर्वाण—महावीर स्वामी ने बहत्तर वर्ष की उम्र में यह नश्वर शरीर छोड़कर निर्वाण पद प्राप्त किया। उनका देहावसान पटने ज़िले के पावा नामक प्राचीन नगर में राज-हस्तिपाल के एक लेखक के घर में हुआ था। इस स्थान पर अब भी सहस्रों जैन यात्री दर्शन के लिये जाते हैं। जैन ग्रथो के अनुसार महावीर का निर्वाण विक्रमी संवत् के ४७० वर्ष पहले अर्थात् ई० पू० ५२७ में हुआ था। पर महावीर का निर्वाण-काल ई० पू० ५२७ वर्ष मानने में एक बड़ी अड़चन यह पड़ती है कि महावीर और बुद्ध समकालीन नहीं ठहरते। अतएव बौद्ध ग्रथो का यह लिखना मिथ्या हो जाता है कि बुद्ध और महावीर दोनों समकालीन थे। इस बात से प्रायः सभी सहमत हैं कि बुद्ध भगवान् का निर्वाण ई० पू० ४८० और ४८७ के बीच किसी समय हुआ। महावीर का निर्वाण-काल ई० पू० ५२७ वर्ष मानने से महावीर और बुद्ध दोनों के निर्वाण-काल में ५० वर्षों का अन्तर पड़ जाता है। पर बौद्ध और जैन दोनों ही ग्रंथों से पता चलता है कि महावीर और बुद्ध दोनों अजातशत्रु (कूणिक) के समकालीन थे। यदि महावीर का निर्वाण-काल ई०

पू० ५२७ माना जाय, तो फिर महावीर अजातशत्रु के सम-कालीन नहीं हो सकते। अतएव महावीर का निर्वाण-काल ई० पू० ५२७ नहीं माना जा सकता। डा० जैकोबी महाशय ने प्रसिद्ध जैन ग्रंथकार हेमचंद्र के आधार पर यह निश्चय किया है कि महावीर का निर्वाण ई० पू० ४६७ के लगभग हुआ*। संभवतः जैकोबी महाशय का यह मत ठीक है; अतएव इस ग्रंथ में हम यही मत स्वीकृत करते हैं।

जैन धर्म के सिद्धांत—बौद्ध धर्म की तरह जैन धर्म भी भिक्षुओं का एक संप्रदाय है। बौद्धों की तरह जैन भी जीव-हिंसा नहीं करते। कुछ बातों में तो वे बौद्धों से भी बढ़ गये हैं; और उनका मत है कि केवल पशुओं और वृक्षों में ही नहीं, बल्कि अग्नि, जल, वायु और पृथ्वी के परमाणुओं में भी जीव है। बौद्धों की तरह जैन लोग भी वेद को प्रमाण नहीं मानते। वे कर्म और निर्वाण के सिद्धांत को स्वीकृत करते हैं और आत्मा के पुनर्जन्म में विश्वास रखते हैं। वे लोग चौबीस तीर्थंकरों को मानते है।

जैनियों के पवित्र ग्रंथों अर्थात् आगमों के सात भाग हैं, जिनमें से अंग सब में प्रधान भाग है। अंग ग्यारह हैं, जिनमें से "आचारांग-सूत्र" में जैन भिक्षुओं के आचरण-संबंधी नियम और "उपासक दशा-सूत्र" में जैन उपासकों के आचरण संबंधी नियम दिये गये हैं।

---

* Cambridge History of India, Vol. I. Ancient India, p. 156

श्वेतांबर और दिगंबर संप्रदाय—जैन ग्रंथों से पता लगता है कि महावीर के निर्वाण के दो शताब्दी बाद मगध में बड़ा अकाल पड़ा था। उस सकय मगध में चंद्रगुप्त मौर्य का राज्य था। अकाल के कारण जैन कल्पसूत्र के रचयिता भद्रबाहु, जो उस समय जैन समाज के प्रसिद्ध अगुआ थे, अपने शिष्यों और साथियों को लेकर मगध से कर्नाटक चले गये। बहुत से जैन मगध ही मे रह गये थे और उनके नेता स्थूलभद्र थे। जो जैन चले गये थे, वे अकाल दूर होने पर फिर मगध को लौट आये। पर इस बीच मे जो लोग कर्नाटक चले गये थे, उनकी और जो लोग मगध में रह गये थे, उनकी चाल ढाल में बहुत अन्तर न पड़ गया था। मगध के जैन श्वेत वस्त्र पहनने लगे थे; पर कर्नाटकवाले जैन अब तक नग्न रहने की प्राचीन रीति पकड़े हुए थे। इस प्रकार वे दोनों क्रम से श्वेतांबर और दिगंबर कहलाने लगे। कहा जाता है कि ये दोनों संप्रदाय अंतिम बार सन् ७९ या ८२ ईसवी में अलग हुए। जिस समय दिगंबर लोग कर्नाटक में थे, उस समय श्वेतांबरों ने अपने धर्म-ग्रंथों का संग्रह करके उनका निर्णय किया। पर श्वेतांबरों ने जो धर्म-ग्रंथ एकत्र किये थे, उन्हें दिगंबरों ने स्वीकृत नहीं किया। कुछ समय मे श्वेतांबरों के धर्म-ग्रंथ तितर बितर हो गये और उनके लुप्त हो जाने का डर हुआ। अतएव वे सन् ४५४ या ४६७ ईसवी मे वलभी (गुजरात) की सभा में लिपि-बद्ध किये गये। इस सभा मे जैन धर्म-ग्रंथों का उस रूप में संग्रह किया गया, जिस रूप में हम आज उन्हें पाते हैं। इन घटनाओं और कथानकों के अतिरिक्त मथुरा में बहुत से जैन शिलालेख भी मिले हैं, जिनमें से अधिकतर

कुषण राजा कनिष्क के समय के तथा उसके बाद के हैं। इन शिलालेखों से पता लगता है कि श्वेतांबर संप्रदाय ईसा की प्रथम शताब्दी में विद्यमान था।

ईसवी सन् के बाद जैन धर्म की स्थिति—ईसवी सन के बाद का जैन धर्म का प्राचीन इतिहास अंधकार में पड़ा हुआ है। उस समय के इतिहास पर यदि कोई प्रकाश पड़ता है, तो वह केवल मथुरा के शिला-लेखों से। उनसे जैन धर्म की भिन्न भिन्न शाखाओ और संप्रदायों का कुछ कुछ पता लगता है; और उनसे जैन धर्म की जो अवस्था सूचित होती है, वही अभी तक विद्यमान है। हाँ, इन बीस शताब्दियों में उन संप्रदायों के नाम और बाहरी रूप कदाचित बहुत कुछ बदल गये हैं। इन शिलालेखों में उन गृहस्थ उपासकों और उपासिकाओ के नाम भी मिलते हैं, जिन्होंने भिन्न भिन्न समयो मे भिक्षुओ और भिक्षुनियों को दान देकर जैनो के भिक्षु-संप्रदाय को जीवित रक्खा था। इसके सिवा जैन लोग सदा से अपनी पुरानी प्रथाओं पर इतने दृढ़ रहे हैं और किसी प्रकार के परिवर्तन से इतने भागते रहे हैं कि जैन धर्म के मोटे मोटे सिद्धांत श्वेतांबरो और दिगंबरों के अलग अलग होने के समय जैसे थे, वैसे ही प्रायः अब भी चले जा रहे हैं। कदाचित् इसी से अब भी जैन धर्म बना हुआ है, जब कि बौद्ध धर्म का अपनी जन्म-भूमि से बिलकुल लोप हो गया है।

चौथा अध्याय

गौतम बुद्ध की जीवनी

बुद्ध का जन्म—गौतम बुद्ध का जन्म कब हुआ तथा उनके निर्वाण का समय क्या है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। डाक्टर फ्लीट तथा अन्य विद्वानो ने बुद्ध का निर्वाण-काल ईसा के पूर्व ४८७ वर्ष माना है। निर्वाण के समय बुद्ध अस्सी वर्ष के थे; अतएव बुद्ध का जन्म-काल ईसा के ५६७ वर्ष पूर्व निश्चित होता है। कहा जाता है कि अंतिम बार जन्म लेने के पहले बुद्ध भगवान् प्रायः ५५० बार पशु, पक्षी तथा मनुष्य के रूप में जन्म ले चुके थे। बुद्ध के इन जन्मो का हाल उन कथाओं में दिया है, जो "जातक" * के नाम से प्रचलित हैं। अंतिम बार जन्म लेने के पूर्व बुद्ध भगवान् "तुषित" नाम के स्वर्ग मे देव के रूप में निवास करते थे। जब इस पृथ्वी पर उनके पुनर्जन्म का समय समीप आया, तब वे बहुत दिनों तक यह विचार करते रहे कि कौन मनुष्य ऐसा योग्य है। जिसके यहाँ हम जन्म लें। अंत में उन्होंने निश्चय किया कि शाक्य वंश के राजा शुद्धोदन की पत्नी मायादेवी के गर्भ में जन्म लेना चाहिए। इस निश्चय के अनुसार बुद्ध ने "तुषित" स्वर्ग से उतरकर शाक्यों की राजधानी कपिल वस्तु में—जो नेपाल की तराई में है—मायादेवी के

---

* हिन्दी में इनमें की कुछ चुनी हुई कथाएँ "जातक कथामाला" के नाम से साहित्यरत्नमाला कार्य्यालय, काशी द्वारा प्रकाशित हुई है। —प्रकाशक।

गर्भ में श्वेत हस्ती के रूप में प्रवेश किया। जब प्रसव काल समीप आया, तब मायादेवी ने राजा से अपने मैके जाने की इच्छा प्रकट की। जब वे राजा की आज्ञा लेकर अपने मैके जा रही थीं, तब रास्ते में "लुंबिनी" नामक उपवन में उन्हे प्रसव-वेदना हुई और वे एक "शाल" के वृत्त की डाल पकड़कर खड़ी हो गईं। खड़े होते ही माया की कोख से बुद्ध भगवान् का जन्म हो गया। जन्म के पाँचवें दिन राज-पुरोहित विश्वामित्र ने इस शिशु का नाम सिद्धार्थ रक्खा। पर बुद्ध के गोत्र का नाम गौतम था। इनकी माता माया देवी इनके जन्म के सातवें ही दिन स्वर्गवासिनी हुईं; इसलिये इनकी मौसी तथा विमाता प्रजावती ने इनका पालन-पोषण किया। कहते हैं कि जिस दिन बुद्ध ने अवतार लिया, उसी दिन उनकी भावी पत्नी "यशोधरा", उनके सारथि "छन्दक", उनके घोड़े "कण्ठक" तथा उनके प्रधान शिष्य "आनन्द" ने भी जन्म-ग्रहण किया था। यह भी कहा जाता है कि ये सब बुद्ध के पूर्व जन्मों में, भिन्न भिन्न रूपों में, उनके साथ रह चुके थे।

"लुम्बिनी" उपवन से बुद्ध बड़ी धूम धाम के साथ कपिल-वस्तु में लाये गये और ज्योतिषियो ने जन्म-पत्र बनाकर फलाफल कहना शुरू किया। कोई ज्योतिषी कहता कि यह बालक चक्र-वर्ती सम्राट् होगा। कोई कहता कि यह "सम्यक् संबुद्ध" हो-कर संसार का उद्धार करेगा। जो चिह्न इस बालक के शरीर पर थे, उनसे दोनों ही बाते हो सकती थीं; क्योंकि चक्रवर्ती राजा और बुद्ध के चिह्न प्रायः एक ही से होते हैं। इतने में योग शक्ति से यह जानकर कि बुद्ध ने कपिलवस्तु में अवतार लिया

है, ऋषि असित उनके दर्शन के लिये आये और भविष्यद्वाणी की कि यह बालक एक दिन बुद्ध होगा। राजा शुद्धोदन को इस बात का विश्वास न हुआ कि यह राजकुमार राज-पाट और धन वैभव छोड़कर एक तपस्वी का जीवन पसंद करेगा। तथापि राजकुमार को संसार मे लिप्त रखने के लिये उन्होंने हर प्रकार के भोग-विलास की सामग्री उसके लिये इकट्ठी की, जिससे राज-कुमार का मन वैराग्य की ओर कभी प्रवृत्त ही न हो। जब राजा ने ऋषि असित से पूछा कि किन कारणों से राजकुमार के मन में राज्य की ओर से वैराग्य उत्पन्न होगा, तब ऋषि ने कहा कि चार बाते इस वैराग्य का कारण होंगी—(१) एक वृद्ध मनुष्य, (२) एक रोगी मनुष्य, (३) एक मृतक तथा (४) एक भिक्षु। अतएव राजा ने इस बात की बड़ी चौकसी रक्खी कि ये चारों चीजें राजकुमार की आँखों के सामने न आने पावें।

बुद्ध का विवाह और वैराग्योत्पत्ति

जब कुमार विद्या समाप्त कर चुके, तब राजा शुद्धोदन ने गुरुकुल में जाकर उनका समावर्तन संस्कार कराया और गुरु विश्वामित्र को प्रचुर दक्षिणा दी। अनंतर बड़े गाजे-बाजे के साथ कुमार सिद्धार्थ कपिलवस्तु लाये गये। वे एकांत-प्रेमी थे और खेल-कूद, आमोद-प्रमोद आदि मे बहुत सम्मिलित न होते थे। वे सदा ध्यान में मग्न रहा करते थे और यही सोचा करते थे कि मनुष्य त्रिविध तापों से किस तरह छुटकारा पा सकता है। राजा शुद्धोदन कुमार की यह दशा देख महर्षि असित के वचनों का स्मरण करके बहुत घबराये; और जब अन्य प्रकार

से कुमार का मन वैराग्य की ओर से हटता न देखा, तब उन्होंने उन्हें विवाह-बंधन में जकड़ने का मनसूबा बाँधा।

सोलह वर्ष की उम्र में राजकुमार का विवाह पड़ोस के कोलिय वंश की राजकुमारी यशोधरा से कर दिया गया। राजकुमार सदा महलों के अंदर रक्खे जाते थे; क्योंकि उनके पिता को यह भविष्यद्-वाणी याद थी कि राजकुमार राज्य त्यागकर वैराग्य ग्रहण करेंगे। जब राजकुमार उन्तीस वर्ष के हुए, तब दैवी प्रेरणा से उन्होंने अपने सारथी को सैर के लिये महलों के बाहर रथ ले चलने को कहा। जब वे रथ पर चढ़कर महल के बाहर जा रहे थे, तब देवताओं ने उनके मन को वैराग्य की ओर प्रवृत्त करने के लिये एक बहुत ही जीर्णकाय बुड्ढे मनुष्य को उनके सामने भेजा। राजकुमार ने रथ हाँकनेवाले से पूछा—"यह कौन है?" सारथी ने उत्तर दिया—"यह वृद्ध मनुष्य है। हर एक प्राणी को एक न एक दिन ऐसा ही होना पड़ता है।" यह बात सुनकर राजकुमार के मन में संसार-सुख के प्रति अत्यंत ग्लानि उत्पन्न हुई। वहीं से वे महल में लौट आये। इसी तरह दूसरे और तीसरे दिन एक रोगी और एक मुरदा राजकुमार को दिखलाई दिया। राजकुमार ने उसी तरह सारथी से प्रश्न किया, जिसके उत्तर में उसने राजकुमार को जो बात उन दोनों के संबंध में कही, उससे राजकुमार के मन में और भी वैराग्य बढ़ा। चौथी बार, जब वे उपवन को जा रहे थे, रास्ते में उन्हें एक काषाय वस्त्र-धारी भिक्षु दिखलाई पड़ा। जब उन्होंने सारथी से पूछा कि यह कौन है, तब उसने कहा कि यह भिक्षु है, जो सांसारिक सुख और ऐश्वर्य को त्यागकर केवल भिक्षा से अपना

उदर-पालन करता हुआ संसार के उपकार में जीवन व्यतीत कर रहा है। उसी समय राजकुमार के मन में संसार का त्याग करके भिक्षु बनने की प्रबल कामना जाग्रत हुई।

राहुल का जन्म

कुमार के अट्ठाईसवें वर्ष राजकुमारी यशोधरा गर्भवती हुईं और उनके गर्भ से यथा समय राहुल नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। उन्हीं दिनों उनके मन में संन्यास ग्रहण करने का विचार प्रबल हो रहा था। ऋषि-ऋण तथा देव-ऋण से तो कुमार पहले ही उऋण हो चुके थे, पुत्रोत्पत्ति का समाचार सुनकर उन्होंने अपने को पितृ-ऋण से भी मुक्त समझा। अब वे तीनों ऋणों से मुक्त होकर अपने आप को मोक्ष पद का अधिकारी समझने लगे। इस विचार के उठते ही उनके मुख पर सोलहो कलाओं से पूर्ण आनंद-रूपी इंदु का उदय हुआ; किंतु तत्काल ही पुत्रोत्पत्ति से उत्पन्न राग ने उनके वैराग्य से उत्पन्न आनंद पर आक्रमण किया और उनका सारा मानसिक सुख अंतर्धान हो गया। अतएव उनके मन में आया कि यह पुत्र राहु है, जिसने मेरे आनंद-चंद्र को ग्रस लिया। इसी से उन्होंने उसका नाम "राहुल" रक्खा।

महाभिनिष्क्रमण (गृह-त्याग)

उस रात्रि को बुद्ध अपनी स्त्री को एक बार देखने के लिये गये। वहाँ उन्होंने जगमगाते हुए दीपक के प्रकाश में बड़े सुख का दृश्य देखा। उनकी युवा पत्नी चारों ओर फूलों से घिरी हुई

पड़ी थी और उसका एक हाथ बच्चे के सिर पर था। उनके हृदय में बड़ी अभिलाषा उठी कि सब सांसारिक सुखों को छोड़ने के पहले अंतिम बार अपने बच्चे को अपनी गोद में लें; परंतु वे ऐसा करने से रुक गये। यह सोचकर कि कदाचित् बच्चे की माता जाग जाय और उस प्रियतमा की प्रार्थनाएँ कदाचित् मेरा हृदय हिला दें और मेरे संकल्प में बाधा डाल दें, वे वहाँ से चुपचाप निकल गये।। उसी एक क्षण में, उसी रात्री के अंधकार मे उन्होंने सदा के लिये अपने धन, सम्मान और अधिकार, अपनी ऊँची मर्यादा और अपने "राजकुमार" नाम को, और सब से बढ़कर अपनी प्यारी पत्नी की प्रीति और उसकी गोद में सोये हुए सुकुमार बच्चे के स्नेह को तिलांजलि दे दी। आधी रात के समय उन्होंने "छंदक" नामक सेवक से "कंठक" नामक अश्व मँगाकर और उस पर सवार होकर पूर्व दिशा का रास्ता लिया। मार्ग मे घने जंगलों, सुनसान मैदानों और अनेक छोटे मोटे नदी-नालों को पार करके वे कोलिय राज्य मे पहुँचे और वहाँ से अनामा नदी के किनारे गये। वहाँ उन्होंने अपने शरीर पर दो एक साधारण वस्त्र रखकर शेष वस्त्राभूषण तथा अश्व छंद्रक को देकर उसे हठ-पूर्वक कपिलवस्तु को वापस भेज दिया। फिर उन्होंने तलवार से अपनी शिखा काट डाली और आगे चलकर अपने बहुमूल्य वस्त्रों के बदले में साधारण वस्त्र ले लिये। उन्होंने छंदक के द्वारा अपने पिता को कहला भेजा कि मैं "बुद्ध" पद प्राप्त करके कपिलवस्तु में फिर आपके दर्शन करूँगा। उनके वियोग में शोक-विह्वल राज-परिवार रो पीटकर इसी वचन के सहारे किसी प्रकार बैठ रहा।

बुद्ध की तपस्या

गौतम सिद्धार्थ वैशाली पहुँचकर आलार कालाम नामक पंडित के ब्रह्मचर्याश्रम में गये, जहाँ तीन सौ ब्रह्मचारी विद्याध्यन करते थे। इसी पंडित से गौतम ने ब्रह्मचर्याश्रम की दीक्षा ग्रहण की; पर उनकी शिक्षा से गौतम की आत्मा को शांति न प्राप्त हुई। अतएव आलार कालाम की आज्ञा लेकर उन्होंने राजगृह की ओर प्रस्थान किया। राजगृह में महाराज बिंबिसार ने गौतम को भिक्षा दी और उनके रूप, यौवन तथा गुणों को देखकर अपना भारी मगध राज्य उन्हें अर्पित करना चाहा। पर बुद्ध ने उत्तर दिया कि यदि मुझे राज्य जैसे क्षण-भंगुर पदार्थ की लालसा होती, तो मैं अपने पिता ही का राज्य क्यों छोड़ता! यह सुनकर राजा लज्जित हुआ और बुद्धत्व प्राप्त करने पर गौतम को अपने यहाँ आने का निमंत्रण देकर महल को चला गया। उस समय राजगृह में रुद्रक नाम के एक प्रसिद्ध दार्शनिक रहते थे, जिनके आश्रम में सात सौ ब्रह्मचारी अध्ययन करते थे। कुछ दिनों तक बुद्ध ने रुद्रक के यहाँ रहकर उनसे शिक्षा प्राप्त की। पर उनकी शिक्षा से भी बुद्ध को उस निर्वाण का मार्ग न मिला, जिसे वे प्राप्त करना चाहते थे। अतएव रुद्रक की आज्ञा लेकर वे और आगे बढ़े। इस आश्रम के पाँच भिक्षु भी ज्ञान की खोज मे गौतम के साथ हो लिये। ये छहो महात्मा भिक्षा ग्रहण करते हुए कई दिनों मे गया पहुँचे। वहाँ गौतम ने सोचा कि सब से पहले शारीरिक शुद्धता के लिये तपस्या करना आवश्यक है; क्योंकि बिना इसके चित्त शुद्ध नहीं हो सकता। इस विचार

से वे तपश्चर्या के योग्य स्थान ढूँढ़ने लगे: और वहाँ से थोड़ी दूर पर उरुविल्व नामक ग्राम में निरंजना नदी के किनारे एक उपयुक्त स्थान पाकर वहीं घोर तपश्चर्या में लीन हो गये। छः वर्षों तक वे तपस्या करते रहे। पर जब उन्होंने देखा कि मामूली तपस्या से कुछ नहीं होता, तब उन्होंने कठोर से कठोर व्रत और उपवास करना आरंभ किया। यहाँ तक कि वे दिन में सिर्फ़ एक दाना चावल का खाकर रहने लगे। इससे वे सूखकर काँटा हो गये और ऐसे बलहीन हुए कि एक बार थोड़े ही परिश्रम से मूर्च्छित होकर गिर पड़े।

मार का आक्रमण और बुद्ध-पद की प्राप्ति

जब बुद्ध ने देखा कि व्रत तथा उपवास करने से और शरीर को कष्ट देने से आत्मिक ज्ञान नहीं हो सकता, तब वे पूर्ववत् भोजन करने लगे। इससे पाँच भिक्षु, जो उनके साथ रहते थे, उनको छोड़कर सारनाथ चले गये और वहीं रहने लगे। बुद्ध आत्मिक ज्ञान के लिये बुद्ध गया गये। जब वे "बोधि-वृक्ष" की ओर जा रहे थे, तब रास्ते में, उन्हें स्वस्तिक नाम का एक घसियारा मिला। उसने उन्हें कुछ घास भेंट की। बुद्ध ने घास की वह भेंट स्वीकृत कर ली। फिर वे पीपल के एक वृक्ष के नीचे (जो बाद में "बोधि-वृक्ष" के नाम से प्रसिद्ध हुआ) वह घास बिछकर उस पर बैठ गये और ध्यान करने लगे। जब बुद्ध उस बोधि-वृक्ष के नीचे बैठे हुए समाधिस्थ थे और बुद्ध-पद प्राप्त करने को थे, तब "मार" (कामदेव) बहुत डरा। बौद्ध धर्म में "मार" का वही पद है, जो ईसाई धर्म में शैतान का है। उसने

सोचा कि यदि इसे बुद्ध-पद प्राप्त हो गया, तो केवल यही संसार से मुक्त न हो जायगा, किंतु यह अनंत प्राणियो के लिये निर्वाण का द्वार खोल देगा। फिर हमारा राज्य कहाँ रहेगा ? यह सोच-कर उसने बुद्ध को अनेक प्रकार के लालच दिये: यहाँ तक कि उसने अपनी लड़कियों को भी बुद्ध के सामने, उन्हें अपने वश में करने के लिये, भेजा। किंतु बुद्ध पर उनका कुछ भी असर न हुआ। तब मार ने अपनी सेना को बुद्ध पर आक्रमण करने की आज्ञा दी, जिसमें बुद्ध अपना आसन छोड़कर भाग जायँ। इस पर बुद्ध ने पृथ्वी को छूकर शपथ की कि यदि मेरे पूर्व जन्मों के पुण्य-कार्यों से इस आसन पर मेरा अधिकार हो, तो पृथ्वी मेरी ओर से इस बात की साक्षिणी हो। बुद्ध की इस मुद्रा को "भूमिस्पर्श-मुद्रा" कहते है। बुद्ध के ऐसा कहने पर पृथ्वी ने गरजकर अपनी स्वीकृति दी। इस पर मार और उसकी सेना दोनो हारकर भाग गये। इसी के दूसरे दिन बुद्ध को उस सत्य-ज्ञान का प्रकाश दिखाई दिया. जिससे वे "बोधिसत्व" से "बुद्ध" पदवी को प्राप्त हुए।

बुद्ध का प्रथम उपदेश

"सम्यक् संबुद्ध" पद को प्राप्त होने पर बुद्ध सोचने लगे कि हम पहले किसे अपने धर्म का उपदेश करें। उनका ध्यान उन पाँच भिक्षुओं की ओर गया, जो उन पर अविश्वास करके उनका साथ छोड़कर चले गये थे। अपने ध्यान-बल से यह जानकर कि वे इस समय मृगदाव (सारनाथ, बनारस) में हैं, बुद्ध वहीं गये और पहली बार उन्हें अपने धर्म का उपदेश दिया। यही

पाँचो बुद्ध के पहले शिष्य हुए। बुद्ध के जीवन की यह घटना "धर्मचक्रप्रवर्तन" के नाम से प्रसिद्ध है; अर्थात् बुद्ध ने पहली बार सारनाथ में अपने धर्म का पहिया चलाया था और बौद्ध धर्म का प्रचार वहीं से प्रारंभ हुआ था। बुद्ध के प्रथम उपदेश का सारांश नीचे लिखा जाता है।

"हे भिक्षुओ, दो ऐसी बातें हैं, जो उन मनुष्यो को न करनी चाहिएँ, जिन्होंने संसार त्याग दिया है; अर्थात् एक तो उन वस्तुओं की आदत न डालनी चाहिए, जो मनोविकार और विशेषनः कामासक्ति से उत्पन्न होती हैं; क्योंकि यह नीच, मिथ्या, अयोग्य और हानिकर मार्ग है। यह मार्ग केवल संसारी मनुष्यो के योग्य है। और दूसरे उन्हें अनेक दूसरी तपस्याएँ भी नहीं करनी चाहिएँ: क्योंकि वे दुःखदायी, अयोग्य और हानिकर हैं। हे भिक्षुओ, इन दोनों बातो को छोड़कर एक बीच का मार्ग है, जो नेत्रों को खोलता और ज्ञान देता है। उससे मन की शांति, उत्तम ज्ञान और पूर्ण प्रकाश अर्थात् निर्वाण प्राप्त होता है।"

इसके उपरांत बुद्ध ने उन्हे दुःख, उसके कारण, उसके नाश और उसका नाश करने के मार्ग के संबंध में अनेक बातें बतलाई। जिस मार्ग का वर्णन बुद्ध ने किया, उसमें ये आठ बातें हैं—यथार्थ विश्वास, यथार्थ उद्देश, यथार्थ भाषण, यथार्थ कार्य, यथार्थ जीवन, यथार्थ उद्योग, यथार्थ मनःस्थिति और यथार्थ ध्यान। और इसी को 'अट्ठांगिक मग्गा' (अष्टांगिक मार्ग) कहते हैं।

इन पाँच भिक्षुओं को अपने धर्म में दीक्षित करके महात्मा बुद्ध ने पैंतालिस वर्ष तक सारे उत्तरी भारत में इधर उधर भ्रमण करके बौद्ध मत का प्रचार किया। वे केवल चातुर्मास्य मे

प्रायः एक स्थान पर रहते थे और शेष मासों में भ्रमण किया करते थे।

बुद्ध का प्रथम शिष्य

उनका पहला गृहस्थ शिष्य काशी के धनाढ्य सेठ का पुत्र यश हुआ। सुख और संपत्ति की गोद में पले हुए इस युवक के धर्म-परिवर्तन का वृत्तांत उल्लेखनीय है। उसके तीन महल थे—एक जाड़े के लिये, दूसरा गरमी के लिये और तीसरा बरसात के लिये। एक दिन रात को नींद से जागकर उसने कमरे में गायिकाओं को सोते हुए पाया और उनके वस्त्रों, बालों तथा गाने के साजों को छिन्न भिन्न देखा। इस युवक ने, जो सुख के जीवन से तृप्त हो चुका था, अपने सामने जो कुछ देखा, उससे उसे बहुत घृणा हुई और गहरे विचार मे पड़कर उसने कहा—"ओह! कैसा दुःख है! ओह! कैसी विपत्ति है!" यह कहकर वह प्रभात के समय घर से बाहर चला गया। उस समय बुद्ध टहलने के लिये निकले थे। उन्होंने इस व्याकुल और दुःखी युवक को यह कहते हुए सुना—"ओह! कैसा दुःख है! ओह! कैसी विपत्ति है!" इस पर बुद्ध ने उस युवक से कहा—"हे यश, यहाँ कोई दुःख और कोई विपत्ति नही है। हे यश, यहाँ आकर बैठो। मैं तुम्हें सत्य का मार्ग बतलाऊँगा।" तब यश ने गौतम बुद्ध के मुख से सत्य-ज्ञान का उपदेश सुना। यश की स्त्री और माता-पिता सब उसे न पाकर बुद्ध के पास आये। वहाँ उन लोगों ने भी पवित्र सत्य-ज्ञान का उपदेश सुना; और तब वे लोग भी बुद्ध के गृहस्थ शिष्य हो गये।

बौद्ध संघ का संघटन

काशी आने के पाँच महीने के अंदर बुद्ध के साठ शिष्य हो गये। उन्होंने उन शिष्यों को सघ मे संघटित करके भिन्न भिन्न दिशाओं में सत्य का प्रकार करने के लिये यह कहकर भेजा— "हे भिक्षुओ, अब तुम लोग जाओ और संसार की भलाई तथा उपकार के लिये भ्रमण करो। तुम में से कोई दो भी एक ही मार्ग से न जायँ। हे भिक्षुओ, तुम लोग उस सिद्धांत का प्रचार करो, जो आदि मे उत्तम है, मध्य में उत्तम है और अंत में उत्तम है। जाओ, पवित्र जीवन का प्रचार करो।" तब से किसी धर्म-प्रचारक ने अपने धर्म का प्रचार पृथ्वी के ओर छोर तक करने मे उतना अधिक पवित्र उत्साह नहीं दिखलाया, जितना गौतम बुद्ध के अनुयायियों ने अपने धर्म का प्रचार करने में दिखलाया है। इसके बाद भगवान बुद्ध उरुवेला (उरुबिल्व) ग्राम को गए।

काश्यप का धर्म-परिवर्तन

उरुवेला ग्राम में "काश्यप" नाम के तीन तपस्वी अपने-शिष्यों के साथ रहते थे। वे वैदिक धर्म के अनुसार अग्नि की पूजा करते थे और बहुत प्रसिद्ध संन्यासी तथा दर्शन शास्त्र के अच्छे ज्ञाता थे। बनारस मे बुद्ध अपने धर्म का प्रचार करने के बाद काश्यप के तपोवन मे आये और काश्यप तथा उनके शिष्यों को अपने धर्म मे लाने के लिये उन्हे अपने धर्म का उपदेश देने लगे। किन्तु काश्यप अपने विचारों पर बहुत दृढ़ थे; अतएव उन्हें अपने धर्म में लाने के लिये बुद्ध को अपनी अनेक सिद्धियाँ

और आश्चर्य-जनक दृश्य दिखाने पड़े। वहाँ तपोवन का एक अग्न्यागार था, जिसमें अग्नि रक्खी रहती थी। उसमें एक भयंकर काला साँप रहता था। काश्यप तथा अन्य ब्राह्मण उस साँप के डर के मारे उस घर में न जाते थे। उन ब्राह्मणों को अपनी शक्ति का परिचय देने के लिये बुद्ध ने उस अग्न्यागार में रहने की आज्ञा माँगी। काश्यप ने यह समझकर कि बुद्ध की जान व्यर्थ जायगी, उन्हें उस आगार में रहने की आज्ञा न दी। अंत में बहुत कहने सुनने पर बुद्ध को उस गृह में रहने की आज्ञा मिली। बुद्ध उसके अंदर आसन जमाकर बैठ गये। बैठते ही उनके शरीर से ऐसी ज्योति निकली कि साँप डर गया और बुद्ध के वशीभूत होकर उनके भिक्षा-पात्र मे छिपकर बैठ गया। ब्राह्मणों ने बुद्ध का यह आश्चर्य-जनक प्रकाश देखकर समझा कि मकान मे आग लगी है। अतएव वे आग बुझाने के लिये घड़ो मे पानी ले लेकर दौड़े। अंत मे यह जानकर कि यह बुद्ध के शरीर से निकली हुई ज्योति है, वे बुद्ध के भक्त हो गये और काश्यप ने अपने शिष्यों के साथ बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया। इस घटना से बुद्ध की ख्याति चारो ओर फैल गई।

जन्म-भूमि में बुद्ध का आगमन

अब बुद्ध भगवान् अपने शिष्यों को साथ लेकर मगध की राजधानी राजगृह की ओर चले। बुद्ध के आने का समाचार सुनकर मगध का राजा बिंबिसार बहुत से ब्राह्मणों और वैश्यो को साथ लेकर उनसे मिलने के लिये आया। पश्चात् बुद्ध का उपदेश सुनकर राजा अपने असंख्य अनुचरों के साथ बौद्ध मत

का अनुयायी हो गया। इसी बीच में बुद्ध ने "सारिपुत्र" और "मौद्गलायन" नामक भिक्षुओं को भी शिष्य बनाकर उन्हें अपने सब शिष्यों में प्रधानता दी।

अब गौतम बुद्ध का यश उनकी जन्म-भूमि तक पहुँच गया था। अपने पुत्र का भारी यश सुनकर राजा शुद्धोदन ने कई दूतों को भेजकर उन्हे बुला भेजा। वे दो महीने तक पैदल चलकर संघ समेत कपिलवस्तु पहुँचे और उसी के निकट "न्यग्रोध" कानन मे ठहरे। दूसरे दिन वे स्वयं नगर में भिक्षा माँगने के लिये निकले। इस समाचार से राज-परिवार में बड़ा कोलाहल मचा और राजा वहाँ पधारकर बुद्ध से कहने लगे—वत्स ! इस प्रकार भिक्षा माँगकर मुझे क्यों लज्जित करते हो ! क्या मै संघ समेत तुम्हारा सत्कार नहीं कर सकता ? बुद्ध ने उत्तर दिया कि महाराज. यह तो मेरा कुल-धर्म है; क्योंकि अब मै अपने को राजकुलोत्पन्न न मानकर बौद्ध कुल मे जन्मा हुआ समझता हूँ। अनंतर महल में भगवान् का संघ समेत भोजन हुआ। वहीं बुद्ध ने राज-परिवार तथा सेवकों को उपदेश भी दिया। इस उपदेश मे पूरे राज-परिवार के सम्मिलित होने पर भी भगवान् की रानी यशोधरा न सम्मिलित हुई। उसका भाव समझकर तथा पिता की आज्ञा लेकर सारिपुत्र और मौद्गलायन के साथ भगवान स्वयं यशोधरा के पास गये। वह भगवान को संन्यासी के वेश में देख, परम विह्वल हो, उनके पैरों पर गिर पड़ी और फूट फूटकर रोने लगी। भगवान् ने उसको आश्वासन देकर अनेक उपदेश दिए। अनंतर भगवान् के छोटे भाई नद ने भी युवराज होना स्वीकार न करके बुद्ध से दीक्षा ग्रहण की। भगवान के

पुत्र राहुल ने भी ऐसा ही किया। यह देख राजा शुद्धोदन ने बहुत व्याकुल होकर भगवान् से आग्रह किया कि आगे से बिना माता-पिता की आज्ञा के कोई बालक संन्यासी न बनाया जाय। भगवान् ने यह बात मान ली और इसके अनुसार घोषणा भी प्रचारित कर दी।

बुद्ध की सौतेली माता महाप्रजावती तथा अन्य शाक्य स्त्रियों ने ब्रह्मचर्य ग्रहण करके भिक्षुणी बनने की इच्छा प्रकट की। भगवान ने पहले तो उन्हे टाल दिया पर उनके अत्यंत आग्रह करने पर उनकी इच्छा पूरी कर दी। महाप्रजावती पहली स्त्री थी, जिसने बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण की थी। छठे वर्ष महाराज बिंबिसार की पहली महिषी क्षेमा तथा राहुल की माता यशोधरा ने भी दीक्षा ग्रहण की।

त्रयस्त्रिंश स्वर्ग से अवतरण

लिखा है कि सातवें वर्ष बुद्ध भगवान त्रयस्त्रिंश स्वर्ग को गये। बुद्ध के जन्म के सातवे ही दिन उनकी माता मायादेवी का देहान्त हो गया था। दूसरे जन्म में माया त्रयस्त्रिंश स्वर्ग में, एक देवता के रूप में, पैदा हुई। अपनी माता को भी बौद्ध धर्म की दीक्षा देने के लिये बुद्ध त्रयस्त्रिंश स्वर्ग को गये और वहाँ तीन महीने रहकर उन्होंने माया को बौद्ध धर्म का उपदेश दिया। तीन महीने बाद जब पृथ्वी पर फिर बुद्ध के लौटने का समय हुआ, तब इंद्र ने विश्वकर्मा से सोने की तीन सीढ़ियाँ बनाने को कहा। उन तीनों सीढ़ियों से बुद्ध तथा उनके साथ इंद्र और ब्रह्मा संकाश्य (आधुनिक संकीसा, जिला फर्रुखाबाद) में उतरे।

वहाँ पर, कुछ वर्ष हुए, संयुक्त प्रांत की ऐतिहासिक समिति (यू० पी० हिस्टॉरिकल सोसाइटी) की ओर से खुदाई भी कराई गई थी।

नालगिरि हाथी का दमन

बुद्ध का चचेरा भाई देवदत्त उनका यश और मान देखकर उनसे बहुत डाह करता था और अंदर ही अंदर द्वेष की आग से जला करता था। उसने तीन बार बुद्ध की हत्या करने की चेष्टा की थी। एक बार जब बुद्ध राजगृह की सड़क पर जा रहे थे, तब उसने मगध के महाराज अजातशत्रु की सहायता से नालगिरि नामक एक मतवाला हाथी बुद्ध के प्राण लेने को छोड़ दिया। किंतु ज्योंही वह मतवाला हाथी नगर के फाटक के अंदर घुसा, त्योंही बुद्ध ने उस हाथी के मस्तक पर अपना हाथ फेरकर उसे अपने वश में कर लिया। उसी समय देवदत्त की सलाह से अजातशत्रु अपने बूढ़े पिता महाराज बिंबिसार को बात बात में कष्ट देने लगा। कहा जाता है कि बिंबिसार अंतिम समय में राज्य की बागडोर अपने पुत्र अजातशत्रु के हाथ में देकर एकांत-वास करने लगा। किंतु अजातशत्रु को इतना धैर्य कहाँ कि वह महाराज बनने के लिये बिंबिसार की मृत्यु की प्रतीक्षा करता! बौद्ध ग्रंथों के अनुसार इस राजकुमार ने अपने पिता को भूखों मार डाला। उन्हीं ग्रंथों से यह भी पता लगता है कि जब वह गद्दी पर आया, तब बुद्ध भगवान जीवित थे। लिखा है कि अजातशत्रु ने भगवान् के सामने अपने पापों के लिये बहुत ही पश्चात्ताप किया और उनसे बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण

की। इसी बीच में देवदत्त एक तालाब में फँसकर मर गया।

महात्मा बुद्ध के अविश्रांत परिश्रम का यह फल हुआ कि मल्ल, लिच्छवि, शाक्य आदि क्षत्रिय जातियों ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया। एक बार अवध प्रांत के शासक विरूधक ने कई कारणों से शाक्यों पर भारी क्रोध करके उनका सर्वनाश कर डाला। अपना पैंतालीसवाँ चातुर्मास्य श्रावस्ती में व्यतीत करके भगवान् ने राजगृह जाते हुए मार्ग में कपिलवस्तु के ध्वंसावशेष देखे। मार्ग में भगवान् पाटलिग्राम भी पहुँचे, जहाँ उस समय एक किला बन रहा था। वहाँ उन्होंने भविष्यद्वाणी की—"यह पाटलिग्राम 'पाटलिपुत्र' (पटना) कहलावेगा। इसकी समृद्धि, सभ्यता और वाणिज्य खूब बढ़ेगा और यह सर्व-श्रेष्ठ नगर होगा। पर अंत को अग्नि, जल और गृह-विच्छेद से इसका नाश होगा।"

वेश्या के यहाँ निमन्त्रण

उस समय वैशाली में आम्रपाली नाम की एक वेश्या रहती थी, जिसने भगवान् को संघ समेत भोजन के लिये निमंत्रित किया। भगवान् ने यह निमंत्रण स्वीकार कर लिया। इस बात से लिच्छवि लोग कुछ अप्रसन्न हुए, किंतु भगवान् ने भक्त को न छोड़ा। थोड़े दिनों बाद भगवान् को बिल्वग्राम में अपने प्रिय शिष्य सारिपुत्र और मौद्गलायन के मरने का समाचार मिला। इसी वर्ष भगवान् के शरीर में कठिन पीड़ा हुई, जिसमें उनके अमंगल के भय से सारा भिक्षु-वर्ग घबरा गया। उस समय अपने प्रिय शिष्य आनंद को संबोधित करके भगवान् ने कहा—"सब लोगों के लिये मेरी यह आज्ञा है कि वे धर्म ही का आश्रय

ग्रहण करें, आत्म-निर्भरता पर दृढ़ रहें और निर्वाण की प्राप्ति के लिये धर्म का दीपक प्रदीप्त करें। जो लोग ऐसा करेंगे, वही भिक्षुओं में अग्रगण्य होने का मान प्राप्त करेंगे। मेरे पीछे यदि कोई भिक्षु अथवा स्थविर तुम्हें किसी बात का उपदेश दे, तो मेरे सिद्धांतों से उस उपदेश का मिलान करके अनुकूल होने ही पर मानना; अन्यथा मत मानना।"

निर्वाण

इधर उधर भ्रमण करते हुए जब बुद्ध भगवान् गया से कुशीनगर आ रहे थे, तब रास्ते में पावा ग्राम में चुंद नाम के एक लोहार ने उनको संघ समेत भोजनार्थ निमंत्रण दिया। चुंद ने उनके सामने भात और सूअर का मांस परोसा। बुद्ध ने भोजन का तिरस्कार करना उचित न समझ मांस तो आप ले लिया और दूसरी चीज़ें अपने शिष्यों को दे दीं। भगवान् का शरीर पहले से अस्वस्थ था। सूअर का मांस खाने से उनके पेट में दर्द हुआ और उन्हें आँव तथा लहू के दस्त आने लगे। कुशी-नगर पहुँचते पहुँचते वे बहुत कमज़ोर हो गये। वहाँ वे अपने शिष्यों के साथ एक उपवन में ठहरे। दो साल वृक्षों के नीचे बुद्ध की शय्या लगाई गई, जिसका सिरा उत्तर की तरफ़ था। बुद्ध उस पर दाहिनी करवट लेटे। अंतिम समय आने के पहले वे अपने प्रधान शिष्य आनंद को भविष्य में बौद्ध धर्म के प्रचार और उसके संघटन के विषय में उपदेश देते रहे। उन्होंने चार स्थान बतलाये जहाँ बौद्ध धर्म के अनुयायियों को तीर्थ-यात्रा के लिये जाना चाहिए। वे चार स्थान ये हैं—(१) "लुंबिनी" उपवन

जहाँ बुद्ध ने जन्म लिया था; (२) "गया" जहाँ बुद्ध ने "बुद्ध पद" पाया था; (३) "सारनाथ" जहाँ बुद्ध ने प्रथम बार बौद्ध धर्म का उपदेश दिया था; और (४) "कुशीनगर" जहाँ उनका निर्वाण हुआ था। इस तरह अपने शिष्यों को उपदेश देते देते बुद्ध निर्वाण पद को प्राप्त हो गये।

अंतिम संस्कार

बुद्ध का अंतिम संस्कार वैसे ही किया गया जैसे, किसी चक्रवर्ती राजा का किया जाता है। उन का शव पाँच सौ बार कपड़ों की तहों से लपेटा गया। तब वह लोहे के एक संदूक में रक्खा गया, जो तेल से भर दिया गया। उसके ऊपर लोहे की दोहरी चद्दरें चढ़ाई गईं। यह सब इसलिये किया गया, जिसमें बुद्ध के शरीर का अवशेष अग्नि में न मिल जाय; शव के जलने के बाद सुरक्षित मिल जाय। चारों ओर भिक्षु संघों को भगवान के निर्वाण की सूचना दी गई। सातवें दिन अंत्येष्टि क्रिया के लिये शरीर चिता पर रक्खा गया। देश देश से बौद्ध भिक्षु एकत्र हो चुके थे। अग्नि-संस्कार के थोड़े ही पहले महाकाश्यप नामक ऋषि पाँच सौ शिष्यों के सहित वहाँ आए। उन्होंने चिता की तीन बार प्रदक्षिणा करके भगवान के शरीर की पाद-वंदना की। इसके अनंतर अग्नि-संस्कार किया गया और बात की बात में वह अमूल्य शरीर जलकर भस्म हो गया। दूसरे दिन अस्थि-चयन की क्रिया हुई और बुद्ध की अस्थियाँ एक घड़े में रक्खी गई।

अस्थियों का बँटवारा

कहा जाता है कि मल्ल जाति के लोग बुद्ध के अवशेष को

अपने हाथ में रखना चाहते थे। मल्लों के राजा ने चिता के स्थान पर स्तूप बनाने का प्रबंध किया था। इसी बीच में मगध-राज अजातशत्रु ने, वैशाली के लिच्छवियों ने, कपिलवस्तु के शाक्यों ने, अल्लकप्प के बुलियों ने, रामग्राम के कोलियो ने और पावा के मल्लों ने कुशीनगर के मल्ल-राज के पास दूत के द्वारा लिख भेजा—"भगवान् क्षत्रिय थे; हम भी क्षत्रिय हैं। इस नाते उनके शरीर पर हमारा भी स्वत्व है।" वेथदीप के ब्राह्मणों ने भी इसी विषय में मल्ल-राज को लिखा। यह देखकर मल्ल-राज ने कहा—"भगवान् का शरीर हमारी सीमा में छूटा है; अतएव हम किसी को न देंगे।" यह सुनकर सब राजे दलबल सहित कुशीनगर पर चढ़ आये और घोर युद्ध की संभावना होने लगी। यह देख "द्रोण" या "द्रोणाचार्य" नाम के एक ब्राह्मण ने सब के बीच में खड़े होकर कहा—"हे क्षत्रियो! जिस महात्मा ने यावज्जीवन शान्ति का उपदेश दिया, उसी की अस्थियों के अवशिष्टांश के लिये यदि आप लोग घोर युद्ध करें, तो बड़ी लज्जा की बात है। मैं इस पवित्र अस्थि-समूह के आठ भाग किये देता हूँ। आप लोग अपने अपने भाग लेकर सब दिशाओं में उनके ऊपर स्तूप बनाइये, जिससे उनकी कीर्ति दिगन्त-व्यापिनी हो।" इस उचित सम्मति से सब लोग सहमत हुए। तब द्रोणाचार्य ने बुद्ध की पवित्र अस्थियों के आठ भाग किये और वे आठों भाग आठ जातियों में बाँट दिये गये। उन पर प्रत्येक जाति ने एक एक स्तूप बनवाया। इन आठ स्थानों में बुद्ध की अस्थियों के ऊपर स्तूप बनवाये गये थे—राजगृह, वैशाली, कपिलवस्तु, अल्लकप्प, रामग्राम, वेथदीप, पावा और

कुशीनगर। अनन्तर पिप्पलीय वन के मोरिय क्षत्रियों का दूत भाग लेने के लिये आया। द्रोणाचार्य ने उसे चिता की भस्म देकर विदा किया। अन्त में द्रोणाचार्य ने स्वयं उस घड़े पर स्तूप बनवाया, जिसमें अस्थियाँ रखी थीं। काल-क्रम से इन्हीं अस्थियों में कोई भाग या उसका कुछ अंश महाराज कनिष्क की आज्ञा से पश्चिमोत्तर प्रदेश में जा पहुँचा और उस पर एक बड़ा भारी स्तूप बनाया गया। १९०८ में पेशावर के निकट इसी कनिष्क-स्तूप से बुद्ध की कुछ अस्थियाँ प्राप्त हुई थीं।

उक्त जीवनी का ऐतिहासिक सार

ऊपर बौद्ध ग्रंथों के आधार पर बुद्ध भगवान् की जो जीवनी लिखी गई है, वह अनेक अतिशयोक्तियों और कल्पनाओं से पूर्ण है। इसमें से ऐतिहासिक सार केवल यही निकलता है कि बुद्ध का जन्म ईसी से ५६७ वर्ष पहले शाक्यों के प्रजातंत्र राज्य की राजधानी कपिलवस्तु में हुआ था। उनके पिता का नाम राजा शुद्धोदन और माता का नाम मायादेवी था। राजा शुद्धोदन कदाचित् उस प्रजातन्त्र राज्य के प्रधान या सभापति थे। जिस स्थान पर बुद्ध भगवान् का जन्म हुआ था, वह स्थान बौद्ध ग्रन्थों में लुम्बिनी वन के नाम से लिखा गया है। वहाँ आजकल रुम्मिन्देई नामक ग्राम बसा हुआ है और उसके पास ही अशोक का एक स्तम्भ खड़ा है, जिस पर लिखा है—"यहीं भगवान् का जन्म हुआ था"। जन्म के पाँचवें दिन उनका नाम सिद्धार्थ रक्खा गया था। उनके गोत्र का नाम गौतम था, इसी लिये वे गौतम बुद्ध कहलाते थे। उनकी माता मायादेवी उनके जन्म

के सातवें ही दिन स्वर्गवासिनी हुईं; इसलिये उनकी मौसी तथा विमाता प्रजावती ने उनका पालन पोषण किया था। राजकुमार सिद्धार्थ एकान्त-प्रमी थे और खेल कूद या आमोद प्रमोद में बहुत सम्मिलित न होते थे। वे सदा ध्यान में मग्न रहा करते थे और यही सोचा करते थे कि मनुष्य त्रिविध तापों से किस तरह छुटकारा पा सकता है। जब राजा शुद्धोदन ने अन्य प्रकार से कुमार का मन वैराग्य की ओर से हटता न देखा, तब उन्होंने उन्हें विवाह-बन्धन में जकड़ने का मनसूबा बाँधा। सोलह वर्ष की उम्र में राजकुमार का विवाह पड़ोस के कोलिय वंश की राजकुमारी यशोधरा से कर दिया गया। राजकुमार के अट्ठाइसवें वर्ष राजकुमारी यशोधरा गर्भवती हुई और उसके गर्भ से यथा समय राहुल नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। उन्हीं दिनों राजकुमार सिद्धार्थ के मन में संन्यास ग्रहण करने का प्रबल विचार हो रहा था। जिस दिन राहुल उत्पन्न हुआ, उसी दिन आधी रात के समय उन्होंने राज-पाट और धन-सम्मान को सदा के लिये त्यागकर जंगल का रास्ता लिया। बहुत दिनों तक उन्होंने इधर उधर घूम फिरकर पण्डितों से ज्ञान प्राप्त करना चाहा। पर पण्डितों की शिक्षा से उनको वह ज्ञान न प्राप्त हुआ, जिसकी खोज में वे घर से बाहर निकले थे। तब उन्होंने यह सोचा कि सब से पहले शारीरिक शुद्धता के लिये तपस्या करना आवश्यक है; क्योंकि बिना इसके चित्त शुद्ध नहीं हो सकता। इस विचार से वे गया जी के निकट उरुबिल्व नामक ग्राम में, निरंजना नदी के किनारे, घोर तपश्चर्या में लीन हो गये। वे छः वर्षों तक तपस्या करते रहे। जब उन्होंने देखा कि मामूली तपस्या से

कुछ नहीं होता, तब उन्होंने कठोर से कठोर व्रत और उपवास करना आरंभ किया। यहाँ तक कि वे दिन में सिर्फ एक दाना चावल का खाकर रहने लगे। इससे वे सूखकर काँटा हो गये। जब उन्होंने देखा कि व्रत तथा उपवास करने से और शरीर को कष्ट देने से आत्मिक ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता, तब वे पूर्ववत् भोजन करने लगे। इसके बाद वे आत्मिक ज्ञान की खोज में बुद्ध गया गये। वहाँ वे पीपल के एक वृक्ष के नीचे (जो पीछे से "बोधि-वृक्ष" के नाम से प्रसिद्ध हुआ) बैठ गये और ध्यान करने लगे। जिस समय वे बोधि-वृक्ष के नीचे समाधि में बैठे हुए थे, उस समय उन्हे उस सत्य ज्ञान का प्रकाश मिला, जिससे वे "बुद्ध" पदवी को प्राप्त हुए। "बुद्ध" पद प्राप्त करने के बाद वे बनारस गये और वहाँ उन्होंने मृगदाव (सारनाथ) मे पहले पहल अपने धर्म का उपदेश दिया। इसके बाद वे अपने धर्म का प्रचार करते हुए चारों ओर भ्रमण करने लगे। इसके कुछ ही दिनो बाद बुद्ध के साठ प्रधान शिष्य हो गये, जिनको उन्होंने संघ में संघटित करके भिन्न भिन्न दिशाओं में अपने धर्म का प्रचार करने के लिये भेजा। एक बार वे अपने शिष्यों सहित मगध की राजधानी राजगृह को गये। वहाँ मगध-राज बिम्बिसार बुद्ध का उपदेश सुनकर अपने अनुचरों के साथ बौद्ध मत का अनुयायी हो गया। वहाँ से वे अपनी जन्मभूमि कपिलवस्तु गये। वहाँ शुद्धोदन और उनका समस्त परिवार बुद्ध भगवान का शिष्य हो गया। इस प्रकार बुद्ध के अविश्रान्त परिश्रम से मल्ल, लिच्छवि, शाक्य आदि क्षत्रिय जातियों ने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया। इधर उधर भ्रमण करते हुए बुद्ध भगवान् अन्त में कुशी-

नगर पहुँचे। वहीं ई० पू० ४८७ के लगभग उनका निर्वाण हुआ। अन्तिम संस्कार करने के बाद बुद्ध के शरीर का जो अवशेप प्राप्त हुआ, उस के आठ भाग किये गये। वे आठों भाग आठ जातियों में बाँट दिये गये औन उन पर प्रत्येक जाति ने एक एक स्तूप बनवाया।

पाँचवाँ अध्याय

गौतम बुद्ध के सिद्धान्त और उपदेश

संक्षेप में गौतम बुद्ध के "धम्म" या धर्म का सारांश "आर्य सत्यचतुष्टय" अथवा "चार आर्य (उत्तम) सत्य" है। चारों आर्य सत्य क्रम से ये हैं:—(१) संसार में "दुख" है; (२) दुःख का "समुदय" अर्थात् कारण है; (३) इस दुःख का "निरोध" हो सकता है; और (४) इस दुःख के निरोध का "मार्ग" अथवा उपाय है।

जब गौतम बुद्ध सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के बाद बुद्ध गया से काशी को गये, तब वहाँ उन्होंने अपने पाँच पुराने शिष्यों को उपदेश दिया। उस उपदेश में ये चारों सत्य अच्छी तरह से दिखलाये गये हैं।

आर्य्य सत्य-चतुष्टय—भगवान् बुद्ध ने कहा—"हे भिक्षुओ, जन्म दुःख है, जरा (बुढ़ापा) दुःख है, व्याधि (रोग) दुःख है, मृत्यु दुःख है। जिन वस्तुओं से हम घृणा करते हैं, उनका उपस्थित होना दुःख है। जिन वस्तुओं को हम चाहते हैं, उनका न मिलना दुःख है। सारांश यह कि जीवन की पाँचो कामनाओं में अर्थात् पाँचो तत्वों में लिप्त रहना दुःख है। हे भिक्षुओ, यह प्रथम आर्य सत्य है।

"हे भिक्षुओ, लालसा पुनर्जन्म का कारण है। पुनर्जन्म में फिर लालसाएँ और कामनाएँ उत्पन्न होती हैं। लालसा तीन

प्रकार की है; अर्थात् सुख की लालसा, जीवन की लालसा और शक्ति की लालसा। हे भिक्षुओ, यह द्वितीय आर्य सत्य है।

"हे भिक्षुओ, लालसाओं के पूर्ण निरोध से अर्थात् कामनाओं को दूर करने से, लालसाओं को छोड़ देने से, कामना के बिना कार्य चलाने से और कामनाओं का नाश करने से दुःख दूर हो सकता है। हे भिक्षुओ, यह तृतीय आर्य सत्य है।

"हे भिक्षुओ, यह पवित्र मार्ग आठ प्रकार का है, जिससे दुःख दूर होता है; अर्थात् (१) सत्य विश्वास, (२) सत्य कामना, (३) सत्य वाक्य, (४) सत्य व्यवहार, (५) सत्य उपाय, (६) सत्य उद्योग, (७) सत्य विचार और (८) सत्य ध्यान। हे भिक्षुओ, यह चतुर्थ आर्य सत्य है।" *

इस उपदेश का सारांश यह है कि जीवन दुःख है; जीवन और उसके सुखों की लालसा दुःख का कारण है; उस लालसा के मर जाने से दुःख का नाश हो जाता है; और पवित्र जीवन से यह लालसा नष्ट हो जाती है।

मध्यम पथ—बुद्धदेव ने अपनी धर्म-साधना के लिये "मज्झिमा परिपदा" अर्थात् मध्यम पथ का आविष्कार किया। उन्होंने कहा है—दो अन्तिम कोटियाँ हैं। एक "कामेषु कामसुखल्लिकानुयोगः" अर्थात् विषयों के उपभोग में लीन होकर रहना; और दूसरी "अत्तकिलमथानुयोगः" अर्थात् कठिन साधनाओं के द्वारा आत्मा को शान्त करने में लगे रहना। इन दोनों कोटियों का परित्याग करके इन दोनों के मध्य का मार्ग अवलम्बन करना चाहिए;

---

* महावग्ग, १. ६.

अर्थात् न भोग-विलास में ही आसक्त रहना चाहिए और न अनिद्रा, अनाहार, तपस्या आदि कठोर कष्ट-साधनाओं के द्वारा आत्मा को क्लेश ही देना चाहिए। इन दोनों के बीच में होकर चलना चाहिए। यही बुद्ध भगवान् का "मध्यम पथ" है।*

अनित्य, दुःख और अनात्मा—बुद्ध भगवान् के धर्म का एक और प्रसिद्ध तत्व यह है कि उन्होंने समस्त दृश्यमान वस्तुओं को अनित्य, दुःख और अनात्मा (आत्मा-रहित) कहा है। इस विषय में उनका उपदेश इस प्रकार है—

बुद्ध—भिक्षुगण, रूप नित्य है या अनित्य ?

भिक्षुगण—भगवन्, वह अनित्य है।

बुद्ध—अच्छा; जो अनित्य है, वह दुःख है या सुख; अर्थात् दुःखकर है या सुखकर ?

भिक्षुगण—दुःखकर है।

बुद्ध—जो अनित्य है, दुःखकर है और स्वभावतः विविध प्रकार से परिवर्तनशील है, उसके सम्बन्ध में क्या यह सोचना युक्तिसंगत है कि "यह हमारा है", "यह हम हैं" और "यह हमारी आत्मा है" ?

भिक्षुगण—नहीं भगवन्, ऐसा सोचना उचित नहीं है।†

बुद्ध भगवन् ने और भी कहा है—

" भिक्षुगण, रूप अनात्मा है; अर्थात् रूप आत्मा नहीं है। रूप यदि आत्मा होता, तो उससे पीड़ा कदापि न होती। किन्तु

---

* महावग्ग, १. ६. १७.

† महावग्ग १. ६. ४२.

हे भिक्षुगण, जिस कारण से रूप आत्मा नहीं है, उसी कारण से वह पीड़ा देता है"। *

अविद्या—बुद्ध भगवान् ने अविद्या को सब प्रकार के दुःखों का निदान अथवा मूल कारण कहा है। मूल अविद्या से संस्कार, विज्ञान, नामरूप आदि कारण-परंपरा के द्वारा समस्त दुःख-समूह उत्पन्न होते हैं। अविद्या के निरोध से ही इन दुःख-समूहों का निरोध होता है।

आत्म-निरोध और आत्मोन्नति—बौद्ध धर्म का मुख्य सिद्धान्त यह है कि आत्म-निरोध के द्वारा आत्मोन्नति की जाय। बुद्ध भगवान् ने आत्म-निरोध और आत्मोन्नति पर बड़ा ज़ोर दिया है। अपनी मृत्यु के दिन उन्होंने भिक्षुओं को बुलाकर आत्मोन्नति का मार्ग बतलाया था। यह मार्ग उन्होंने सात भागों में बाँटा है। ये सातों बौद्ध धर्म के सात रत्न कहलाते हैं। भगवान् बुद्ध ने कहा था—हे भिक्षुओ, वे सात रत्न हैं—(१) चारों सच्चे ध्यान; (२) पाप के विरुद्ध चारों प्रकार के बड़े प्रयत्न; (३) महात्मा होने के चारों मार्ग; (४) पाँचो धार्मिक शक्तियाँ; (५) आत्मिक ज्ञान की पाँचो इन्द्रियाँ; (६) सातो प्रकार की बुद्धि; और (७) आठो प्रकार का मार्ग। †

जिन "चार सच्चे ध्यानो" का उल्लेख ऊपर किया गया है, वे देह, ज्ञान, विचार और कारण के विषय मे हैं। जिन "पाप के

---

* महावग्ग १. ६. ३८.

† महा परिनिब्बान सुत्त, ३. ६५.

विरुद्ध चार प्रकार के बड़े प्रयत्नों" का उल्लेख ऊपर किया गया है, वे ये हैं—पाप के रोकने का प्रयत्न; पाप की जो अवस्थाएँ उठती हैं, उनको रोकने का प्रयत्न; भलाई करने का प्रयत्न; और भलाई को बढ़ाने का प्रयत्न। वास्तव में इन चारों प्रयत्नों से यह तात्पर्य है कि मनुष्य जीवन भर अधिक भलाई करने के लिये सच्चा और निरन्तर उद्योग करे। "महात्मा होने के चारों मार्ग" ये हैं—इच्छा करना, प्रयत्न करना, तैयारी करना और खोज करना। "पाँचो धार्मिक शक्तियाँ" और "आत्मिक ज्ञान की पाँचो इन्द्रियाँ" ये हैं—विश्वास, पराक्रम, विचार, ध्यान और बुद्धि। "सात प्रकार की बुद्धियाँ" ये है—शक्ति, विचार, ध्यान, खोज, आनन्द, आराम और शान्ति। "आठ प्रकार के मार्ग" का वर्णन पहले ही किया जा चुका है। इस प्रकार की विस्तृत आत्मोन्नति के द्वारा विचिकित्सा (सन्देह), कामासक्ति, राग-द्वेष, अभिमान, अविद्या आदि दसों बन्धनों को तोड़ने से अन्त में निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है। धम्मपद मे आत्मोन्नति के विषय में इस प्रकार लिखा है—

"जिसने अपनी यात्रा समाप्त कर ली है, जिसने शोक को छोड़ दिया है, जिसने अपने को सब ओर से स्वतंत्र कर लिया है, और जिसने सब बंधनों को तोड़ डाला है, उसके लिये कोई दुःख नहीं है।

"उसी का विचार शान्त है, उसी के वचन और कर्म शान्त हैं, जो सच्चे ज्ञान के द्वारा स्वतंत्र और शान्त हो गया है।" ❀

❀ धम्मपद ९०, ९६.

निर्वाण या तृष्णाक्षय—बुद्धदेव ने कहा है कि काम अथवा तृष्णा का सब प्रकार से परित्याग करने ही से दुःख का निरोध होता है। इस तृष्णा के नाश ही का नाम "निर्वाण" है; इसी लिये निर्वाण का एक नाम "तृष्णा-क्षय" और दूसरा "अनालय" है। आलय शब्द का अर्थ काम अथवा तृष्णा है।

बहुधा यह विश्वास किया जाता है कि निर्वाण का अर्थ अन्तिम नाश अथवा मृत्यु है। पर यह विश्वास गलत है। निर्वाण का अर्थ मृत्यु या अन्तिम नाश नहीं है। निर्वाण का तात्पर्य यह है कि जिस मानसिक प्रवृत्ति, और जीवन तथा उसके सुखों की जिस तृष्णा के द्वारा मनुष्य पुनर्जन्म के चक्कर में पड़ता है, उसका नाश हो जाय। बुद्धदेव का जिस निर्वाण से तात्पर्य था, वह इसी जीवन में प्राप्त हो सकता है। स्वयं बुद्ध ने वह निर्वाण अपने जीवन में ही प्राप्त किया था। अतएव निर्वाण पाप-रहित जीवन बिताने, तृष्णाओं को त्यागने और निरन्तर आत्मोन्नति करने से प्राप्त होता है। संक्षेप में निर्वाण का अर्थ यह है कि मृत्यु के उपरान्त फिर पुनर्जन्म न हो।

कर्म और पुनर्जन्म—गौतम बुद्ध आत्मा का अस्तित्व नहीं मानते थे; पर आर्यों के मन में आत्मा के पुनर्जन्म का सिद्धान्त इतना जमा हुआ था कि वह निकाला नहीं जा सकता था। इसी कारण गौतम बुद्ध पुनर्जन्म का सिद्धान्त ग्रहण करते हुए भी आत्मा का सिद्धान्त नहीं मानते थे। परन्तु यदि आत्मा ही नहीं है, तो वह क्या वस्तु है जिसका पुनर्जन्म होता है? इसका उत्तर बौद्ध धर्म के कर्मवाद में मिलता है।

बौद्ध धर्म का कर्मवाद या कर्म सम्बन्धी सिद्धान्त संक्षेप में

निम्नलिखित वाक्य में दिया है—" कम्मस्स कोम्हि कम्मदायादो कम्मयोनि कम्मबन्धु कम्मपरिसरणो, यं कम्मं करिस्सामि कल्याणं वा पापकं वा तस्स दायादो भविस्सामि "। यह वाक्य " अंगुत्तर निकाय " और " नेत्तिपकरण " आदि कई स्थानों में मिलता है। इसका अर्थ यह है—"कर्म ही हमारा निज का है, हम कर्म फल के उत्तराधिकारी हैं, कर्म ही हमारी उत्पत्ति का कारण है, कर्म ही हमारा बन्धु है, कर्म ही हमारा शरण्य है। पुण्य हो या पाप, हम जो कर्म करेंगे, उसके उत्तराधिकारी होंगे; अर्थात् उस का फल हमको भोगना होगा। "

संक्षेप में इस सिद्धान्त का तात्पर्य यह है कि मनुष्य के कर्म का नाश नहीं हो सकता और उसका यथोचित फल अवश्य मिलता है। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य के इस जीवन की अवस्था उसके पूर्वजन्म के कर्मों का फल है। बौद्ध ग्रन्थकारों ने एक जन्म से दूसरे जन्म के सम्बन्ध का उदाहरण दीपशिखा से दिया है। जिस तरह एक दीए से दूसरा दीआ जला लिया जाता है, उसी तरह एक जन्म के कर्म्म से दूसरे जन्म की अवस्था निश्चित होती है। पर अब प्रश्न यह उठता है कि यदि आत्मा ही नहीं है, तो वह कौन सी वस्तु है, जिसे कर्मों का फल भोगना पड़ता है? इसका उत्तर यह है कि जब मनुष्य मरता है, तब रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार नामक जिन पाँच स्कन्धों या तत्वों से उसका शरीर बना रहता है, वे भी उसके साथ मर जाते हैं। पर उसके कर्मों के प्रभाव से तुरन्त ही नवीन पंचस्कन्धों का प्रादुर्भाव हो जाता है; और किसी दूसरे लोक या जगत् में एक नया प्राणी या जीव अस्तित्व में

आ जाता है। यद्यपि इस प्राणी या जीव का रूप और स्कन्ध इत्यादि भिन्न होता है, तथापि वास्तव में यह वही प्राणी है, जो अभी गत हो गया है; क्योंकि कर्म दोनों का वही है। अत· एव कर्मरूपी शृंखला ही एक जन्म को दूसरे जन्म से बाँधती है।

प्रज्ञा या ज्ञान यज्ञ—" दीघनिकाय " में राजा महाविजित के यज्ञ का वर्णन करते हुए बुद्धदेव ने कहा है—"हे ब्राह्मण, उस यज्ञ में गोवध नहीं हुआ, छागवध नहीं हुआ, मेपवध नहीं हुआ, कुक्कुटवध नहीं हुआ, शूकरवध नहीं हुआ, और अन्य प्राणियों का भी वध नहीं हुआ। इसी तरह यूप के लिये वृक्ष का छेदन नहीं हुआ और आसन के लिये कुशोच्छेदन भी नहीं हुआ। उस स्थान पर भृत्य, सेवक इत्यादि को दण्ड द्वारा ताड़ना नहीं करनी पड़ी। वे लोग रोते रोते काम नहीं करते थे। जो उनकी इच्छा हुई, वह किया, जो इच्छा न हुई, वह न किया। वह यज्ञ घृत, तैल, नवनीत, दही, गुड़ और मधु के द्वारा ही संपन्न हुआ था।"

इस प्रकार बुद्धदेव ने हिंसात्मक यज्ञ की अपेक्षा अहिंसात्मक यज्ञ की श्रेष्ठता का वर्णन करके उत्तरोत्तर दान आदि के रूप में उत्कृष्ट यज्ञों का उल्लेख किया है। अन्त में बुद्ध ने कहा है कि शील, समाधि और प्रज्ञा-यज्ञ ही सब से उत्कृष्ट और महान् फल के देनेवाले यज्ञ हैं। ब्राह्मण कूटदन्त ने यज्ञ करने के लिये बहुत से पशु एकत्र किये थे। भगवान् के इस सर्वोत्कृष्ट यज्ञ की बात सुनकर वह बहुत प्रसन्न हुआ और बोला—"भगवन्, मैंने आपकी शरण ली है। मैं ये सात सौ बैल, सात सौ बछड़े, सात सौ बछियाँ, सात सौ छाग और सात सौ मेष छोड़े

देता हूँ। मैंने इनको जीवदान दिया। ये सब हरी हरी घास चरें, ठंढा पानी पीयें और ठंढी ठंढी हवा से शीतल हों"।

बुद्धदेव ने त्रिविध यज्ञों की बात बतलाकर अन्त में शील, समाधि और प्रज्ञा-यज्ञ के सम्बन्ध में कहा है कि शील से समाधि और समाधि से श्रद्धा का लाभ होता है। इस प्रकार बुद्ध भगवान् के मत से प्रज्ञा-यज्ञ ही सर्वश्रेष्ठ यज्ञ है।

अनीश्वर वाद—बौद्ध धर्म अनीश्वर-वादी है। उसका सिद्धान्त है कि ईश्वरोपासना न करके भी मुक्ति या निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है। ईश्वर के अस्तित्व या अनस्तित्व से कुछ बनता बिगड़ता नहीं। बुद्धदेव ने वेदों का प्रामाण्य भी नहीं माना है।

मैत्री आदि भावनाएँ—सब प्राणियों को मित्र के समान जानना ही "मैत्री—भावना" है। बौद्ध धर्म मे यह भावना सुप्रसिद्ध और अति रमणीय है। "मुदिता", "उपेक्षा" और "करुणा" आदि और भी कई भावनाओं के द्वारा मनुष्य धीरे धीरे उन्नति करता हुआ निर्वाण के मार्ग में जा सकता है।

जाति-भेद—बुद्ध भगवान् जाति-भेद नहीं मानते थे। बौद्ध धर्म में ऊँच नीच का विचार न था। धार्मिक और पवित्र जीवन व्यतीत करने से, क्या ब्राह्मण और क्या शूद्र, सभी समान रीति से सर्वोच्च प्रतिष्ठा पा सकते थे। जाति-भेद भिक्षुओं के संप्रदाय में तो था ही नहीं। गृहस्थों पर से भी उसका प्रभाव जाता रहा; क्योंकि कोई गृहस्थ, चाहे वह कितने ही नीच वंश का क्यों न होता, भिक्षुओं का संप्रदाय ग्रहण करके बड़ी से बड़ी प्रतिष्ठा पा सकता था। "धम्म-पद" में लिखा भी है—"मनुष्य अपने वंश अथवा जन्म से ब्राह्मण नहीं होता; बल्कि जिसमें सत्यता और पुण्य

है, वही ब्राह्मण है" ❀। "वासेत्थ सुत्त" में भी लिखा है— "मैं किसी को उसके जन्म से अथवा उसके किसी विशेष माता-पिता से उत्पन्न होने के कारण ब्राह्मण नहीं कहता। मैं उसे ब्राह्मण कहता हूँ, जिसके पास कुछ न हो और फिर भी जो किसी वस्तु की लालसा न करे। जो कामना से रहित है और जिसने इन्द्रियों का दमन किया है, उसी को मैं ब्राह्मण कहता हूँ।" एक बार वशिष्ठ और भरद्वाज नाम के दो युवा ब्राह्मण इस बात पर लड़ने लगे कि "मनुष्य ब्राह्मण कैसे होता है"। वे दोनों गौतम के पास उनकी सम्मति जानने के लिये गये। गौतम ने एक व्याख्यान दिया, जिसमें उन्होंने ज़ोर देकर जाति-भेद का खण्डन किया और कहा कि मनुष्यों का गुण उनके कार्य से है, उनके जन्म से नहीं।

गौतम बुद्ध के प्रधान प्रधान सिद्धान्त संक्षेप में ऊपर दिये गये हैं। उनसे पाठकों को बौद्ध धर्म का थोड़ा बहुत ज्ञान हो गया होगा। हम ऊपर कह चुके हैं कि बौद्ध धर्म वास्तव में आत्मोन्नति की प्रणाली है; अर्थात् वह मनुष्य को एक ऐसा मार्ग बतलाता है, जिस पर चलकर वह इस संसार में पवित्र जीवन व्यतीत कर सकता है। बौद्ध-धर्म यह भी कहता है कि जो पवित्र शान्ति आत्मोन्नति करने और पवित्र जीवन व्यतीत करने से मिलती है, वह इसी संसार मे प्राप्त हो सकती है। यही पवित्र शान्ति बौद्धों का स्वर्ग है, यही उनका "निर्वाण" है। गौतम बुद्ध का धर्म परलोक के लिये किसी पुरस्कार का लालच नहीं देता। भलाई स्वयं एक बड़ा पुरस्कार है। पुण्यमय

❀ धम्मपद, ३९३.

जीवन ही बौद्धों का अन्तिम उद्देश्य है। इस पृथ्वी पर पुण्य-मय शान्ति ही बौद्धो का निर्वाण है। बुद्ध ने संसार के इतिहास मे पहले पहल यह प्रकट किया कि प्रत्येक मनुष्य स्वयं अपने लिये इसी संसार और इसी जीवन में बिना ईश्वर या छोटे बड़े देवताओ की कुछ भी सहायता के मुक्ति प्राप्त कर सकता है। यही बुद्ध के धर्म की सब से प्रधान बात है।

श्री विधुशेखर भट्टाचार्य ने बँगला भाषा में "बौद्ध धर्मेर प्रतिष्ठा" नामक एक बहुत ही गंभीर और विचारपूर्ण लेख लिखा है। इस लेख का अनुवाद "सरस्वती" के मई १९१४ वाले अंक में "बौद्ध-धर्म की प्रतिष्ठा" नाम से निकल चुका है। इस लेख में भट्टाचार्य महाशय ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि बौद्ध धर्म कोई स्वतन्त्र धर्म नहीं है; उसकी उत्पत्ति सनातन वैदिक धर्म से ही है। बौद्ध धर्म के जितने प्रधान प्रधान सिद्धान्त हैं, वे सब किसी न किसी रूप में बुद्ध के पहले भी विद्यमान थे। बुद्ध ने केवल यही किया कि उन सब सिद्धान्तो को सनातन वैदिक धर्म से लेकर और उनमे थोड़ा बहुत परिवर्त्तन करके एक नये धर्म की स्थापना की। श्रीविधुशेखर महाशय ने अपने सिद्धान्त के पक्ष मे जो प्रमाण दिये हैं, वे बहुत सयुक्तिक प्रतीत होते हैं। पाठको के मनोविनोद के लिये उस लेख का सारांश हम यहाँ पर दिये देते हैं।

"जिस समय भारत की धर्म-चिन्ता रूपिणी नदी संहिता रूपी पर्वत से निकलकर आरण्यकोपनिषद् नामक गंभीर कन्दरा में उपस्थित हुई, उस समय उसका प्रवाह और भी प्रबल तथा उसका वेग और भी भीषण हो गया। वह नदी कलकल शब्द

करती हुई आगे बढ़ी। इसके बाद धारा-भंग हुआ और एक धारा की तीन धाराएँ हो गई। वे तीन धाराएँ तीन भिन्न दिशाओं मे बहीं। भिन्न प्रकृति के संसर्ग से उनकी प्रकृतियाँ भी भिन्न हो गई: इसलिये उनके नाम भी भिन्न भिन्न हुए। प्रधान धारा का पहला ही नाम रहा और वह वैदिक, हिंदू या ब्राह्मण धर्म के नाम से विख्यात है। अन्य दो धाराओं में एक का नाम बौद्ध और दूसरी का जैन हुआ। इसके सिवा और कुछ नहीं। बौद्ध धर्म हठात् आकाश से अथवा समुद्र से उत्पतित नहीं हुआ। जो धर्म पहले से चला आ रहा था, गौतम बुद्ध ने उसे केवल एक नया रूप दे दिया। जिस तरह प्राचीन वैदिक धर्म ही भिन्न भिन्न अवस्थाओं में परिवर्तन प्राप्त करता हुआ पौराणिक धर्म में परिणत हुआ, उसी तरह बौद्ध धर्म भी इसी प्राचीन वैदिक धर्म का विभिन्न परिवर्तन है। अब आइये देखें कि बुद्ध भगवान ने अपने कौन कौन से सिद्धान्त प्राचीन वैदिक धर्म से लिये हैं।

(१) बौद्ध धर्म का मूल सिद्धान्त "दु:खवाद" है। यह भारतीय दर्शन-शास्त्रों की साधारण बात है। इसमें बौद्ध धर्म की कोई विशेषता नहीं है। इसके लिये प्रमाण देने की भी आवश्यकता नहीं; क्योंकि इसे सभी जानते हैं। तथापि एक प्रमाण का उल्लेख किया जाता है। सांख्य-दर्शन का मूल यही है। दु:ख की निवृत्ति किस तरह होगी, सांख्य-दर्शन यही बताने में प्रवृत्त हुआ है।

(२) बुद्धदेव ने जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधि के रूप में दु:ख का विश्लेषण किया है। किंतु हम यह नहीं कह सकते कि बुद्ध भगवान् ही इस के प्रथम ज्ञाता थे; क्योंकि उपनिषदों में उसके अनेक प्रमाण हैं, जिनमें से कुछ यहाँ दिये जाते हैं।

"न जरा न मृत्युर्न शोक:"—छान्दोग्य, ४८. ८. १.
"न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगम्"—छान्दोग्य, ७. २६. २.
"जरां मृत्युमेति"—बृहदारण्यक, ३. ५. १.
"न तस्य रोगो न जरा न मृत्यु."—श्वेताश्वतर, २. १२.

गीता में भी कहा है—"जन्ममृत्युजरादुखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते" अर्थात् जन्म, मृत्यु और बुढ़ापे के दुःखों से विमुक्त होकर मनुष्य अमृत अर्थात् मोक्ष का अनुभव करता है।

(३) "आर्य सत्य चतुष्टय" नामक चार मूल सूत्रों की कल्पना भी बुद्ध की निज की उपज नहीं है। चिकित्सा शास्त्र में जो बात प्रसिद्ध थी, वही उन्होंने अध्यात्म विद्या में ग्रहण की है *। चिकित्सा शास्त्र चार भागों में विभक्त है—रोग, रोग का कारण, रोग का नाश और रोग के नाश का उपाय। योग शास्त्र भी इसी पद्धति का अवलंबन करता है। उसके चार मूल सूत्र ये हैं:—संसार, संसार का हेतु, मोक्ष (अर्थात् संसार से मुक्ति) और उस मोक्ष का उपाय। पातंजल दर्शन के भाष्यकर्ता ने ये बातें प्रकाशित की हैं:—चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहं रोगः, रोगहेतुः, आरोग्यं, भैषज्यमिति। एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव। तद्यथा-संसारः, संसार हेतुः, मोक्षः, मोक्षोपाय इति।

(४) कहा जाता है कि बुद्धदेव ने "मध्यम पथ" का आविष्कार किया। पर यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि मध्यम पथ की बात बुद्ध के पहले भी प्रचलित थी। बौधायन सूत्र (७. २३–२४) में निम्नलिखित श्लोक पाये जाते हैं—

---

* कर्न कृत "मैनुअल आफ़ बुद्धिज्म" पृष्ठ ४६–४७.

आहिताग्निरनड्वांश्च ब्रह्मचारी च ते त्रयः।
अश्नन्त एव सिध्यन्ति नैषां सिद्धिरनश्नतः॥
गृहस्थो ब्रह्मचारी वा योऽनश्नंस्तु तपश्चरेत्।
प्राणाग्नि होत्रलोपेन अवकीर्णी भवेत्तु सः॥

ये दोनों श्लोक अनशन तपश्चर्या के विरोधी हैं। गीता (६. १६-१७) में भी कहा है—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

अर्थात् बहुत अधिक खानेवाले या बिलकुल न खानेवाले और खूब सोनेवाले अथवा जागरण करनेवाले को योग सिद्ध नहीं होता। जिसका आहार विहार नियत है, कर्मों का आचरण नपा तुला है और सोना-जागना परिमित है, उसी को योग सुखावह होता है।

यही तो है मध्यम मार्ग। आहारादि अधिक करने और न करने, इन दोनों के मध्य होकर चलना ही योग है। बुद्धदेव की उक्तियों से इन उक्तियों मे कुछ भी भिन्नता नहीं। अतः कहना पड़ता है कि बुद्धदेव का यह मध्यम मार्ग कोई नई कल्पना नहीं है।

(५) अनित्य, दुःख और अनात्मा—ये तीन तत्व बुद्धदेव के प्रकाशित किये हुए कहे जाते हैं; पर यथार्थ में ऐसा नहीं है। बुद्धदेव के बहुत पहले ही वे दर्शन शास्त्रों में आलोचित हो चुके हैं। प्रायः सभी दर्शनों में यह जगत्प्रपंच अनित्य, दुःख और अनात्मा कहा गया है। जो अविद्या से ग्रस्त हैं, वही इसको नित्य,

सुख और आत्मा समझते हैं। इस विषय में पातंजल दर्शन में जो कुछ कहा गया है, वह इस प्रकार है—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्य शुचिसुखात्मख्यातिरविद्या। (२.५.)

अर्थात् अनित्य को नित्य, दुःख को सुख और अनात्मा को आत्मा समझनेवाली बुद्धि ही अविद्या है।

(६) बुद्धदेव ने सब दुःखों का मूल अविद्या को ही माना है। यह भी प्रायः सभी दर्शनों और विशेषतः वेदान्त की मूल बात है।

(७) बुद्धदेव ने तृष्णा के नष्ट होने को ही निर्वाण कहा है। यह भी नई बात नहीं है। उपनिषदों में यह बात कई स्थानों पर लिखी गई है। प्रमाण स्वरूप दो एक उदाहरण दिये जाते हैं—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिस्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥

(बृहदारण्यक, ४. ४७.)

अर्थात् जब मनुष्य के हृदय की सब कामनाएँ दूर हो जाती हैं, तभी वह अमर होकर ब्रह्म को प्राप्त होता है।

गीता में भी कहा है—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥

(गीता, २. ७१.)

अर्थात् जो पुरुष सब कामनाओं को छोड़कर और निःस्पृह होकर व्यवहार करता है और जिसे ममत्व तथा अहंकार नहीं होता, उसी को शांति मिलती है।

(८) बुद्धदेव ने हिंसात्मक वैदिक याग-यज्ञों का भी खण्डन किया है। वेदों का प्रामाण्य भी उन्होंने स्वीकृत नहीं किया। पर

इस विषय में भी उनका सिद्धांत नया नहीं है। उनके बहुत पहले सांख्य-दर्शनकार महर्षि कपिल ने तीव्र युक्तियों से वैदिक कार्य-समूह की निन्दा की है। महर्षि कपिल के पहले भी वैदिक कर्म-समूह के प्रति लोग श्रद्धा-रहित हो चुके थे। मुण्डकोपनिषद् (१. २०७) में कहा गया है—

> प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
> एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं पुनरेवापि यान्ति॥

अर्थात् जिनके निकृष्ट कर्म कहे गये हैं, ऐसे अष्टादश जन-युक्त (ऋत्विक् १६ + यजमान १ + यजमानपत्नी १ = १८) यज्ञ रूपी प्लव (नौकाएँ) कमजोर हैं। जो मूर्ख इनको कल्याणकारी समझकर इनका अभिनन्दन करते हैं, वे फिर फिर जरा और मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

वैदिक कर्म-समूह की निन्दा करनेवाली और भी अनेक श्रुतियाँ पाई जाती हैं। गीता में भी कहा है—

> त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
>
> (गीता २.४५.)

अर्थात् हे अर्जुन, वेद सत, रज और तम इन तीनों गुणों की बातों से भरे पड़े हैं; इसलिये तू निस्त्रै-गुण्य अर्थात् त्रिगुणों से अतीत हो।

(९) द्रव्य-यज्ञ आदि की अपेक्षा प्रज्ञा-यज्ञ को ही श्रेष्ठ मानकर बुद्धदेव ने उसका प्रचार किया था। पर उनकी इस बात को भी हम नई नहीं कह सकते। बुद्धदेव ने जैसे पहले द्रव्य-यज्ञ की बात कहकर अन्त में प्रज्ञा-यज्ञ को ही श्रेष्ठता दी है, वैसे ही गीता में भी कहा गया है। यथा—

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाद्ज्ञानयज्ञः परन्तप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते ॥
(गीता, ४. ३३.)

अर्थात् द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानमय यज्ञ श्रेष्ठ है; क्योंकि सब प्रकार के कर्मों का पर्यवसान ज्ञान मे ही होता है।

(१०) बौद्ध धर्म में ईश्वर-वाद नही माना जाता। किन्तु यह भी बुद्धदेव की निजी कल्पना नहीं है। सांख्य और मीमांसा दर्शन यह बात पहले ही से कहते आते थे।

(११) बहुत से लोग बौद्ध धर्म की विशेषता दिखलाने के लिये उसके कर्मवाद का उल्लेख करते हैं। किन्तु प्राचीन हिन्दू धर्म की यह एक बहुत ही प्रसिद्ध बात है। उपनिषदों में इसके संबंध में अनेक वाक्य हैं। बृहदारण्यक मे लिखा है—"पुण्यो वै पुण्ये न कर्मणा भवति, पापः पापेन।" अर्थात् पुण्य कर्म से पुण्य होता है और पाप कर्म से पाप होता है। गीता मे भी कहा है—"लोकोऽयं कर्मबन्धनः"। अर्थात् यह लोक कर्मों से बँधा हुआ है। इसका अर्थ यह है कि लोगो को अपने शुभाशुभ कर्म्मों का फल भोगना पड़ता है।

(१२) मैत्री आदि भावनाएँ बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध लक्षण हैं। पर ये भावनाएँ भी बुद्ध की अपनी कल्पना नहीं हैं। वेद की संहिताओं के समय से ही ये भावनाएँ भारत के भावुको के हृदय में प्रकाशित हुई हैं। ऋषि कहते हैं—

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
(वाजसनेयि संहिता)

अर्थात् मित्र की दृष्टि से हम सब प्राणियों को देखते हैं। पातंजल दर्शन में भी एक सूत्र इसी विषय में है—

"मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।"

अर्थात् मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा इन चार भावनाओं से चित्त मे प्रसन्नता होती है।

इन सब बातों पर विचार करके कहना पड़ता है कि सनातन वैदिक धर्म ही से बौद्ध धर्म की उत्पत्ति हुई है। बस यही श्री विधुशेखर भट्टाचार्य महाशय के लेख का सारांश है।

बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का उल्लेख करने के उपरान्त अब हम गौतम बुद्ध की धार्मिक शिक्षाओं का कुछ सारांश यहाँ देते हैं।

गौतम बुद्ध ने श्रावकों (गृहस्थ शिष्यों) के लिये मनाही की निम्नलिखित पाँच आज्ञाएँ दी हैं, जो निस्सन्देह हिन्दू धर्म शास्त्र के पाँच महापातकों से ली गई हैं—

"श्रावकों को किसी जीव की हत्या न करनी चाहिए और न किसी से हत्या करानी चाहिए; और यदि दूसरे लोग उसकी हत्या करें, तो उनकी प्रशंसा भी नहीं करनी चाहिए। श्रावकों को चाहिए कि वे प्रत्येक प्राणी के वध का विरोध करें, चाहे वह प्राणी छोटा हो या बड़ा, निर्बल हो या बलवान्।

"श्रावकों को किसी स्थान से कभी कोई ऐसी वस्तु न लेनी चाहिए, जिसे वे जानते हों कि दूसरे की है और जो उन्हें नहीं दी गई है। उन्हें दूसरों को भी ऐसी वस्तु न लेने देनी चाहिए; और जो लोग लें, उनकी प्रशंसा न करनी चाहिए। उन्हें सब प्रकार की चोरी का त्याग करना चाहिए।

"बुद्धिमान् मनुष्यों को व्यभिचार का त्याग जलते हुए कोयले की तरह करना चाहिए। यदि वे इन्द्रियों का निग्रह न कर सकें, तो उन्हें दूसरे की स्त्री के साथ व्यभिचार भी न करना चाहिए।

"किसी मनुष्य को न्यायालय में या और कहीं दूसरे से झूठ न बोलना चाहिए। उसे दूसरे से भी झूठ न बोलवाना चाहिए; और जो लोग झूठ बोलें, उनकी प्रशंसा न करनी चाहिए। उसे सब असत्य बातों का त्याग करना चाहिए।

"जो गृहस्थ इस धर्म को मानता हो, उसे कोई नशा न पीना चाहिए। उसे दूसरों को भी नशा न पिलाना चाहिए; और जो लोग पीएँ, उनकी प्रशंसा भी न करनी चाहिए।"*

उक्त पाँचों आज्ञाएँ, जो "पंचशील" के नाम से प्रसिद्ध हैं, सब बौद्धों के लिये अर्थात् गृहस्थ और भिक्षु दोनों के लिये हैं। वे संक्षेप में इस प्रकार कही गई हैं—

(१) किसी जीव को न मारना चाहिए।

(२) जो वस्तु न दी गई हो, उसे न लेना चाहिए; अर्थात् चोरी न करनी चाहिए।

(३) झूठ न बोलना चाहिए।

(४) कोई नशा न करना चाहिए।

(५) व्यभिचार न करना चाहिए।

पाँच नियम और भी दिये गये हैं, जो गृहस्थों के लिये अत्यावश्यक नहीं हैं; पर भिक्षुओं और कट्टर धार्मिक गृहस्थों के लिये परम आवश्यक हैं। वे ये हैं—

---

* धम्मिक सुत्त, सुत्तनिपात (१९—२३)

(६) रात्रि को असमय भोजन नहीं करना चाहिए।

(७) माला नहीं पहननी चाहिए और सुगन्धि नहीं लगानी चाहिए।

(८) भूमि पर बिछौना बिछाकर सोना चाहिए।

(९) नाच और गाने-बजाने आदि से बचना चाहिए।

(१०) सोना और चाँदी काम मे न लाना चाहिए।

ये दसों आज्ञाएँ, जो "दशशील" के नाम से प्रसिद्ध हैं, भिक्षुओं के लिये परम आवश्यक रूप से मानने योग्य हैं।

गृहस्थों के धर्म का जो विस्तृत वर्णन प्रसिद्ध "सिगालोवाद-सुत्त" में दिया है, वह हम यहाँ पर उद्धृत करते हैं।

माता-पिता और सन्तान

माता-पिता को चाहिए कि वे—

(१) लड़कों को पाप से बचावें।

(२) उन्हें पुण्य करने की शिक्षा दें।

(३) उन्हें शिल्पों और शास्त्रों की शिक्षा दिलावें।

(४) उनके लिये योग्य पति या पत्नी ढूँढ़ दें।

(५) उन्हें पैतृक अधिकार दें।

लड़कों को कहना चाहिए—

(१) जिन्होंने मेरा पालन किया है, उनका मैं पालन करूँगा।

(२) मैं गृहस्थी के उन धर्मों का पालन करूँगा, जो मेरे लिये आवश्यक हैं।

(३) मैं उनकी संपत्ति की रक्षा करूँगा।

(४) मैं अपने को उनका उत्तराधिकारी होने के योग्य बनाऊँगा।

(५) मैं उनकी मृत्यु के उपरान्त आदर से उनका ध्यान करूँगा।

गुरु और शिष्य

शिष्य को अपने गुरुओं का सत्कार इस प्रकार करना चाहिए—

(१) उनके सामने उठकर खड़े होना चाहिए।

(२) उनकी सेवा करनी चाहिए।

(३) उनकी आज्ञाओं का पालन करना चाहिए।

(४) उन्हें आवश्यक वस्तुएँ देनी चाहिएँ।

(५) उनकी शिक्षाओं पर ध्यान देना चाहिए।

गुरु को अपने शिष्यों पर इस प्रकार स्नेह दिखाना चाहिए—

(१) उन्हें सब अच्छी बातों की शिक्षा देनी चाहिए।

(२) उन्हें विद्या ग्रहण करने की शिक्षा देनी चाहिए।

(३) उन्हें शास्त्र और विद्या सिखानी चाहिए।

(४) उनके मित्रों और साथियों में उनकी प्रशंसा करनी चाहिए।

(५) आपत्ति से उनकी रक्षा करनी चाहिए।

पति और पत्नी

पति को अपनी पत्नी का इस प्रकार पालन करना चाहिए—

(१) उसके साथ आदर का व्यवहार करना चाहिए।

(२) उस पर कृपा करनी चाहिए।

(३) उसके साथ सच्चा व्यवहार करना चाहिए।

(४) लोगों के सामने उसका सत्कार करना चाहिए।

(५) उसे उचित वस्त्र और आभूषण देने चाहिएँ।

पत्नी को गृहस्थी में इस प्रकार रहना चाहिए—

(१) अपने घर के लोगों से ठीक तरह का बर्ताव करना चाहिए।

(२) मित्रों और सम्बन्धियों का उचित आदर करना चाहिए।

(३) पातिव्रत धर्म का पालन करना चाहिए।

(४) किफायत के साथ घर का प्रबन्ध करना चाहिए।

(५) अपने कार्यों में दक्षता और परिश्रम दिखाना चाहिए।

मित्र और साथी

आर्य पुरुष को मित्रों से इस प्रकार व्यवहार करना चाहिए—

(१) उन्हें उपहार देना चाहिए।

(२) उनसे मृदु संभाषण करना चाहिए।

(३) उन्हें लाभ पहुँचाना चाहिए।

(४) उनके साथ बराबरी का बर्ताव करना चाहिए।

(५) उन्हें साथ रखकर अपने धन का उपभोग करना चाहिए।

मित्रों को उसके साथ इस प्रकार प्रीति दिखानी चाहिए—

(१) जब वह बेखबर हो, तब उसकी निगरानी करनी चाहिए।

(२) यदि वह अल्हड़ हो, तो उसकी संपत्ति की रक्षा करनी चाहिए।

(३) आपत्ति के समय उसे शरण देनी चाहिए।

(४) दुःख के समय उसका साथ देना चाहिए।

(५) उसके कुटुम्ब के प्रति दया दिखलानी चाहिए।

स्वामी और सेवक

स्वामी को सेवकों के साथ इस प्रकार बर्ताव करना चाहिए—

(१) उनकी शक्ति के अनुसार उन्हें काम देना चाहिए।

(२) उन्हे उचित भोजन और वेतन देना चाहिए।

(३) रोग की अवस्था में उनकी सेवा शुश्रूषा करनी चाहिए।

(४) असाधारण उत्तम वस्तुओं में से उन्हें भी कुछ भाग देना चाहिए।

(५) उन्हें कभी कभी छुट्टी देनी चाहिए।

सेवकों को स्वामी के साथ इस प्रकार बर्ताव करना चाहिए—

(१) उन्हें अपने स्वामी के पहले उठना चाहिए।

(२) उन्हे अपने स्वामी के पीछे सोना चाहिए।

(३) उन्हें जो कुछ मिले, उससे सन्तुष्ट रहना चाहिए।

(४) उन्हें पूरी तरह से प्रसन्न होकर कार्य करना चाहिए।

(५) उन्हें स्वामी की प्रशंसा करनी चाहिए।

गृहस्थ और भिक्षु ब्राह्मण

आर्य गृहस्थ को भिक्षुओं और ब्राह्मणों की इस प्रकार सेवा करनी चाहिए—

(१) उसे भिक्षुओं और ब्राह्मणों के प्रति अपने कार्य से प्रीति दिखानी चाहिए।

(२) उसे भिक्षुओं और ब्राह्मणों के प्रति अपने वचन से प्रीति दिखानी चाहिए।

(३) उसे भिक्षुओं और ब्राह्मणों के प्रति विचार में प्रीति दिखानी चाहिए।

(४) उसे भिक्षुओं और ब्राह्मणों का हृदय से स्वागत करना चाहिए।

(५) उसे भिक्षुओं और ब्राह्मणों की सांसारिक आवश्यकताएँ दूर करनी चाहिएँ।

भिक्षुओं और ब्राह्मणों को गृहस्थ के प्रति इस प्रकार प्रीति दिखलानी चाहिए—

(१) उसे पाप करने से रोकना चाहिए।

(२) उसे पुण्य करने की शिक्षा देनी चाहिए।

(३) उसके ऊपर दया-भाव रखना चाहिए।

(४) उसे धर्म की शिक्षा देनी चाहिए।

(५) उसके सन्देह दूर करके स्वर्ग का मार्ग बतलाना चाहिए।

अब हम गौतम बुद्ध की कर्तव्य-विषयक आज्ञाओं को छोड़ कर उनकी परोपकार-विषयक आज्ञाओं और वचनों का वर्णन करेंगे, जिनके कारण बौद्ध धर्म ने संसार में इतनी प्रसिद्धि पाई है। गौतम बुद्ध का धर्म परोपकार और प्रीति का धर्म है। नीचे के वाक्यों में परोपकार और प्रीति की बहुत ऊँची शिक्षा दी गई है।

"घृणा कभी घृणा से दूर नहीं होती; घृणा केवल प्रीति से दूर होती है—यही इसका स्वभाव है।"

"हम लोगों को प्रीति-पूर्वक रहना चाहिए और उन लोगों से घृणा नहीं करनी चाहिए, जो हमसे घृणा करते हैं। जो लोग हमसे घृणा करते है, उनके बीच हमें घृणा से रहित होकर रहना चाहिए।"

"क्रोध को प्रीति से जीतना चाहिए, बुराई को भलाई से जीतना चाहिए, लालच को उदारता से जीतना चाहिए, और झूठ को सत्य से जीतना चाहिए।"*

गौतम बुद्ध ने अपने अनुयायियों को पुण्य और भलाई के

* धम्मपद—५. २१७. २२३.

कार्यों की भी बराबर शिक्षा दी है। कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

"पाप न करना, भलाई करना और अपने हृदय को शुद्ध करना, यही बुद्धों की शिक्षा है।"

"भलाई करनेवाला जब इस संसार को छोड़कर दूसरे संसार में जाता है, तब वहाँ उसके भले कार्य उसके सम्बन्धियों और मित्रों की तरह उसका स्वागत करते हैं।"

"वह मनुष्य बड़ा नहीं है जिसके सिर के बाल पक गये हैं, और जिसकी अवस्था अधिक हो गई है।"

"जिसमें सत्य, पुण्य, प्रीति, आत्मनिरोध और संयम है और जो अपवित्रता से रहित तथा बुद्धिमान् है, वही बड़ा कहलाता है।"*

बुद्ध भगवान की इन उच्च शिक्षाओं का यह प्रभाव हुआ कि कुछ ही शताब्दियों में बौद्ध धर्म केवल एक ही जाति या देश का नहीं, बल्कि समस्त एशिया का मुख्य धर्म हो गया। इस समय भी समस्त संसार के एक तिहाई से अधिक लोग बौद्ध धर्म माननेवाले हैं। यह सब बुद्ध भगवान् की शिक्षा ही का फल है।

—**—

* धम्मपद—१८३, २००, २०७, २६१.

छठा अध्याय

बौद्ध संघ का इतिहास

गौतम बुद्ध ने देश देशांतरो में अपने धर्म का प्रचार करने के लिये भिक्षु-संघ की स्थापना की थी। यह भिक्षु-संघ संसार के धार्मिक इतिहास में अपने ढंग की अनोखी संस्था है। संसार की ऐसी बहुत कम धार्मिक संस्थाएँ हैं, जो उतनी पूर्णता तक पहुँची हों, जितनी पूर्णता तक बौद्ध संघ की संस्था पहुँची है। स्वयं भारतवर्ष के इतिहास मे भी यह संस्था अपनी तुलना नहीं रखती। पर बौद्ध धर्म की तरह बौद्ध संघ की भी जड़ भारतवर्ष की भूमि में पहले ही से विद्यमान थी। भारतवर्ष में बुद्ध से बहुत पहले ही भिक्षु, तपस्वी, संन्यासी, यति, वैखानस, परिव्राजक आदि होते चले आये थे। वैदिक धर्म के ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम में बौद्ध संघ का बीज वर्तमान था। बुद्ध भगवान् ने अपने भिक्षु-संघ के लिये जो नियम बनाये थे, वे प्रायः वही थे, जो धर्मशास्त्रों मे ब्रह्मचारियों और संन्यासियों के लिये लिखे गये है। रामायण, महाभारत और उपनिषदों से पता चलता है कि उस समय स्थान स्थान पर ऋषियों के तपोवन और आश्रम थे, जिनमें ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, परिव्राजक और संन्यासी बहुत बड़ी संख्या में एक साथ रहते हुए अपनी आत्मिक उन्नति किया करते थे। बौद्ध ग्रन्थों से भी इस बात के काफी सबूत मिलते हैं कि बुद्ध भगवान् से पहले और बुद्ध भगवान् के समय में भी झुण्ड के

मुण्ड परिव्राजक और संन्यासी एक स्थान से दूसरे स्थान को विचरा करते थे, या एक ही स्थान पर निवास करते थे। विनय-पिटक में लिखा है कि गौतम बुद्ध के समय में उरुवेल कस्सप, नदी कस्सप और गया कस्सप नाम के तीन जटिल उरुवेल नामक ग्राम में रहते थे। वे क्रम से पाँच सौ, तीन सौ और दो सौ जटिलों के नेता या गुरु थे। जटिल लोग एक प्रकार के वान-प्रस्थ या वैखानस थे। विनयपिटक ही में यह भी लिखा है कि बुद्ध के समय में सजय नाम के परिव्राजक राजगृह में ढाई सौ परि-व्राजको के साथ रहते थे। इसके सिवा बौद्ध ग्रन्थों मे "निर्ग्रन्थ" और "आजीविक" सम्प्रदाय के भिक्षुओ का भी अनेक बार उल्लेख आया है। स्वयं बुद्ध भी "परिव्राजक" रह चुके थे।

इन उल्लेखों से यह सिद्ध होता है कि बुद्ध-अवतार के बहुत पहले से ही भिक्षु, परिव्राजक, संन्यासी आदि किसी न किसी प्रकार की संस्था या संघ बनाकर एक साथ रहा करते थे। अत-एव बुद्धदेव ने जो संघ स्थापित किया था, वह कोई नई चीज नहीं था। इस तरह के संघ उनके समय में बहुत प्रचलित हो चुके थे। बुद्धदेव ने केवल उस समय के संघों के आधार पर अपना निज का एक संघ स्थापित किया, जो बढ़ते बढ़ते एक समय में समस्त भारत क्या, बल्कि समस्त एशिया में फैल गया।

अब हम बौद्ध संघ का वर्णन करते हुए आपको यह बतलाने का प्रयत्न करेंगे कि—

(१) उसमें किस प्रकार के लोग कैसे भर्ती किये जाते थे।
(२) उसके अन्दर भिक्षुओं का जीवन किस प्रकार का था।
(३) उसकी व्यवस्था और प्रबन्ध किस प्रकार होता था।

संघ में प्रवेश—सब से पहले हम यह बतलाना चाहते हैं कि संघ में किस तरह के लोग भर्ती किये जाते थे और उनके भर्ती करने का ढंग क्या था। जो स्त्री या पुरुष संसार से विरक्त होकर भिक्षुणी या भिक्षु का जीवन व्यतीत करना चाहते थे, वे बिना किसी जाति-भेद के या बिना ऊँच नीच के किसी विचार के संघ में भर्ती कर लिये जाते थे। बुद्ध के पहले शूद्र वर्ण के लोग वानप्रस्थ, परिव्राजक या भिक्षु न हो सकते थे। पर बुद्ध ने ऊँच नीच का भेद उठाकर बौद्ध संघ का द्वार शूद्रों के लिये भी खोल दिया। हाँ निम्नलिखित व्यक्ति, चाहे वे कितनी ही ऊँची जाति के क्यो न होते, संघ में भर्ती नहीं किये जाते थे। वे व्यक्ति ये थे—(१) जिसको कोढ़ या दूसरी छूत की बीमारी हो; (२) जो राज-सेवा में हो; (३) जो चोर, डाकू या लुटेरा हो; (४) जिसे राज-दण्ड मिला हो; (५) जो ऋणी (कर्ज़दार) हो; (६) जो किसी का दास हो; (७) जो पंद्रह वर्ष से कम उम्र का हो; (८) जो नपुंसक हो; (९) जो लूला लँगड़ा हो या जिसके किसी अंग में कज हो; और (१०) जिसने किसी की हत्या की हो।*

जब कोई व्यक्ति घर छोड़कर संघ में भर्ती होने के लिये आता था, तो कहा जाता था कि उसने—"पब्बज्जा" (प्रव्रज्या) ग्रहण की है। प्रव्रज्या ग्रहण करने के बाद संघ में भर्ती होने के समय जो संस्कार किया जाता था, उसे "उपसम्पदा" कहते थे। उपसम्पदा संस्कार होने के बाद पुरुष या स्त्री "भिक्षु" या "भिक्षुणी" कहलाती थी; और संघ के अन्तर्गत जितने अधिकार

---

* महावग्ग (विनयपिटक) १—३९,४०,४१,४२,४३,४४,४५,४६,४७,५०,६१,७१।

थे, वे सब उसे प्राप्त होते थे। प्रारम्भ में बुद्ध के समय जो लोग संघ में भर्ती होना चाहते थे, वे बुद्ध के पास जाते थे; और बुद्ध भगवान् स्वयं उनका प्रव्रज्या और उपसम्पदा दोनों संस्कार करते थे। सब से पहले जिन लोगों ने बुद्ध के हाथों प्रव्रज्या और उपसम्पदा ग्रहण की, वे पाँच भिक्षु थे, जो पहले बुद्ध का साथ छोड़कर काशी चले गये थे। पर जब संघ बढ़ा और लोग अधिक संख्या में भिक्षु बनने लगे, तब बुद्ध भगवान् ने अपने शिष्यों को भी प्रव्रज्या और उपसम्पदा देने का अधिकार दे दिया। जो व्यक्ति उपसम्पदा ग्रहण करने के लिये आता था, पहले उसका मुण्डन कराया जाता था। मुण्डन के बाद उसे पीत या काषाय वस्त्र धारण करने के लिये दिया जाता था। वस्त्र धारण करके वह भिक्षुओं को प्रणाम करता था और उकड़ूँ होकर बैठ जाता था। इसके बाद वह कहता था—"अहं बुद्धं शरणं गच्छामि। अहं धर्मं शरणं गच्छामि। अहं संघं शरणं गच्छामि।"

बाद को "उपसंपदा" के लिये एक नई विधि निकाली गई। इस नई विधि के अनुसार जिस "उपज्झाय" (उपाध्याय) से उपसंपदा ग्रहण की जाती थी, उसका दरजा बहुत महत्व का समझा जाता था। जो मनुष्य उपसंपदा ग्रहण करने के लिये उपाध्याय या आचार्य के पास आता था, वह "सद्धिविहारिक" (सार्धविहारिक) या "अन्तेवासिक" कहलाता था। उपसंपदा ग्रहण करने के बाद जिस भिक्षु के दस वर्ष बीत चुकते थे और जो योग्य तथा विद्वान् होता था, वही आचार्य हो सकता था। अन्तेवासी अपने उपाध्याय से जिस प्रकार उपसंपदा ग्रहण करता था, उसका क्रम नीचे लिखा जाता है।

अन्तेवासी अपना वस्त्र इस तरह पहनकर कि एक कन्धा खुला रहे, उपाध्याय के पास आता था; और उपाध्याय के चरणों में प्रणाम करके पास ही उकड़ूँ होकर बैठ जाता था। तब वह हाथ जोड़कर तीन बार कहता था—"भगवन्, मुझे अपना अन्तेवासी बनाइए।" यदि उपाध्याय "हाँ" कह देता था, तो यह समझा जाता था कि उसकी प्रार्थना स्वीकृत की गई। इसके बाद भिक्षुओं की एक परिषद् या सभा इस बात पर विचार करने के लिये बैठती थी कि यह मनुष्य संघ में भर्ती किया जाय या नहीं। भिक्षुओं की परिषद् या सभा उससे कई प्रश्न करती थी; और जब वह उन प्रश्नों के उत्तर देने में पूरा उतरता था, तब भर्ती होने के योग्य समझा जाता था। तब संघ का कोई एक भिक्षु कम से कम दस भिक्षुओं की परिषद् या सभा के सामने आकर यह सूचित करता था—"संघ के सब लोग सुनें कि अमुक व्यक्ति अमुक उपाध्याय से उपसंपदा ग्रहण करना चाहता है। यदि संघ उसे लेने को तैयार हो और आज्ञा दे, तो वह उपस्थित किया जाय।" आज्ञा मिलने पर वह व्यक्ति परिषद् के सामने आता था और भिक्षुओं के चरण छूकर उकड़ूँ बैठ जाता था। इसके बाद वह हाथ जोड़कर तीन बार कहता था—"मैं संघ से उपसंपदा के लिये प्रार्थना करता हूँ। कृपाकर संघ इस पापपूर्ण संसार से मेरा उद्धार करे।"

तब एक योग्य और विद्वान् भिक्षु यह "ञत्ति" (ज्ञप्ति या प्रस्ताव) करता था—"मैं संघ को सूचित करता हूँ कि अमुक नाम का यह व्यक्ति अमुक नाम के उपाध्याय से उपसंपदा ग्रहण करना चाहता है। यदि संघ पसन्द करे, तो मैं इस व्यक्ति

से उसके बारे में प्रश्न करूँ।" संघ की आज्ञा मिलने पर वह उस व्यक्ति से प्रश्न करता था—"क्या तुमको कोढ़, क्षय या इसी तरह की कोई दूसरी बीमारी तो नहीं है ? तुम नपुंसक तो नहीं हो ? तुम किसी के दास तो नहीं हो ? तुम किसी के ऋणी तो नहीं हो ? तुम सरकारी सेवा में तो नहीं हो ? क्या तुम्हारे माता-पिता ने तुम्हें इसके लिये आज्ञा दे दी है ? तुम बीस वर्ष से कम के तो नहीं हो ? तुम्हारा भिक्षा-पात्र और वस्त्र तो ठीक हैं ? तुम्हारा नाम क्या है ? तुम्हारे उपाध्याय का नाम क्या है ?"

इन प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर मिलने पर एक विद्वान् और योग्य भिक्षु संघ के सामने यह ज्ञप्ति या प्रस्ताव उपस्थित करता था—"मैं संघ को यह सूचित करता हूँ कि अमुक नाम का यह व्यक्ति अमुक नाम के उपाध्याय से उपसंपदा ग्रहण करना चाहता है। वह सब तरह से उपसंपदा के योग्य है। उसके वस्त्र और भिक्षा-पात्र भी ठीक है। वह उपसम्पदा ग्रहण करने के लिये संघ की आज्ञा चाहता है। यदि संघ आज्ञा दे, तो वह अमुक नाम के उपाध्याय से उपसम्पदा ग्रहण करे। यदि कोई इस प्रस्ताव के विरुद्ध हो, तो बोले।"

इसी तरह वह संघ के सामने तीन बार घोषणा करता था। जब समस्त संघ यह प्रस्ताव स्वीकृत कर लेता था, तब वह संघ में भर्ती किया जाता था और उसका उपसम्पदा संस्कार पूरा होता था।

पर दो प्रकार के व्यक्ति ऐसे थे, जो संघ में किसी प्रकार भर्ती नहीं किये जाते थे। उनमें से एक तो वे लोग थे, जो पहले किसी विरुद्ध धर्म में थे, पर किसी कारण से बौद्ध संघ में आना

चाहते थे; और दूसरे वे लोग थे, जिनकी उम्र पंद्रह वर्ष से अधिक और बीस से कम होती थी। जो लोग कोई दूसरा धर्म छोड़कर संघ में भर्ती होना चाहते थे, उन्हें संघ की ओर से यह आज्ञा मिलती थी कि तुम चार मास तक "परिवास" करो; अर्थात् चार महीने तक यहाँ रहकर अपने चाल चलन की परीक्षा दो। यदि वे चार महीने के अन्दर अपने चाल चलन से भिक्षुओं को प्रसन्न न कर सकते थे, तो उनका उपसम्पदा संस्कार नहीं किया जाता था। जो व्यक्ति पंद्रह वर्ष से अधिक, पर बीस वर्ष से कम का होता था, वह केवल "प्रव्रज्या" संस्कार के योग्य समझा जाता था; और "उपसम्पदा" के लिये उसे बीस वर्ष की उम्र तक रुकना पड़ता था। इस बीच में उसे बहुत कड़े नियमों का पालन करके किसी उपाध्याय के अधीन रहना पड़ता था। इस अवस्था में वह "सामणेर", "श्रामणेर" या "श्रमणोद्देश" (जिसका उद्देश्य श्रमण होना हो) कहलाता था। उसे (१) हिंसा न करना, (२) चोरी न करना, (३) झूठ न बोलना, (४) नशा न करना, (५) व्यभिचार न करना, (६) असमय भोजन न करना, (७) सुगन्धि इत्यादि का व्यवहार न करना, (८) खाट या गद्देदार बिछौने पर न सोना, (९) नाचने, गाने और बजाने तीनों से प्रेम न करना, (१०) सोना और चाँदी काम में न लाना, इन दस शीलों का नियमपूर्वक पालन करना पड़ता था। यदि वह पहले पाँच शील या नियम तोड़ता था, या बुद्ध, धर्म और संघ के विरुद्ध कुछ कहता था, या असत्य सिद्धान्तों का पोषण करता था, या भिक्षुणियों के साथ व्यभिचार करता था, तो वह संघ से निकाल दिया जाता था। यदि वह पूर्वोक्त अन्तिम पाँच

नियमों में से कोई नियम तोड़ता था, तो उसे केवल दण्ड दिया जाता था। उपाध्याय की आज्ञा से कोई एक भिक्षु उसे दण्ड दे सकता था।

भिक्षुणियों का भी प्रव्रज्या और उपसंपदा संस्कार उसी तरह होता था, जिस तरह भिक्षुओं का होता था।

संघ का भीतरी जीवन—उपसम्पदा संस्कार के बाद नये भिक्षु को संघ के सब नियम बता दिये जाते थे। संघ में उसे किस तरह का जीवन बिताना पड़ेगा, यह भी उसे बताया जाता था। भिक्षुओं को संघ में रहकर कैसा पवित्र जीवन बिताना पड़ता था, यह उसके निम्नलिखित नियमों से प्रकट होगा।

(१) जिस भिक्षु को उपसम्पदा संस्कार मिल गया हो, उसे हर एक प्रकार के व्यभिचार से बचना चाहिए।

(२) उसे किसी दूसरे का एक तिनका भी बिना पूछे न लेना चाहिए और न कोई चीज़ चुरानी चाहिए।

(३) उसे कोई जीव न मारना चाहिए; यहाँ तक कि एक च्यूँटी की भी हत्या न करनी चाहिए।

(४) उसे किसी दैवी या मानुषी शक्ति का दावा न करना चाहिए।

संघ के नियमों के अनुसार अपना जीवन बिताने के लिये विशेष प्रकार की शिक्षा भी आवश्यक थी। इसलिये यह नियम था कि नया भिक्षु पहले दस वर्षों तक अपने उपाध्याय या आचार्य के बिलकुल अधीन रहे। दोनों में कैसा सम्बन्ध रहना आवश्यक होता था, यह विनयपिटक के "महावग्ग" में बहुत विस्तार के साथ दिया है। दोनों के पारस्परिक संबंध के विषय में गौतम

बुद्ध ने यह नियम बताया था—"हे भिक्षुओ, उपाध्याय को चाहिए कि वह "सद्धिविहारिक" या शिष्य को अपने पुत्र की तरह समझे; और सद्धिविहारिक को भी चाहिए कि वह उपाध्याय को अपने पिता की तरह माने। इस तरह दोनों एक दूसरे का आदर, विश्वास और सहयोग करते हुए धर्म और विनय की उन्नति करें।"

सद्धिविहारिक अपने उपाध्याय की सेवा दास या भृत्य की तरह करता था। वह प्रातःकाल उपाध्याय को कुल्ला दातुन करने के लिये पानी, और तब जलपान देता था। वह उपाध्याय के साथ भिक्षा माँगने के लिये जाता था, उसे पीने के लिये पानी देता था, उसके स्नान के लिये पानी लाता था, उसके वस्त्र सुखाता था और उसके रहने का स्थान झाड़ता बुहारता था। तात्पर्य यह कि वह उपाध्याय की हर प्रकार से सेवा करता था।

इसी तरह उपाध्याय भी अपने सद्धिविहारिक की आत्मिक और शारीरिक उन्नति का पूरा पूरा ध्यान रखता था। वह उसे शिक्षा देता था, बीमारी में उसकी सेवा टहल करता था और हर प्रकार से उसकी देखभाल रखता था। यदि शिष्य कोई बहुत ही अनुचित कार्य करता था, तो उपाध्याय उसे निकाल देता था; किन्तु क्षमा माँगने पर उसे क्षमा भी कर देता था। यदि उपाध्याय संघ छोड़कर कहीं चला जाता था, या मर जाता था, या गृहस्थाश्रम में लौट जाता था, या किसी दूसरे संप्रदाय का अनुयायी हो जाता था, तो सद्धिविहारिक को अपने लिये दूसरा आचार्य चुनना पड़ता था।

उपाध्याय के साथ दस वर्षों तक इसी तरह रहने के बाद

भिक्षु बौद्ध संघ का एक पूरा अंग हो जाता था। अब उसका जीवन संघ के जीवन में इतना मिल जाता था कि उसके व्यक्तिगत जीवन का एक तरह से लोप ही हो जाता था। छोटी छोटी बातों में भी उसे संघ के नियमों के अनुसार ही अपना जीवन बिताना पड़ता था। यदि वह उन नियमों का कुछ भी भंग करता था, तो उसे संघ की ओर से उचित दण्ड दिया जाता था। उसे किस तरह का वस्त्र पहनना चाहिए, कहाँ सोना चाहिए, कहाँ बैठना चाहिए, कैसा भोजन करना चाहिए, कैसा पात्र रखना चाहिए, कैसे स्नान करना चाहिए इत्यादि छोटी छोटी बातों के भी अनेक नियम थे, जिनका पालन करना भिक्षुओं के लिये परमावश्यक था। इन नियमों का संबंध भिक्षु के समस्त जीवन से था। बौद्ध संघ का यह सिद्धांत था कि भिक्षु तुच्छ से तुच्छ और आवश्यक से आवश्यक कार्य भी संघ की आज्ञा के बिना न करे।

भिक्षुओं को तीन वस्त्र पहनने की आज्ञा थी, जो "त्रिचीवर" कहलाते थे। "अन्तर्वासक", "उत्तरासग" और "संघाटी" ये तीनों मिलकर त्रिचीवर कहलाते थे। काषाय रंग के होने के कारण भिक्षुओ के वस्त्रों को "काषाय" भी कहते थे। "अन्तर्वासक" नीचे का वस्त्र था और कमर से लटकता रहता था। "उत्तरासंग" ऊपर का वस्त्र था और उससे एक कन्धा, छाती और दोनो जाँघें ढकी रहती थीं; अर्थात् वह एक कन्धे से लेकर दोनों जाँघों के नीचे तक लटकता रहता था। "संघाटी" भी ऊपर का वस्त्र था, और वह छाती तथा दोनों कन्धों के चारों ओर लपेटा जाता था। वह एक तरह का लबादा सा होता था

और कन्धों से लेकर जाँघों तक लटकता रहता था। वह कमर में एक डोरी से बाँध लिया जाता था। उपासकों या गृहस्थ बौद्धों के लिये यह बड़े पुण्य का कार्य गिना जाता था कि वे संघ के भिक्षुओं को वस्त्र देकर उनकी आवश्यकता पूरी करें। हर वर्षा ऋतु के अनन्तर प्रत्येक संघ में वस्त्रों का वितरण होता था।

भिक्षुओं के लिये खड़ाऊँ पहनना भोग-विलास समझा जाता था। बौद्ध ग्रन्थों में कई प्रकार के जूतों का पहनना खास तौर पर मना किया गया है। छाता अनावश्यक गिना जाता था। हाँ, पंखा और चौरी काम में लाना मना नहीं था। इन तीन वस्त्रों के सिवा भिक्षुओं की सामग्री एक भिक्षा-पात्र, एक मेखला (कर्धनी), एक वासि (उस्तरा), एक सूची (सूई) और एक परिस्रावण (छन्ना) था। उस्तरा सिर और दाढ़ी के बाल बनाने के लिये काम मे लाया जाता था। आम तौर पर भिक्षु लोग हर पन्द्रहवें दिन एक दूसरे का मुण्डन कर दिया करते थे।

वर्षा ऋतु में भिक्षुओ को भ्रमण करने की आज्ञा न थी। वर्षा काल उन्हें एक ही जगह रहकर बिताना पड़ता था। "वर्षा-वास" या चातुर्मास्य आषाढ़ की पूर्णिमा से प्रारम्भ होकर कार्तिक की पूर्णिमा को समाप्त होता था। यह पता नहीं लगता कि जब बौद्ध संघ का प्रारम्भ हुआ, तब भिक्षु लोग चातुर्मास्य में तथा अन्य ऋतुओं में कहाँ रहते थे। कहा जाता है कि शुरू शुरू में भिक्षुओं के रहने का कोई निश्चित स्थान न था। वे या तो वनों मे रहते थे, या पेड़ों के नीचे पड़े रहते थे, या पहाड़ की गुफाओं में रहते थे, या श्मशान में रहते थे, या खुली हवा में रहते थे, या फूस का ढेर बिछाकर रात काट देते थे। यह देखकर राज-

गृह के एक सेठ ने भिक्षुओं के लिये मकान बनवाने की इच्छा प्रकट की। इस पर भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओं से कहा—"भिक्षुओ, मैं तुम्हें पाँच प्रकार के स्थानों में रहने की अनुमति देता हूँ—यथा (१) विहार, (२) अड्डयोग (गरुड़ की आकृति का बना हुआ मकान), (३) प्रासाद, (४) हर्म्य (पत्थर का छतदार मकान) और (५) गुहा।" भिक्षुओं से यह सुनकर कि भगवान् ने अपनी अनुमति दे दी है, उस सेठ ने एक ही दिन में साठ मकान बनवा दिये। इस पर बुद्ध ने उस सेठ को धन्यवाद दिया।

"विहार" से केवल मठ ही का तात्पर्य नहीं है, बल्कि उससे मन्दिर या पूजन स्थान का भी तात्पर्य है। मठ के लिये दूसरा शब्द "संघाराम" भी है। हर एक बड़े संघाराम के साथ एक विहार या पूजा-मन्दिर अवश्य रहता था। गुहा एक प्रकार का कोठा था, जो पहाड़ की चट्टान काटकर बनाया जाता था। जो सब से प्राचीन गुहाएँ अब तक मिली हैं, वे गया के पास बराबर और नागार्जुनि की पहाड़ियों में हैं। ये गुफाएँ अशोक और उसके पोते दशरथ ने आजीविकों के लिये बनवाई थीं।

भिक्षुओं के लिये बुद्ध भगवान् की यह आज्ञा थी कि वे अपनी जीविका के लिये स्वयं अपने श्रम से उपार्जित करें; अर्थात् वे भिक्षा माँगकर भोजन करें। पर साथ ही उनके लिये एक यह भी नियम था कि वे भिक्षा माँगते समय मुँह से कुछ भी न कहें; अर्थात् जो कुछ उन्हें मिले, उसे चुपचाप ग्रहण कर लें।

भिक्षु लोग बीमारी की हालत में दवा के तौर पर घी, मक्खन, तेल, शहद और चीनी काम में ला सकते थे। विनय-

पिटक में भिन्न प्रकार की औषधियाँ बनाने और चीर फाड़ करने की विधि लिखी है, जिससे हमें उस समय की वैद्यक विद्या का भी कुछ कुछ पता लगता है।

संघ का प्रबन्ध—अब हम यह बतलाना चाहते हैं कि संघ की व्यवस्था और प्रबन्ध कैसा था। जब तक बुद्ध भगवान् जीवित थे, तब तक उनकी आज्ञा और उनके शब्द ही संघ के लिये कानून का काम देते थे। पर दो कारणों से यह व्यवस्था स्थायी न हो सकती थी। पहला कारण तो यह था कि देश में संघ का विस्तार इतना अधिक हो रहा था कि एक आदमी के वश का न रह गया था। दूसरा कारण यह था कि बुद्ध के बाद भी संघ का ठीक ठीक परिचालन करने के लिये किसी स्थायी व्यवस्था की आवश्यकता थी। अतएव धीरे धीरे उस स्थायी व्यवस्था का विकास होने लगा। यद्यपि यह व्यवस्था बहुत दिनों में पूर्ण विकास को पहुँची, तथापि इसका बीज बुद्ध के जीवन-समय मे ही पड़ गया था। बुद्ध के निर्वाण के बाद जब संघ अपने पूर्ण विकास को पहुँच चुका था, तब भी बुद्ध की आज्ञा और बुद्ध के शब्द ही संघ के लिये कानून थे। वास्तव में संघ का यह एक माना हुआ सिद्धान्त था कि बुद्ध को छोड़कर और कोई संघ के लिये नियम या कानून नहीं बना सकता था। दूसरे लोग बुद्ध के बनाये हुए नियमों की केवल व्याख्या कर सकते थे; पर नये नियम नहीं बना सकते थे। यह सिद्धान्त बुद्ध के निर्वाण के बाद राजगृह की प्रथम बौद्ध महासभा में निश्चित हुआ था।

हर एक संघ अपने प्रबन्ध मे स्वतंत्र था। कोई ऐसी बड़ी संस्था न थी, जो कुल संघों पर अपना दबाव रख सकती। यह

एक बड़ी कमी थी, जिसका अनुभव बुद्ध के समय में ही होने लगा था *। इस कमी का परिणाम यह हुआ कि सब संघ अपनी अपनी डफली लेकर अपना अपना राग अलापने लगे थे। कदाचित् इसी कारण पीछे से संघ का ह्रास और अधःपतन भी हुआ। बुद्ध के बाद कोई ऐसी संस्था या व्यक्ति न था, जो सब संघों पर अपना दबाव रखता। बुद्ध ने अपना कोई उत्तराधिकारी भी नहीं नियुक्त किया था। हाँ, उन सब में एक बात की समानता थी। वह यह कि संघ के बारे में जो कुछ बुद्ध ने कहा था या जो निमम उन्होंने बनाये थे, उनके विरुद्ध कोई संघ न जा सकता था; और न उन नियमों में कोई परिवर्तन कर सकता था। "महापरिनिव्वानसुत्त" में अपने निर्वाण के समय बुद्ध भगवान् ने अपने प्रिय शिष्य आनन्द से कहा था—"आनन्द, कदाचित् तुममें से कुछ लोग यह सोचें कि भगवान के निर्वाण के उपरांत हम लोगो को शिक्षा देनेवाला अब कोई न रहेगा। पर ऐसा सोचना ठीक नहीं है। संघ के लिये जो सत्य सिद्धान्त और जो निमय हमने बना दिये हैं, वही तुम्हारे लिये गुरु और आचार्य का काम देंगे।"

आइये अब यह देखें कि प्रत्येक संघ का प्रबन्ध किस प्रकार होता था। इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य पहली बात यह है कि संघ का कुल प्रबन्ध सब भिक्षुओं की राय से या बहुमत से होता था। प्रत्येक संघ में एक परिषद् होती थी। उस परिषद् की बैठक कब होनी चाहिए, कैसे होनी चाहिए, किन किन लोगों को उसमें राय देनी चाहिए, और कैसे राय देनी चाहिए, इन सब

* महावग्ग (१०. १-५.)

बातों के नियम "महावग्ग" में बहुत विस्तार के साथ दिये हैं* । जिन भिक्षुओं को उपसम्पदा मिल चुकी होती थी, वे कुल भिक्षु अपने संघ की साधारण परिषद् के सभ्य हो सकते थे । उनमें से हर एक को उस परिषद् में सम्मति देने का अधिकार होता था। हाँ, कभी कभी दण्ड के तौर पर किसी किसी भिक्षु से सम्मति देने का अधिकार छीन लिया जाता था । परिषद् की कोई बैठक तब तक नियमानुकूल न समझी जाती थी, जब तक सम्मति देने का अधिकार पाये हुए कुल सभ्य उसमें उपस्थित न होते थे; या किसी कारण अनुपस्थित होने पर नियमानुसार अपनी सम्मति न प्रकट करते थे । अनुपस्थित सभ्यों की नियमानुमोदित सम्मति को "छन्द" कहते थे । "महावग्ग" (९. ४.) में इस विषय के नियम दिये हैं कि कम से कम कितने भिक्षुओं की उपस्थिति होने पर परिषद् की बैठक हो सकती थी । भिन्न भिन्न कार्यों के लिये भिन्न भिन्न संख्या नियत थी । कुछ कार्य तो ऐसे थे, जिनके लिये केवल चार भिक्षुओं की उपस्थिति आवश्यक थी; और कुछ कार्य ऐसे थे, जिनके लिये कम से कम बीस भिक्षुओं का उपस्थित होना परमावश्यक था। यदि किसी उपस्थित सभ्य की सम्मति में परिषद् की बैठक नियम-विरुद्ध होती थी, तो वह उसका विरोध कर सकता था ।

जब परिषद् में सब भिक्षु जमा हो जाते थे, तब जो सभ्य प्रस्ताव करना चाहता था, वह अपना प्रस्ताव परिषद् के सामने रखता था । प्रस्ताव की सूचना को "ञत्ति" या "ज्ञप्ति" कहते थे। "ज्ञप्ति" के उपरान्त "कम्मवाची" होती थी; अर्थात् उपस्थित

---

* महावग्ग (९. ३.)

भिक्षुओं से यह प्रश्न किया जाता था कि आप लोगों को यह प्रस्ताव स्वीकृत है या नहीं। यह प्रश्न या तो एक बार किया जाता था, या तीन बार। जब संघ के सामने नियम के अनुसार एक बार या तीन बार प्रस्ताव रख दिया जाता था, तब वह आप ही आप स्वीकृत हो जाता था। यदि कोई सभ्य उसके विरुद्ध कहता था और उस पर मत-भेद होता था, तो बहुमत के अनुसार निर्णय होता था। उपस्थित सभ्यों की राय बाकायदा ली जाती थी। संघ की ओर से एक भिक्षु सब लोगों की राय लेने के लिये नियुक्त किया जाता था।*

यदि परिषद् के सामने कोई ऐसा गंभीर और पेचीदा मामला रखा जाता था, जिसे वह परिषद् न तै कर सकती थी, तो वह मामला उसी स्थान के किसी ऐसे संघ के पास भेज दिया जाता था, जिसमें उससे अधिक भिक्षु रहते थे। विनयपिटक के चुल्ल-वग्ग (४. १४–१७) में इस कार्य की विधि विस्तारपूर्वक दी गई है। जिस संघ के पास यह मामला भेजा जाता था, वह पहले से यह तै कर लेता था कि हम जो फैसला करेंगे, वह तुम्हें मानना पड़ेगा। तब वह संघ उस मामले पर विचार करता था। यदि मामला पेचीदा होता था और उस पर बहुत वाद-विवाद होता था, तो वह मामला एक विशेष परिषद् के सामने रक्खा जाता था। इस परिषद् के लिये केवल बहुत ही योग्य और प्रसिद्ध भिक्षु चुने जाते थे। यदि विशेष परिषद् भी उस मामले में कोई फैसला न कर सकती थी, तो वह उस मामले को फिर संघ के पास भेज देती थी; और संघ में यह मामला बहुमत के अनु-

* चुल्लवग्ग (४. ९.)

सार तै होता था। संघ का साधारण कार्य चलाने के लिये संघ की ओर से कुछ भिक्षु नियुक्त थे। ऐसे पदाधिकारियों की संख्या संघ के भिक्षुओं की संख्या के अनुसार भिन्न भिन्न होती थी; पर निम्नलिखित पदाधिकारी प्रायः प्रत्येक संघ में रहते थे—(१) "भक्तोद्देशक"–जो भिक्षुओं को भोजन बाँटता था; (२) "भण्डागारिक"—जो भण्डार का प्रबन्ध करता था; (३) "शयनासनवारिक"—जो भिक्षुओं के सोने और रहने का प्रबन्ध करता था; (४) "चीवर प्रतिग्राहक"—जो भिक्षुओं के लिये वस्त्रों का प्रबन्ध करता था; (५) चीवरभाजक"—जो भिक्षुओं को वस्त्र बाँटता था; (६) "पात्रग्राहापक"–जो भिक्षुओं को भिक्षा-पात्र बाँटता था: (७) "आरामिक प्रेक्षक"—जो मालियों का निरीक्षण करता था; और (८) "पानीयवारिक"—जो पीने के लिये पानी का प्रबन्ध करता था *। किसी किसी संघ में "नवकर्मिक" नाम का एक और पदाधिकारी रहता था, जिसका काम नई इमारतें बनवाना और पुरानी इमारतों की देखभाल करना होता था।

प्रत्येक संघ में जितने भिक्षु होते थे, उन सब के अधिकार बराबर होते थे। हाँ, वृद्ध और विद्वान् भिक्षुओं का उनकी विद्वत्ता और वृद्धावस्था के कारण अधिक आदर होता था। भिक्षुओं में अवस्था और विद्या के अनुसार थेर (स्थविर) तथा दहर, उपाध्याय तथा सार्धविहारी, आचार्य तथा अन्तेवासी होते थे। पर उनमें भी आपस में और किसी तरह का भेद-भाव न था।

भिक्षुनियों का संघ बिलकुल अलग ही था। भिक्षुनियों के

---

* इन सब पदाधिकारियों के नाम "चुल्लवग्ग" (४-४ और ६-२१) में दिये हैं।

लिये भी वही सब नियम थे, जो भिक्षुओं के लिये थे। आम तौर पर भिक्षुनिओं का संघ भिक्षुओं के संघ के अधीन रहता था। बौद्ध ग्रन्थों में भिक्षुनिओं का दरजा भिक्षुओं से नीचा रक्खा गया है; क्योंकि बुद्ध भगवान् का यह मत था कि स्त्रियों का प्रवेश होने से बौद्ध संघ की पवित्रता कदाचित् जाती रहेगी। इस हानि से बचने के लिये बहुत से नियम और उपनियम बनाये गये थे। पर सिद्धांतों में भिक्षु-संघ और भिक्षुनी-संघ में कोई भेद न था। भिक्षुनी-संघ के विषय मे सब बातें "चुल्लवग्ग" में विस्तार के साथ लिखी हैं।

ऊपर बौद्ध संघ का जो वर्णन दिया गया है, उससे तीन बातें सिद्ध होती है। एक तो यह कि बौद्ध काल में सहयोग का प्रचार बहुत अधिक था। संघ शब्द ही सहयोग का सूचक है। इसी सहयोग के भाव की बदौलत बौद्ध धर्म इतनी उन्नति कर सका था। दूसरी बात यह सिद्ध होती है कि बौद्ध काल मे बहुमत का बड़ा आदर था। बहुमत से जो बात तै हो जाती थी, वही सर्वमान्य होती थी। तीसरी बात जो सिद्ध होती है, वह यह है कि बौद्ध काल में ऊँच नीच का भेद बहुत कम था। ब्राह्मण की भाँति शूद्र भी संघ में प्रवेश कर सकता था; और अपनी योग्यता तथा चरित्र से उच्च से उच्च प्रतिष्ठा का अधिकारी हो सकता था। यही तीन बातें ऐसी हैं, जिनके कारण बौद्ध काल का इतिहास भारतवर्ष के इतिहास में सदा अमर रहेगा।

—o✻✻o—

सातवाँ अध्याय

प्राचीन बौद्ध काल का राजनीतिक इतिहास

शैशुनाग वंश

शैशुनाग वंश की स्थापना—शैशुनाग वंश प्राचीन बौद्ध-काल का पहला राजवंश है, जिसके बारे में ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं, और जिसका समय यदि पूरी तरह नहीं, तो मोटे तौर पर अवश्य निश्चित हो गया है। इस वंश का नाम "शैशुनाग" इसलिये पड़ा कि इसका पहला राजा तथा संस्थापक शिशुनाग था, जिसने ई० पू० ६०० के लगभग इस वंश की नींव डाली। उसने चालीस वर्षों तक राज्य किया। वह एक छोटे से राज्य का राजा था। आजकल पटना और गया नाम के जिले इस राज्य में शामिल थे। गया के पास प्राचीन राजगृह उसकी राजधानी थी।

बिम्बिसार—इस वंश का पाँचवाँ राजा बिम्बिसार था। यह पहला राजा है, जिसके विषय में कुछ विशेष ऐतिहासिक वृत्तान्त मालूम हुआ है। इसने एक नवीन राजगृह की नींव डाली। अंग देश को भी जीतकर इसने अपने राज्य में मिला लिया। आजकल के भागलपुर और मुँगेर जिलों को प्राचीन अंग देश समझना चाहिए। मगध राज्य की उन्नति और आधिपत्य का सूत्रपात इसी अंग देश की जीत से हुआ। अतएव बिम्बिसार यदि मगध साम्राज्य का सच्चा संस्थापक कहा जाय, तो अनुचित

नहीं। उसने कोशल तथा वैशाली* के दो पड़ोसी तथा महाशक्तिशाली राज्यों की एक एक राजकुमारी से विवाह करके अपनी शक्ति तथा प्रतिष्ठा और भी बढ़ाई। बिम्बिसार का राज्य-काल ई० पू० ५२८ से ई० पू० ५०० तक माना जाता है।

अजातशत्रु (कूणिक)—कहा जाता है कि बिम्बिसार अंतिम समय में राज्य की बागडोर अपने पुत्र अजातशत्रु† अथवा कूणिक के हाथ मे देकर एकान्त-वास करने लगा। किंतु अजातशत्रु ने शीघ्र महाराज बनने के लिये अपने पिता को भूखों मार डाला; और इस प्रकार वह पितृ-हत्या करके ई० पू० ५०० के लगभग गद्दी पर बैठा। बौद्ध ग्रंथों से पता लगता है कि जब वह राजगद्दी पर आया, तब बुद्ध भगवान् जीवित थे और इस राजा से एक बार मिले भी थे। लिखा है कि अजातशत्रु ने बुद्ध भगवान् के सामने अपने पापो के लिये पश्चात्ताप किया और उन से बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण की। कोशल देश के राजा के साथ अजातशत्रु का युद्ध हुआ। जान पड़ता है कि इस युद्ध में अजातशत्रु की जीत रही और कोशल देश पर मगध का सिक्का जम गया। अकेले कोशल ही को दबाकर अजातशत्रु संतुष्ट नहीं हुआ। उसने तिरहुत पर भी आक्रमण किया, जिसका फल यह हुआ कि वह तिरहुत को

---

* आजकल के अयोध्या और मुजफ्फरपुर के जिले क्रम से प्राचीन कोशल तथा वैशाली थे।

† श्रीयुक्त बा० काशीप्रसाद जायसवाल ने अजातशत्रु की मूर्ति का पता लगाया है, जो मथुरा के अजायबघर मे खड़ी हुई है। (जर्नल आफ बिहार एंड ओड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, जिल्द ६, भाग २, पृ० १७३-२०४)

अपने राज्य में मिलाकर गंगा और हिमालय के बीचवाले प्रदेश का सम्राट् बन गया। उसने सोन और गंगा नदियों के संगम पर पाटलिग्राम के समीप एक किला भी बनवाया। इसी किले के आस पास अजातशत्रु के पोते उदयन ने एक नगर की नींव डाली, जो इतिहास में कुसुमपुर, पुष्पपुर अथवा पाटलिपुत्र आदि नामों से प्रसिद्ध है। बढ़ते बढ़ते यह नगर केवल मगध की ही नहीं, वरन् समस्त भारत की राजधानी बन गया। फारस का-बादशाह दारा अजातशत्रु का समकालीन था। उन दिनों सिंध और पंजाब का कुछ भाग फारस साम्राज्य में था। इस बात के पुष्ट प्रमाण मिलते हैं कि भगवान् बुद्ध का निर्वाण अजातशत्रु के राज्य-काल मे हुआ। अजातशत्रु के पापमय जीवन का अन्त ई०-पू० ४७५ के लगभग हुआ।

शैशुनाग वंश का अन्त—पुराणों के अनुसार अजातशत्रु के बाद उसके पुत्र दर्शक ने राज्य किया। दर्शक के बाद उदय अथवा उदयिन् ई० पू० ४५० के लगभग राजगद्दी पर बैठा। कहा जाता है कि उसी ने पाटलिपुत्र अथवा कुसुमपुर नामक नगर बसाया। उदयिन् के बाद नंदिवर्द्धन* और महानन्दिन् हुए, जिनके नाम मात्र पुराणों में मिलते हैं। महानन्दिन शैशुनाग वंश का अंतिम राजा था। उसकी एक शूद्रा रानी से महा-

---

* श्रीयुक्त काशीप्रसाद जायसवाल ने उदयिन् तथा नन्दिवर्द्धन की मूर्तियों का पता लगाया है, जो कलकत्ते के अजायबघर मे रखी हुई हैं। (जर्नल आफ बिहार एंड ओड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, जिल्द ५, भाग १, पृ० ८८-१०६.)

पद्मनंद नाम का पुत्र हुआ, जो मगध राज्य को बलपूर्वक छीनकर आप वहाँ का राजा बन बैठा।

नंद वंश

महापद्म नंद—महापद्म नंद ने ई० पू० ३५१ के लगभग नंद वंश की स्थापना की। यह बड़ा प्रसिद्ध और प्रतापशाली राजा था, किंतु साथ ही बड़ा निर्दय और लोभी भी था। ऐसा मालूम होता है कि इन्हीं अवगुणों के कारण तथा शूद्र जाति की स्त्री से उत्पन्न होने के कारण ब्राह्मण लोग इसके कट्टर शत्रु हो गये। जब सिकंदर ने एशिया के अन्य देशों को जीतकर भारतवर्ष पर चढ़ाई की, तब महापद्म नंद ने ४ हज़ार हाथी, २० हजार सवार और २ लाख पैदल सेना लेकर उसके विरुद्ध प्रयाण किया। किंतु सिकंदर पंजाब से आगे न बढ़ा; इस कारण महापद्म नंद से उसकी मुठभेड़ न हुई। महापद्म नंद की एक रानी से आठ पुत्र हुए, जो पिता को मिलाकर "नव नंद" के नाम से विख्यात हैं। कहते हैं कि मुरा नाम की एक दासी से चन्द्रगुप्त नामक एक पुत्र और हुआ, जो "मौर्य" के नाम से प्रसिद्ध है। किंतु यह बात किसी पुराण में नहीं मिलती कि नंद वंश के साथ चन्द्रगुप्त मौर्य का कोई पारिवारिक संबंध था। पुराणों में केवल यह लिखा मिलता है—"ततश्च नव चैतान्नंदान् कौटिल्यो ब्राह्मणस्समुद्धरिष्यति तेषामभावे मौर्याः पृथिवीं भोक्ष्यंति। कौटिल्य एव चन्द्रगुप्तं राज्येऽभिषेक्ष्यति।" अर्थात् "तब कौटिल्य नाम का एक ब्राह्मण नवों नंदों का समूल नाश करेगा। उनके अभाव में मौर्य नाम के राजा पृथ्वी पर राज्य करेंगे। वही कौटिल्य नाम

का ब्राह्मण चंद्रगुप्त को राजगद्दी पर बैठावेगा।" केवल विष्णु पुराण की टीका में इतना और अधिक लिखा हुआ है—"चंद्रगुप्तं नंन्दस्यैव शूद्रायां मुरायां जातं मौर्याणां प्रथमम्।" अर्थात् "चंद्र-गुप्त का नाम मौर्य इसलिये पड़ा कि वह राजा नन्द की मुरा नामक शूद्रा दासी से उत्पन्न हुआ था।" मुद्राराक्षस नाटक से इतना और पता लगता है कि चन्द्रगुप्त नन्द के वंश का था। किन्तु उसमें यह कहीं नहीं लिखा मिलता कि वह नन्द का पुत्र था। चन्द्रगुप्त मौर्य का इतिहास लिखने के पहले हम सिकन्दर के आक्रमण का कुछ वृत्तान्त लिख देना चाहते हैं।

सिकंदर का आक्रमण

सिकन्दर का आगमन—महा प्रतापी सिकन्दर, फारस, सीरिया, मिस्र, फिनीशिया, फिलस्तीन, बाबिलोन, बैक्ट्रिया आदि एशियाई देशों को जीतता और अपने राज्य में मिलाता हुआ ई० पू० ३२७ में लगभग ५०-६० हज़ार वीर योद्धाओं के साथ, हिन्दूकुश के दर्रों को लाँघकर सिकन्दरिया (अलेक्ज़न्ड्रिया) नगर में आकर ठहरा। उस समय काबुल और सिन्धु नदियों के बीच का प्रदेश, जो आजकल का अफगानिस्तान और पश्चि-मोत्तर सीमा प्रान्त है, कई छोटी छोटी स्वतन्त्र तथा युद्ध-प्रिय जातियों के अधिकार में था। ये जातियाँ आपस में सदा लड़ा झगड़ा करती थीं। इनको जीतता तथा इनका दमन करता हुआ सिकन्दर अपनी बड़ी सेना के साथ सिन्धु नदी के किनारे पर आया; और ई० पू० ३२६ की वसन्त ऋतु में उसने अटक से सोलह मील ऊपर ओहिन्द नामक स्थान के पास नावों का पुल

बनाकर सिन्धु नदी को पार किया। फिर उसने तक्षशिला में प्रवेश किया। तक्षशिला के राजा आंभि अथवा आंफिस ने सिकन्दर की शरण में आकर उससे पहले ही सन्धि कर ली थी। वह तन, मन, धन से सिकन्दर की सहायता करने को उद्यत हो गया। तक्षशिला के राजा की इस कायरता का कारण यह था कि उस समय अभिसार नाम के पड़ोसी राज्य से तथा एक और बड़े राज्य से, जिसका राजा पौरस (पौरव अथवा पुरुवर्ष) था, उस की परम शत्रुता थी। इन्हीं दोनों राज्यों के विरुद्ध वह सिकन्दर की सहायता चाहता था और उसकी मदद से उन दोनों को कुचल डालने की इच्छा रखता था। तक्षशिला नगर में आकर सिकन्दर ने पोरस के पास यह सन्देश भेजवाया कि आत्मसमर्पण करके हमारा आधिपत्य स्वीकृत करो, नहीं तो तुम पर चढ़ाई की जायगी।

पोरस के साथ युद्ध—पोरस झेलम और चनाब नदियों के बीचवाले प्रदेश का राजा था। पोरस ने सिकन्दर के पास उसके दूत के द्वारा बहुत ही उद्धत तथा अवज्ञापूर्ण उत्तर भेजवाया, जिससे चिढ़कर सिकन्दर ने सेना को उसके ऊपर चढ़ाई करने की आज्ञा दी। पोरस भी अपनी पूरी शक्ति के साथ सिकन्दर का मुक़ाबला करने के लिये तैयार बैठा था। झेलम नदी के किनारे दोनों का मुक़ाबला हुआ, जिसमें कई कारणों से सिकन्दर की जीत हुई। पोरस बहुत घायल हुआ और कैद कर लिया गया। सिकन्दर ने भारतवर्ष में जितनी लड़ाइयाँ लड़ीं, उनमें यह लड़ाई सब से अधिक प्रसिद्ध और गहरी थी। जब पोरस सिकन्दर के सामने लाया गया, तब उस के हृष्ट पुष्ट शरीर तथा

शिष्टाचार और सभ्य व्यवहार से सिकन्दर बहुत प्रसन्न हुआ; और उसने पोरस से पूछा कि मैं तुम्हारे साथ कैसा बर्ताव करूँ? इस पर पोरस ने कहा कि जैसा एक राजा को दूसरे राजा के साथ करना चाहिए। सिकन्दर इस उत्तर से बहुत प्रसन्न हुआ; और उसने उसे केवल उसका राज्य ही नहीं लौटा दिया, बल्कि बाद को उसे पंजाब में जीती हुई भूमि का प्रतिनिधि-शासक भी नियत कर दिया। पोरस को जीतने के बाद वह चनाब तथा रावी नदियों को पार करता और बीच के देशों को जीतता हुआ ई० पू० ३२६ के सितंबर महीने में व्यास नदी के किनारे आया। किन्तु उसकी सेना ने व्यास नदी के आगे बढ़ने से इन्कार किया। इस पर लाचार तथा दुःखी होकर सिकन्दर ने अपनी सेना को पीछे मुड़ने की आज्ञा दी।

भारत से सिकन्दर का कूच—व्यास नदी के किनारे, उस स्थान पर, जहाँ तक सिकन्दर पहुँचा था और जहाँ से उसकी सेना पीछे की ओर मुड़ी थी, उसने अपनी विजय के उपलक्ष्य में बारह यूनानी देवताओं के नाम पर बारह बड़े बड़े चैत्य या चबूतरे बनवाये। सेना के आगे बढ़ने से इनकार करने पर वह मालव, क्षुद्रक आदि युद्ध-प्रिय और प्रजा-तन्त्र राज्यों को जीतता हुआ फिर झेलम नदी पर वापस आया। वहाँ उसने बहुत सी नावों का संग्रह किया तथा बहुत सी नई नावें बनवाईं। नावों का यह बेड़ा झेलम नदी से ई० पू० ३२६ के सितंबर या अक्तूबर महीने में सिकन्दर की नौ-सेना के सेनापति नेआर्कस (Ne-archos) की अध्यक्षता में रवाना हुआ और उसके बहुत से योद्धाओं को लेकर सिन्धु नदी के मुहाने पर आया। वहाँ से चलकर और अरब समुद्र से होकर इस बेड़े ने ई० पू० ३२४

में फारस की खाड़ी में लंगर डाला। इधर सिकन्दर की नौ-सेना सिन्धु नदी के मुहाने से फारस की ओर रवाना हुई; और उधर स्वयं उसने कुछ फौज लेकर पश्चिमी पंजाब तथा सिन्धु प्रदेश को जीतने के लिये कूच किया। आती बार वह गन्धार प्रदेश तथा उत्तरी पंजाब को जीतता हुआ भारत में आया था। जाती बार वह दूसरे रास्ते से पश्चिमी पंजाब तथा सिन्धु प्रदेश को जीतता हुआ फारस की ओर गया। ई० पू० ३२५ में भारत-वर्ष से रवाना होने के पहले सिकन्दर ने अपने अफसरों तथा भारतीय राजाओं का एक दरबार करके उसमें पोरस को झेलम और व्यास नदियों के बीच के जीते हुए प्रदेश का शासक नियत किया; तथा तक्षशिला के राजा को झेलम और सिन्धु नदियों के बीचवाले प्रदेश का राजा बनाया। भारतवर्ष छोड़ने के एक वर्ष बाद ई० पू० ३२३ में विश्व-विजयी सिकन्दर बैबि-लोन में परलोकवासी हुआ। उसकी मृत्यु से भारतवर्ष में मक-दूनिया के राज्य का भी एक तरह से अन्त हो गया। चन्द्रगुप्त मौर्य ने हिन्दुओं को संघटित करके उन यूनानियों के विरुद्ध बलवा किया, जिन्हें सिकन्दर पश्चिमोत्तर प्रान्त तथा पंजाब पर यूनानी शासन स्थिर रखने के लिये छोड़ गया था। इस बलवे का एक मात्र नेता चन्द्रगुप्त मौर्य था। बलवा करने के बाद चन्द्रगुप्त अपने कुटिल मंत्री चाणक्य की सहायता से नन्द वंश के अन्तिम राजा को मारकर ई० पू० ३२२* के लगभग मगध राज्य के सिंहासन पर बैठा और समस्त भारतवर्ष का एक-छत्र सम्राट् हो गया।

---

* जैन ग्रन्थों के आधार पर श्रीयुक्त काशीप्रसाद जायसवाल का मत है कि चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्य-काल कदाचित् ई० पू० ३२५ से प्रारंभ हुआ

मौर्य वंश

चन्द्रगुप्त मौर्य

चन्द्रगुप्त और सेल्यूकस—सिकन्दर की मृत्यु के बाद चन्द्रगुप्त मौर्य ने अपने देश को विदेशी यूनानियों की पराधीनता से छुड़ा लिया। जिस समय चन्द्रगुप्त अपने साम्राज्य के संघटन में लगा हुआ था, उसी समय उसका एक प्रतिद्वन्द्वी पश्चिमी और मध्य एशिया मे अपने साम्राज्य की नींव डालने का यत्न कर रहा था और सिकन्दर के जीते हुए भारतीय प्रदेशों को अपने अधिकार में लाने की तैयारी में था। सिकन्दर की मृत्यु के बाद उसके सेनापतियों में राज्याधिकार के लिये युद्ध हुआ। इस युद्ध में एशिया के आधिपत्य के लिये एन्टिगोनस और सेल्यूकस नाम के दो सेनापति एक दूसरे का विरोध कर रहे थे। पहले तो एन्टिगोनस ने सेल्यूकस को हराकर भगा दिया; पर ई० पू० ३१२ में सेल्यूकस ने वैबिलोन को फिर से अपने अधिकार में कर लिया; और छः वर्ष के बाद वह पश्चिमी तथा मध्य एशिया का अधिपति हो गया। उसके साम्राज्य के पश्चिमी प्रान्त भारतवर्ष की सीमा तक फैले हुए थे; और इसी लिये वह सिकन्दर के जीते हुए भारतीय प्रदेशों को फिर से अपने अधिकार में लाना चाहता था।

सेल्यूकस का आक्रमण—इस उद्देश्य से उसने ई० पू० ३०५ में या उसके लगभग सिन्धु नदी पार करके सिकन्दर के धावे का अनुकरण करने का उद्योग किया। जब युद्ध-भूमि में दोनों

था। (जर्नल एन्ड प्रोसीडिंग्स, एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, १९१३, पृ० ३१७—१३)

सेनाओं का सामना हुआ, तब चन्द्रगुप्त की सेना के मुक़ाबले में सेल्यूकस की सेना न ठहर सकी। सेल्यूकस को लाचार हो कर पीछे हटना पड़ा और चन्द्रगुप्त के साथ उसी की शर्तों के मुताबिक सन्धि कर लेनी पड़ी। उलटे उसे लेने के देने पड़ गये। भारतवर्ष को जीतना तो दूर रहा, उसे सिन्धु नदी के पश्चिम एरियाना * का बहुत सा हिस्सा चन्द्रगुप्त को दे देना पड़ा। पाँच सौ हाथियों के बदले में चन्द्रगुप्त को सेल्यूकस से परोपनिसदै (Paropanisadai) एरिया (Aria) और अरचोज़िया (Archosia) नाम के तीन प्रांत मिले, जिनकी राजधानी क्रम से आजकल के काबुल, हिरात और कन्धार नाम के तीन नगर थे। इस सन्धि को दृढ़ करने के लिये सेल्यूकस ने अपनी बेटी एथीना, चन्द्रगुप्त को दी। यह सन्धि ई० पू० ३०३ के लगभग हुई। इस प्रकार हिन्दूकुश पहाड़ तक उत्तरी भारत चन्द्रगुप्त के हाथ में आ गया। उन दिनों भारतवर्ष की पश्चिमोत्तर सीमा हिन्दूकुश पहाड़ तक थी। मुगल बादशाहों का राज्य भी हिन्दूकुश तक कभी नहीं पहुँचा था।

मेगास्थनीज़—सन्धि हो जाने के बाद सेल्यूकस ने चन्द्रगुप्त के दरबार में अपना एक राजदूत भेजा। इस राजदूत का नाम मेगास्थिनीज़ था। मेगास्थिनीज़ मौर्य साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र में बहुत दिनों तक रहा, और वहाँ रहकर उसने भारतवर्ष का विवरण लिखा। इस विवरण में उसने उस समय के भूगोल, पैदावार, रीति-रिवाज इत्यादि का बहुत सा हाल

---

* 'एरियाना" आर्य-स्थान का अपभ्रंश मालूम होता है।

दिया है। उसने चन्द्रगुप्त के शासन और सैनिक प्रबन्ध का भी बड़ा सजीव वर्णन किया है, जिससे चन्द्रगुप्त के समय का बहुत सा सच्चा इतिहास विदित होता है।

चन्द्रगुप्त की राजधानी—चन्द्रगुप्त की राजधानी पाटलिपुत्र नगर सोन और गंगा नदियों के संगम पर बसा हुआ था। आजकल इसके स्थान पर पटना और बाँकीपुर नाम के शहर हैं। प्राचीन पाटलिपुत्र भी आजकल की तरह लम्बा ही था। उन दिनों उसकी लम्बाई नौ मील और चौड़ाई डेढ़ मील थी। उसके चारों ओर काठ की बनी हुई एक दीवार थी, जिसमें ६४ फाटक और ५७० बुर्ज थे। दीवार के चारों ओर एक गहरी परिखा या खाई थी, जिसमे सोन नदी का पानी भरा रहता था। राजधानी में चन्द्रगुप्त के महल अधिकतर काठ के बने हुए थे; पर तड़क भड़क और शान शौकत में वे फ़ारस के बादशाहों के महलों से भी बढ़कर थे।

चन्द्रगुप्त का दरबार—चन्द्रगुप्त का दरबार बहुमूल्य वस्तुओ से सुसज्जित था। वहाँ रक्खे हुए सोने चाँदी के बर्तन और खिलौने, जड़ाऊ मेज और कुर्सियाँ तथा बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण देखनेवालों की आँखों में चकाचौंध पैदा करते थे। जब कभी चन्द्रगुप्त बड़े बड़े अवसरों पर राजमहल के बाहर निकलता था, तब वह सोने की पालकी पर चलता था। वह पालकी मोती की मालाओं से सजी रहती थी। जब उसे थोड़ी ही दूर जाना होता था, तब वह घोड़े पर चढ़कर निकलता था; पर लंबे सफर मे वह सुनहली झूलों से सजे हुए हाथी पर रहता था। जिस तरह आजकल बहुत से राजाओं और नवाबो के दरबार में

मुर्गी, बटेर, मेढ़े और साँड़ वगैरह की लड़ाइयाँ होती हैं, उसी तरह चन्द्रगुप्त भी जानवरों की लड़ाइयों से अपना मनोरंजन करता था। उसके दरबार में पहलवानों के दंगल भी होते थे। जिस तरह आजकल घोड़ों की दौड़ होती है, उसी तरह चन्द्रगुप्त के समय में भी बैल दौड़ाये जाते थे; और वह उस दौड़ को बहुत रुचि से देखता था। आजकल की तरह उस समय भी लोग दौड़ में बाज़ी लगाते थे। दौड़ने की जगह छः हज़ार गज़ के घेरे में रहती थी और एक घोड़ा तथा उसके इधर उधर दो बैल एक रथ को लेकर दौड़ते थे। चन्द्रगुप्त को शिकार का भी बड़ा शौक था। जानवर एक घिरी हुई जगह में छोड़ दिया जाता था। वहाँ एक चबूतरा बना रहता था, जिस पर खड़ा होकर चन्द्रगुप्त शिकार को तीर से मारता था। अगर शिकार खुली जगह में होता था, तो वह हाथी पर से शिकार करता था। शिकार के समय अस्त्र शस्त्र से सुसज्जित स्त्रियाँ उसकी रक्षा करती थीं। ये स्त्रियाँ विदेशों से खरीदकर लाई जाती थीं। प्राचीन राजाओं के दरबार में इस तरह की स्त्री-रक्षिकाएँ रहा करती थीं। मुद्राराक्षस और कौटिलीय अर्थ शास्त्र में भी स्त्री-रक्षिकाओं का वर्णन मिलता है। अर्थशास्त्र में लिखा है—"शयनादुत्थितस्स्त्रीगणैर्धन्विभिः परिगृह्येत"। अर्थात् पलंग से उठने के बाद धनुर्बाण से सुसज्जित स्त्रियाँ राजा की सेवा में उपस्थित हों।* जिस सड़क से महाराज का जलूस निकलता था, उसके दोनों ओर रस्सियाँ लगी रहती थीं; और उन रस्सियों के पार जाने-

* कौटिलीय अर्थशास्त्र, अधि० १, अध्या० २१.

वाले को मौत की सजा दी जाती थी। बाद को चन्द्रगुप्त के पोते अशोक ने शिकार खेलने की प्रथा बिलकुल ही उठा दी थी।

चन्द्रगुप्त की जीवन-चर्या—चन्द्रगुप्त प्रायः महल के अन्दर ही रहता था; और बाहर सिर्फ मुक़दमे सुनने, यज्ञ में सम्मिलित होने या शिकार खेलने के लिये निकलता था। उसे कम से कम दिन में एक बार प्रार्थनापत्र ग्रहण करने और मुक़दमे तै करने के लिये अवश्य बाहर आना पड़ता था। चन्द्रगुप्त को मालिश करवाने का भी बड़ा शौक था। जिस समय वह दरबार में लोगों के सामने बैठता था, उस समय चार नौकर उसे मालिश किया करते थे। राजा की वर्षगाँठ बहुत धूमधाम से मनाई जाती थी और बड़े बड़े लोग उसे बहुमूल्य वस्तुएँ भेंट करते थे। पर इतनी अधिक सावधानता और रक्षा होते हुए भी चन्द्रगुप्त को सदा अपनी जान का भय लगा रहता था। वह डर के मारे दिन को या लगातार दो रात तक एक ही कमरे में कभी नहीं सोता था। मुद्राराक्षस में भी लिखा है कि चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को मार डालने की कई बन्दिशों का पता लगाकर उसकी जान बचाई थी।

चन्द्रगुप्त की सफलताएँ—जिस समय चन्द्रगुप्त राजगद्दी पर बैठा, उस समय उसकी अवस्था अधिक न थी। उसने केवल चौबीस वर्षों तक राज्य किया। इससे मालूम होता है कि वह अपनी मृत्यु के समय पचास वर्ष से कम का ही रहा होगा। इस थोड़े से समय में उसने बड़े बड़े काम किये। उसने सिकन्दर की यूनानी सेनाओं को भारतवर्ष से निकाल बाहर किया, सेल्यूकस को गहरी हार दी, एक समुद्र से लेकर दूसरे समुद्र तक कुल उत्तरी भारत अपने अधिकार में किया, बड़ी भारी सेनाएँ संघटित कीं और

बड़े भारी साम्राज्य का शासन किया। चन्द्रगुप्त की राज्यशक्ति इतनी दृढ़ता से स्थापित थी कि वह उसके पुत्र बिन्दुसार और तत्पश्चात् उसके पौत्र अशोक के हाथ में बे-खटके चली गई। यूनानी राज्यों के शासक उसकी मित्रता के लिये लालायित रहते थे। सेल्यूकस के बाद फिर किसी यूनानी राजा ने भारतवर्ष पर चढ़ाई करने का साहस नहीं किया; और चन्द्रगुप्त के बाद दो पीढ़ियों तक यूनानी राजाओं का भारतवर्ष के साथ राजनीतिक और व्यापारिक सम्बन्ध बना रहा।

मौर्य साम्राज्य पर विदेशी प्रभाव—कुछ लेखकों का विचार है कि मौर्य साम्राज्य पर सिकन्दर के आक्रमण का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा; पर यह कथन ठीक नहीं है। सिकन्दर केवल उन्नीस महीने भारतवर्ष में रहा। ये उन्नीस महीने सिर्फ लड़ाई झगड़े और भयानक मार काट में बीते थे। भारतवर्ष में अपना साम्राज्य खड़ा करने का जो कुछ विचार उसके मन मे रहा हो, पर वह उसकी मृत्यु के बाद ही बिलकुल निष्फल हो गया। चन्द्रगुप्त को सिकन्दर के उदाहरण की आवश्यकता न थी। उसकी और उसके देशवासियों की आँखों के सामने दो शताब्दियों तक फारस के साम्राज्य का उदाहरण था। यदि चन्द्रगुप्त ने किसी विदेशी उदाहरण का अनुकरण किया भी, तो केवल फारस के साम्राज्य का। चन्द्रगुप्त के दरबार और उसकी राज्य-प्रणाली में जो थोड़ा बहुत विदेशी प्रभाव पाया जाता है, वह यूनान का नहीं, बल्कि फारस का है। ईसा के बाद चौथी शताब्दी के अन्त तक भारत-वर्ष के प्रान्तीय शासक "क्षत्रप" नाम से पुकारे जाते थे। यही "क्षत्रप" शब्द फारस देश के प्रान्तीय शासकों के लिये भी

व्यवहृत होता था। चन्द्रगुप्त की सैनिक व्यवस्था में भी यूनान के प्रभाव का कोई चिह्न नहीं मिलता। चन्द्रगुप्त ने अपनी सेना का संघटन भारतवर्ष के प्राचीन आदर्श के अनुसार किया था। भारतवर्ष के राजा महाराज हाथियों की सेना को और उससे उतर कर रथ और पैदल सेना को अधिक महत्त्व देते थे। घुड़सवार सेना बहुत थोड़ी रहती थी; और वह ऐसी अच्छी भी न होती थी। पर सिकन्दर हाथियों या रथों से बिलकुल काम न लेता था और अधिकतर अपनी घुड़सवार सेना के ही भरोसे रहता था। इससे सिद्ध होता है कि अपनी सेना का संघटन करने में भी चन्द्रगुप्त ने सिकन्दर का अनुकरण नहीं किया।

चन्द्रगुप्त का अन्त—जैन धर्म की कथाओं से पता लगता है कि चन्द्रगुप्त जैन धर्म का अनुयायी था; और जब बारह वर्ष तक बड़ा भारी अकाल पड़ा, तब वह राजगद्दी छोड़कर दक्खिन में चला गया और मैसूर के पास श्रवण बेलगोला नामक स्थान में जैन यति की तरह रहने लगा। अन्त में वहाँ उसने उपवास करके प्राणत्याग किया। अब तक वहाँ उसका नाम लिया जाता है। यह कथा कहाँ तक सच है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। संभव है कि उसने राजगद्दी से उतरकर अंत में जैन धर्म ग्रहण किया हो और फिर यती की तरह जीवन व्यतीत करने लगा हो। जब ई० पू० २९८ के लगभग चन्द्रगुप्त राजगद्दी से उतरा (या दूसरे मत के अनुसार उसका परलोकवास हुआ), तब उसका पुत्र बिंदुसार गद्दी पर बैठा।

बिन्दुसार (अमित्रघात)—यूनानी लेखकों ने चन्द्रगुप्त के उत्तराधिकारी, बिंदुसार, के नाम कुछ ऐसे शब्दों में लिखे हैं, जो

"अमित्रघात" के अपभ्रंश मालूम पड़ते हैं। चन्द्रगुप्त और सेल्यूकस के समय भारतवर्ष और यूनानी राज्यों के बीच जो सम्बन्ध आरंभ हुआ था, वह विंदुसार के राज्य-काल में भी बना रहा। उसके दरबार में मेगास्थिनीज़ का स्थान डेईमेकस (Deimachos) नामक राजदूत ने लिया। इस राजदूत ने भी मेगास्थिनीज़ की तरह भारतवर्ष का निरीक्षण करके बहुत सा हाल लिखा था; पर अभाग्यवश अब उसका लिखा हुआ बहुत थोड़ा हाल मिलता है। जब ई० पू० २८० में सेल्यूकस मारा गया, तब उसका स्थान उसके पुत्र ऐन्टिओकस सोटर ने लिया, जिसने भारतवर्ष के सम्बन्ध में अपने पिता की नीति का यथावत् पालन किया। ऐन्टिओकस और विन्दुसार के बीच जो लिखा पढ़ी हुई थी, उससे पता लगता है कि भारतवर्ष और पश्चिमी एशिया के बीच बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध था। विन्दुसार ने ऐन्टिओकस को एक पत्र भेजकर लिखा था—"कृपा कर मुझे थोड़े से अंजीर और अंगूर की शराब तथा एक यूनानी अध्यापक खरीदकर भेज दीजिए।" ऐन्टिओकस ने उत्तर में लिखा—"मुझे अंजीर और अंगूर की शराब भेजते हुए बड़ी प्रसन्नता हुई है; पर खेद है कि मैं आपकी सेवा मे कोई अध्यापक नही भेज सकता; क्योंकि यूनानी लोग अध्यापक का बेचना अनुचित समझते हैं।" विन्दुसार के राज्य या शासन का कुछ भी हाल नहीं मिलता। उसके समय का कोई स्मारक या लेख भी प्राप्त नहीं है। संभव है कि उसने चन्द्रगुप्त की तरह भारतवर्ष की सीमा के अंदर ही अपने राज्य को बढ़ाने की नीति जारी रक्खी हो। विन्दुसार के पुत्र अशोक के साम्राज्य की ठीक ठीक सीमा उसके शिललेखों और स्तंभ-

लेखों से विदित होती है। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि दक्षिण में संरक्षित राज्यों और अर्द्ध-स्वतंत्र राज्यों को मिला कर अशोक का साम्राज्य नीलौर तक फैला हुआ था। नर्मदा के दक्षिण का प्रदेश अशोक का विजय किया हुआ नहीं हो सकता; क्योंकि उसके शिलालेखों से पता लगता है कि उसने बंगाल की खाड़ी के किनारे केवल कलिंग देश को जीतकर अपने राज्य में मिलाया था। हाँ, यदि अशोक ने दक्षिणी प्रदेश अपने राज्यकाल के प्रारंभ में ही जीता हो, तो दूसरी बात है। पर इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। चन्द्रगुप्त के राज्य-काल के २४ वर्ष ऐसी बड़ी बड़ी घटनाओं से भरे हुए थे कि कदाचित् दक्षिणी प्रदेश जीतने का समय उसे न मिला होगा। इसलिये नीलौर तक दक्षिणी प्रदेश सभवतः बिन्दुसार ने जीता होगा; क्योंकि अशोक ने इस प्रदेश को अपने पिता से प्राप्त किया था। बस, बिन्दुसार के बारे में इससे अधिक और कुछ विदित नहीं है।

अशोक मौर्य

युवराज अशोक—कहा जाता है कि अशोक या अशोक-वर्द्धन अपने पिता के जीवन-काल में पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त तथा पश्चिमी भारत का युवराज या प्रान्तिक शासक रह चुका था। वहाँ रहकर उसने शासन का काम सीखा था। वह कई भाइयों में सब से बड़ा था; और उसकी योग्यता देखकर उसके पिता ने उसी को युवराज पद के लिये चुना था। उन दिनों पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त की राजधानी तक्षशिला और पश्चिमी भारत की राज-धानी उज्जयिनी थी। लंका की दन्त-कथाओं से पता लगता है कि

जिस समय अशोक ने अपने पिता की बीमारी का हाल सुना, उस समय वह उज्जयिनी में था। उन्हीं दन्त-कथाओं से यह भी पता लगता है कि अशोक के १०० भाई थे, जिनमें से ९९ को उसने मार डाला था। पर यह दन्त-कथा विश्वास करने के योग्य नहीं है। मालूम होता है कि इन कथाओं को बौद्धों ने यह दिखलाने के लिये गढ़ लिया था कि बौद्ध धर्म में आने के पहले उसका जीवन कैसा हिंसापूर्ण था; और बौद्ध धर्म में आने के बाद वह कैसा सदाचारी और पवित्र-हृदय हो गया। इसमें कोई संदेह नहीं कि अशोक के राज्यकाल के सत्रहवें या अठारहवें वर्ष में अशोक के भाई और बहनें जीवित थीं। उसके शिलालेखों से पता लगता है कि उसे अपने कुटुम्ब का बड़ा ध्यान रहता था। शिलालेखों से कोई ऐसा प्रमाण नहीं मिलता, जिससे यह सिद्ध हो कि वह अपने कुटुम्बवालों से किसी प्रकार की ईर्ष्या या द्वेष रखता था। उसके पितामह चन्द्रगुप्त को अवश्य सदा भयभीत रहकर अपना जीवन बिताना पड़ता था और अपने साथ ईर्ष्या-द्वेष करनेवालों को दबाना पड़ता था; क्योंकि वह एक सामान्य मनुष्य से बढ़कर एकछत्र सम्राट् हुआ था और बड़ी कड़ाई के साथ शासन करता था। पर चन्द्रगुप्त की तरह अशोक सामान्य मनुष्य से सम्राट् नहीं हुआ था। उसने अपने पिता से उस बड़े साम्राज्य का अधिकार प्राप्त किया था, जिसे स्थापित हुए पचास वर्ष बीत चुके थे। इसलिये किसी को अशोक के साथ ईर्ष्या-द्वेष या लाग डाँट करने का अवसर न था; और इसी लिये उसके सामने वे सब झंझटें भी न थीं, जो चन्द्रगुप्त के जीवन में भरी हुई थीं। अशोक के लेखों से यह पता नहीं लगता कि उसे अपने शत्रुओं

की ओर से कभी भय रहा हो। संभवतः उसने अपने पिता के आज्ञानुसार शान्ति के साथ राज्याधिकार ग्रहण किया था।

अशोक का राज-तिलक—अशोक ने पूरे ४० वर्षों तक राज्य किया; इसलिये जब बिन्दुसार की मृत्यु के बाद ई० पू० २७३ में या उसके लगभग उसने उस बड़े साम्राज्य का शासन-भार अपने ऊपर लिया, तब वह अपनी युवावस्था में था। उसके प्रारंभिक राज्य-काल के ग्यारह या बारह वर्षों का कुछ हाल नहीं मिलता। मालूम होता है कि प्रारंभ के ग्यारह या बारह साल साधारण रीति पर साम्राज्य के शासन में बीते। राज्यारोहण के लगभग चार वर्ष बाद ई० पू० २६९ में उसका राज-तिलक हुआ। यही एक बात ऐसी है, जिससे इस विचार की पुष्टि होती है कि राज्यारोहण के समय उसके भाइयों ने उसके साथ झगड़ा किया था।

अशोक की कलिंग-विजय—अपने राज्य के तेरहवें वर्ष में अर्थात् ई० पू० २६१ में अशोक ने कलिंग देश जीतकर अपने राज्य में मिलाया। अपने जीवन भर में उसने यही युद्ध किया। इस युद्ध का पता उसके एक शिलालेख में भी मिलता है *। प्राचीन समय में कलिंग देश बंगाल की खाड़ी के किनारे पर महानदी से लेकर गोदावरी तक फैला हुआ था। इस युद्ध के कुछ वर्ष बाद अशोक ने दो शिलालेख वहाँ खुदवाये, जिनसे मालूम होता है कि इस नये जीते हुए प्रदेश के शासन संबंध में उसको बड़ी चिंता रहती थी; क्योंकि कभी कभी उसके कर्मचारी वहाँ अच्छा शासन न करते थे †। राजकर्मचारियों को सम्राट्

---

* देखिये अशोक का त्रयोदश शिलालेख।

† देखिये अशोक के दो कलिंग शिलालेख।

की ओर से यह आज्ञा थी कि वे प्रजा के साथ पितृवत् व्यवहार करें और कलिंग देश की जंगली जातियों पर कोई अत्याचार न होने दें। पर वहाँ के राज्याधिकारी इस आज्ञा का प्रायः उल्लंघन किया करते थे, जिससे सम्राट् को अपने कलिंग लेख के द्वारा उन्हें यह सूचित करना पड़ा था—"मेरी आज्ञा पूरी करने से तुम स्वर्ग पाओगे और मेरे प्रति अपना ऋण भी चुकाओगे।"

अशोक का धर्म-परिवर्तन—कलिंग युद्ध मे एक लाख आदमी मारे गये और डेढ़ लाख आदमी क़ैद किये गये। इनके सिवा इससे कई गुने आदमी अकाल, महामारी तथा उन सब विपत्तियों के शिकार हुए, जो युद्ध के बाद लोगों पर पड़ती हैं। इन सब विपत्तियों को देखकर और यह समझकर कि मेरे ही सबब से ये सब विपत्तियाँ हुई हैं, अशोक को बड़ा खेद और पश्चात्ताप हुआ। इसके बाद उसने पक्का निश्चय किया कि अब मैं कभी युद्ध में प्रवृत्त न होऊँगा और न कभी मनुष्यों पर अत्याचार करूँगा। कलिंग-विजय के चार वर्ष बाद उसने अपने त्रयोदश शिलालेख में लिखा था—"जितने मनुष्य कलिंग-युद्ध में घायल हुए, मरे या क़ैद किये गये, उनके १००वें या १०००वें हिस्से का नाश भी अब महाराज अशोक के लिये बड़े दुःख का कारण होगा।" अपने इस सिद्धान्त के अनुसार फिर उसने अपने शेष जीवन में कभी युद्ध नहीं किया। इसी समय के लगभग वह बौद्ध धर्म का अनुयायी हुआ। तभी से उसने अपनी शक्ति तथा अधिकार के द्वारा "धम्म" या धर्म का प्रचार करना अपने जीवन का उद्देश्य बनाया। अशोक के प्रथम गौण शिलालेख और चतुर्दश शिलालेखों से पता लगता है कि अशोक बौद्ध धर्म में आने के

बाद ढाई वर्ष से अधिक समय तक केवल उपासक था; पर शिला-लेख खुदवाने के एक साल या उससे कुछ अधिक पहले वह संघ में सम्मिलित होकर बौद्ध भिक्षु हो गया था और तन, मन, धन, से बौद्ध धर्म का प्रचार करने लगा था।

बौद्ध स्थानों में अशोक की यात्रा—लगभग चौबीस वर्षों तक सम्राट् रहने के बाद उसने ई० पू० २४९ में बौद्धों के पवित्र स्थानों की यात्रा के लिये प्रस्थान किया। अपनी राजधानी पाटलिपुत्र से रवाना होकर वह नैपाल जानेवाली सड़क से उत्तर की ओर गया; और आजकल के मुजफ्फरपुर तथा चंपारन जिलों से होता हुआ हिमालय पहाड़ की तराई मे पहुँचा। वहाँ से कदाचित् वह पश्चिम की ओर मुड़ा और उस प्रसिद्ध "लुंबिनी" नामक उपवन में आया, जहाँ बुद्ध भगवान् पैदा हुए थे। वहाँ उसके गुरु उपगुप्त ने उससे कहा—"यहीं भगवान् का जन्म हुआ था।" अशोक ने अपनी इस स्थान की यात्रा के स्मारक में एक स्तंभ, जिस पर ये शब्द खुदे हुए हैं और जो अब तक सुरक्षित है, खड़ा किया। इसके उपरान्त वह अपने गुरु के साथ कपिलवस्तु आया, जहाँ बुद्ध भगवान् की बाल्यावस्था बीती थी। वहाँ से वह बनारस के पास सारनाथ में आया, जहाँ बुद्ध भगवान् ने अपने धर्म का पहले पहल उपदेश किया था। वहाँ से वह श्रावस्ती गया, जहाँ बहुत वर्षों तक रहा। श्रावस्ती से चलकर उसने गया के बोधि वृक्ष के दर्शन किये, जिसके नीचे बैठकर बुद्ध भगवान् ने ज्ञान का प्रकाश प्राप्त किया था। गया से वह कुशीनगर आया, जहाँ बुद्ध भगवान् का निर्वाण हुआ था। इन सब पवित्र स्थानों में अशोक ने बहुत सा धन दान किया और बहुत

से स्मारक खड़े किये, जिनमें से कुछ स्मारकों का पता अनेक शताब्दियों के बाद अब लगा है।

भिक्षु-सम्प्रदाय में अशोक—अशोक के संबंध में एक विचित्र बात यह है कि वह बौद्ध भिक्षु भी था और साथ ही विस्तृत साम्राज्य का शासन भी करता था। अशोक के नौ शताब्दी बाद ईत्सिंग नामक चीनी बौद्ध यात्री भारत में आया था। उसने अशोक की मूर्ति बौद्ध संन्यासी के वेष में स्थापित देखी थी। बौद्ध संन्यासी को जब चाहे, तब गार्हस्थ्य जीवन में लौटने की स्वतंत्रता रहती है। संभव है, अशोक कभी कभी थोड़े समय के लिये, राज्य का उचित प्रबन्ध करने के बाद, किसी विहार या संघाराम में जाकर एकांत-वास करता रहा हो। मालूम होता है कि प्रथम गौण शिलालेख और भाब्रू शिलालेख उस समय खुद-वायें गये थे, जब वह बैराट के संघाराम में एकांत-वास कर रहा था। इसमें कोई संदेह नहीं कि अपने जीवन के अंतिम पचीस वर्षों में वह संघ और साम्राज्य दोनों का शासक तथा नेता था।

अशोक के समय में बौद्ध महासभा—लगभग तीस वर्षों तक राज्य करने के बाद ई० पू० २४३ में या उसके लगभग अशोक ने सप्त स्तंभ-लेख खुदवाये, जिनमें वही बातें दोहराई गई हैं, जो उसने पहले के शिला-लेखों में लिखी थी। इनमें से अंतिम सप्त-स्तंभ लेखो मे उसने उन उपायों का सामान्य रीति से समालोच-नात्मक वर्णन किया है, जिनकी सहायता से उसने "धम्म" या धर्म का प्रचार किया था। पर आश्चर्य है कि उसने अपने इस सिंहावलोकन में बौद्ध नेताओं की उस महासभा का उल्लेख नहीं किया, जो बौद्ध संघ में फूट रोकने के लिये उसके राज्य काल में

तथा उसकी राजधानी में हुई थी। संभव है कि यह महासभा स्तंभ-लेखों के प्रचलित होने के बाद की गई हो। पर यह कहने मे कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि बौद्ध नेताओं की एक महासभा अशोक के समय में हुई थी; क्योंकि इस सभा के बारे में बहुत सी दन्तकथाएँ प्रचलित हैं। मालूम होता है कि सारनाथ का स्तंभ-लेख, जिसमें स्पष्ट शब्दों में लिखा है—"जो भिक्षुनी या भिक्षुक सघ में फूट डालेगा, वह सफ़ेद कपड़ा पहनाकर उस स्थान में रख दिया जायगा, जो भिक्षुओं के लिये उपयुक्त नहीं है" इसी सभा के निश्चय के अनुसार प्रकाशित किया गया था। विन्सेन्ट स्मिथ साहब का मत है कि यह महासभा अशोक के राज्य-काल के अंतिम दस वर्षों में किसी समय हुई होगी।

अशोक के साम्राज्य का विस्तार—अशोक का साम्राज्य कितना दूर तक फैला हुआ था, यह प्रायः निश्चित रूप से कहा जा सकता है। उत्तर-पश्चिम की ओर उसका साम्राज्य हिन्दूकुश पर्वत तक फैला हुआ था; और उसमें अफ़गानिस्तान का अधिकतर भाग तथा कुल बलोचिस्तान और सिन्ध शामिल था। कदाचित् सुवात (या स्वात) और बाजौर में भी अशोक के कर्मचारी रहते थे। कश्मीर और नैपाल तो अवश्यमेव साम्राज्य के अंग थे। अशोक ने कश्मीर की घाटी में श्रीनगर नाम की एक नई राजधानी बसाई थी। प्राचीन श्रीनगर वर्तमान श्रीनगर से थोड़ी ही दूर पर है। नैपाल की घाटी में भी उसने पुरानी राजधानी मंजुपाटन के स्थान पर पाटन, ललितपाटन या ललितपुर नामक एक नगर बसाया, जो वर्तमान राजधानी काठमाण्डू से दक्षिण-पूर्व ढाई मील की दूरी पर अब तक स्थित है। उसने

यह नगर ई० पू० २५० या २४९ में नैपाल-यात्रा के स्मारक में बनवाया था। उसके साथ नैपाल में उसकी लड़की चारुमती भी गई थी, जो अपने पिता के लौट आने के बाद बौद्ध संन्यासिनी हो कर वहीं रहने लगी थी। अशोक ललितपाटन को बड़ा पवित्र स्थान समझता था। वहाँ उसने पाँच बड़े बड़े स्तूप बनवाये थे, जिनमें से एक तो नगर के मध्य में और बाकी चार नगर के चारों कोनों पर थे। ये सब स्मारक अब तक स्थित हैं और हाल में बने हुए स्तूपों तथा मन्दिरों से बिलकुल भिन्न हैं। पूर्व की ओर गंगा के मुहाने तक समस्त वंग देश उसके साम्राज्य में शामिल था। गोदावरी नदी के उत्तर मे समुद्र-तट का वह हिस्सा, जो कलिंग के नाम से प्रसिद्ध था, ई० पू० २६१ में जीतकर मिलाया गया था। दक्षिण में गोदावरी और कृष्णा नदी के बीचवाला प्रांत अर्थात् आन्ध्र देश कदाचित् मौर्य साम्राज्य का एक संरक्षित राज्य था और उसका शासन वहीं के राजा करते थे। दक्षिण-पूर्व में उत्तरी पेनार नदी अशोक के साम्राज्य की दक्षिणी सीमा समझी जा सकती है। भारतवर्ष के बिलकुल दक्षिण में चोल और पांड्य नाम के तामिल राज्य तथा मलाबार के किनारे पर केरलपुत्र और सत्यपुत्र नाम के राज्य अवश्यमेव स्वतंत्र थे। इसलिये साम्राज्य की दक्षिणी सीमा पूर्वी किनारे पर नीलोर के पास उत्तरी पेनार नदी के मुहाने से लेकर पश्चिमी किनारे पर मँगलौर के पास कल्याणपुरी नदी तक थी। पश्चिमोत्तर सीमा में तथा विंध्य पर्वत के जंगलों मे जो जंगली जातियाँ रहती थीं, वे कदाचित् मौर्य साम्राज्य के आधिपत्य में स्वयं शासन करती थीं। इसलिये मोटे तौर पर हिन्दूकुश पर्वत के नीचे अफ़गानिस्तान, बलो-

चिस्तान, नैपाल, दक्षिणी हिमालय और कुल भारतवर्ष (केवल दक्षिण के कुछ भाग को छोड़कर) अशोक के साम्राज्य में शामिल था।

अशोक के स्मारक—अशोक ने बहुत सी इमारतें, स्तूप और स्तम्भ बनवाये थे। कहा जाता है कि तीन वर्ष के अन्दर उसने चौरासी हज़ार स्तूप निर्माण कराये। ईसवी पाँचवीं शताब्दी के प्रारंभ में जिस समय चीनी बौद्ध यात्री फाहियान पाटलिपुत्र में आया, उस समय भी अशोक का राजमहल खड़ा हुआ था; और लोगों का विश्वास था कि वह देव-दानवों के हाथ से रचा गया था। अब उसकी ये सब इमारतें लुप्त हो गई हैं और उनके भग्नावशेष गंगा और सोन नदियों के पुराने पाट के नीचे दबे पड़े हैं*। आजकल उन पर पटना और बाँकीपुर के शहर बसे हुए हैं। अशोक के समय के कुछ स्तूप मध्य भारत के साँची नामक स्थान में और उसके आस पास हैं। ये स्तूप अब तक सुरक्षित हैं और उज्जैन के पास ही हैं, जहाँ अशोक राजगद्दी पर आने के पहले पश्चिमी प्रांत का शासक रह चुका था। साँची के प्रधान स्तूप के चारों ओर पत्थर का जो घेरा (परिवेष्टन) तथा पत्थर के जो फाटक हैं, वे कदाचित् अशोक की आज्ञा से बनवाये गये थे। अशोक ने गया के पास बराबर नाम की पहाड़ी में "आजीविक" सम्प्रदाय के लिये कुछ गुफाएँ खुदवाई थीं, जिनकी दीवारें बहुत ही चिकनी और साफ सुथरी हैं। अशोक के बनवाये हुए स्मारकों में पत्थर पर खुदे हुए उसके लेख सब से विचित्र और महत्व के हैं। कुल मिलाकर उसके लेख तीस से

---

* इनमें से कुछ इमारतें बाँकीपुर के पास कुम्हराड़ नामक स्थान में खोद कर निकाली भी जा चुकी हैं।

अधिक होंगे, जो चट्टानों, गुफाओं की दीवारों और स्तम्भों पर खुदे हुए मिलते हैं। इन्हीं लेखों से अशोक के इतिहास का सच्चा पता लगता है। अशोक के लेख लगभग कुल भारतवर्ष में, हिमालय से मैसूर तक और बंगाल की खाड़ी से अरब सागर तक, फैले हुए हैं। इन लेखों की भाषा बौद्ध ग्रंथों की पाली भाषा से बहुत कुछ मिलती जुलती है। ये लेख ऐसे स्थानों में खुदवाये गये थे, जहाँ लोगों का आवागमन अधिक होता था। अशोक के लेख निम्नलिखित आठ भागों में बाँटे जा सकते हैं—(१) **चतुर्दश-शिलालेख** जो पहाड़ की चट्टानों पर खुदे हुए सात स्थानों में पाये जाते हैं। (२) **दो कलिंग शिलालेख** जो कलिंग के दो स्थानों में पहाड़ की चट्टानों पर खुदे हुए मिलते हैं। (३) **गौण शिलालेख** जो सात स्थानों में चट्टानों पर खुदे हुए पाये जाते हैं। (४) **भाब्रू शिलालेख** जो जयपुर रियासत मे बैराट के पास एक पहाड़ी की चट्टान पर खुदा हुआ था और आजकल कलकत्ते के अजायबघर में रक्खा हुआ है। (५) **सप्त स्तंभ-लेख** जो स्तंभों पर खुदे हुए भिन्न भिन्न छः स्थानों में पाये जाते हैं। (६) **गौण स्तंभ-लेख** जो सारनाथ, कौशांबी (प्रयाग) और साँची में पाये जाते हैं। (७) **दो तराई-स्तंभ-लेख** जो नैपाल की सरहद पर रुंमिनदेई ग्राम तथा निग्लीव ग्राम में हैं। और (८) **तीन गुहालेख** जो गया के पास बराबर नाम की पहाड़ी में हैं।

बौद्ध होने के पहले अशोक का धार्मिक विश्वास—कहा जाता है कि प्रारम्भ में अशोक ब्राह्मणों का अनुयायी और शिव का भक्त था। उन दिनों प्राणि-वध करने में उसे कोई हिचक न होती थी। सहस्रों प्राणी त्योहारों और उत्सवों पर मांस

के लिये वध किये जाते थे। पर ज्यों ज्यों उस पर बौद्ध धर्म का प्रभाव पड़ने लगा, त्यों त्यों प्राणि-वध को वह घृणा की दृष्टि से देखने लगा। अन्त में उसने प्राणि-वध बिलकुल उठा दिया। उस ने अपने प्रथम "चतुर्दश-शिलालेख" में लिखा भी है—"देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा अशोक की पाकशाला में पहले प्रति दिन कई सहस्र प्राणी सूप (शोरबा) बनाने के लिये वध किये जाते थे। पर अब से, जब कि यह धर्म-लेख लिखा जा रहा है, केवल तीन ही प्राणी मारे जाते हैं; अर्थात् दो मोर और एक मृग। पर मृग का मारा जाना निश्चित नहीं है। ये तीनों प्राणी भी भविष्य में न मारे जायँगे।"

धर्म-यात्रा—उक्त शिलालेख खुदवाने के दो वर्ष पहले अर्थात् ई० पू० २५९ मे अशोक ने शिकार खेलने की प्रथा उठा दी थी। उसने यह एक नई बात की थी। चन्द्रगुप्त के ज़माने में शिकार खेलने का बड़ा रवाज था। वह बहुत धूमधाम के साथ शिकार खेलने निकलता था। इस संबंध में अशोक ने अष्टम शिलालेख मे लिखा है—"पहले के ज़माने मे राजा लोग विहार-यात्रा के लिये निकलते थे। इन यात्राओं मे मृगया (शिकार) और इसी प्रकार की दूसरी आमोद प्रमोद की बातें होती थीं। पर प्रियदर्शी राजा ने अपने राज्याभिषेक के दस वर्ष बाद बौद्ध मत ग्रहण किया। तभी से उसने विहार-यात्रा के स्थान पर धर्म-यात्रा की प्रथा का प्रारम्भ किया। धर्म-यात्रा में श्रमणों, ब्राह्मणों और वृद्धों के दर्शन किये जाते हैं; उन्हें सुवर्ण इत्यादि का दान दिया जाता है; ग्रामों में जाकर धर्म की शिक्षा दी जाती है और धर्म के संबंध में परस्पर मिलकर विचार किया जाता है।"

अहिंसा का प्रचार—ज्यों ज्यों समय बीतता गया, त्यों त्यों अशोक के हृदय में अहिंसा का भाव जड़ पकड़ता गया। अंत में ई० पू० २४३ में उसने जीव-रक्षा के संबंध में बड़े कड़े नियम बनाये। यदि किसी जाति या वर्ण का कोई मनुष्य इन नियमों को तोड़ता था, तो उसे बड़ा कड़ा दण्ड दिया जाता था। कुल साम्राज्य में इन नियमों का प्रचार था। इन नियमों के अनुसार कई प्रकार के प्राणियों का वध बिलकुल ही बंद कर दिया गया था। जिन पशुओं का मांस खाने के काम में आता था, उनका वध यद्यपि बिलकुल तो नहीं बन्द किया गया, तथापि उनके वध के संबंध में बहुत कड़े नियम बना दिये गये, जिससे प्राणियों का अंधाधुंध वध होना रुक गया। साल में छप्पन दिन तो पशु-वध बिलकुल ही मना था। अशोक के पंचम स्तंभलेख में ये सब नियम स्पष्ट रूप से दिये गये हैं। उस के "धम्म" (धर्म) का प्रथम सिद्धांत अहिंसा ही था।

बड़ों का सम्मान और छोटों पर दया—"धम्म" का दूसरा सिद्धांत, जिस पर अशोक ने अपने शिलालेख में बहुत जोर दिया है, यह है कि माता-पिता, गुरु और बड़े-बूढ़ों का उचित आदर करना बहुत आवश्यक है। उसने इस बात पर भी जोर दिया है कि बड़ों को अपने छोटों, सेवकों, भृत्यों तथा अन्य प्राणियों के साथ दया का व्यवहार करना चाहिए।

सत्य भाषण—अशोक के "धम्म" के अनुसार मनुष्य का तीसरा प्रधान कर्तव्य यह है कि वह सदा सत्य भाषण करे। इस पर भी उसके लेखों में जोर दिया गया है। अहिंसा, बड़ों का आदर और सत्य-भाषण ये तीनों सिद्धांत, जो "धम्म" के

सिद्धांत हैं, द्वितीय गौण शिलालेख में संक्षेप के साथ दिये गये हैं, जो इस प्रकार हैं—

"देवताओं के प्रिय इस तरह कहते हैं—माता और पिता की सेवा करनी चाहिए। प्राणियों के प्राणों का दृढ़ता के साथ आदर करना चाहिए (अर्थात् जीव हिंसा न करनी चाहिए)। सत्य बोलना चाहिए। "धम्म" के इन गुणों का प्रचार करना चाहिए। इसी प्रकार विद्यार्थी को आचार्य की सेवा करनी चाहिए और अपने जाति-भाइयों के साथ उचित व्यवहार करना चाहिए। यही प्राचीन धर्म की रीति है। इससे आयु बढ़ती है; और इसी के अनुसार मनुष्य को आचरण करना चाहिए।"

दूसरे धर्मों के साथ सहानुभूति—इन प्रधान कर्तव्यों के अतिरिक्त अशोक ने अपने शिलालेखों में कई कर्तव्यों पर भी जोर दिया है। इनमें से एक कर्तव्य यह भी था कि दूसरों के धर्म और विश्वास के साथ सहानुभूति रखनी चाहिए तथा दूसरों के धर्म और अनुष्ठान को कभी घृणा की दृष्टि से न देखना चाहिए। द्वादश-शिलालेख विशेष करके इसी विषय मे है। उसमें लिखा है—"देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी गृहस्थ तथा संन्यासी सब संप्रदायवालों का विविध दान और पूजा से सत्कार करते हैं। किंतु देवताओं के प्रिय दान या पूजा की उतनी परवाह नहीं करते, जितनी इस बात की कि सब संप्रदायों के सार की वृद्धि हो। संप्रदायों के सार की वृद्धि कई प्रकार से होती है; पर उसकी जड़ वाक्संयम है। अर्थात् लोग केवल अपने ही संप्रदाय का आदर और दूसरे संप्रदाय की निन्दा न करें।"

"धम्म" का प्रचार—अशोक ने छोटे बड़े सभी कर्मचारियों

को यह आज्ञा दे रक्खी थी कि वे दौरा करते हुए "धम्म" का प्रचार करें और इस बात की कड़ी देखभाल रक्खें कि लोग राजकीय आज्ञाओं का यथोचित पालन करते हैं या नहीं। तृतीय शिलालेख इसी विषय में है, जो इस प्रकार है—"देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं—मेरे राज्य में सब जगह "युक्त" (छोटे कर्मचारी) रज्जुक (कमिश्नर) और प्रादेशिक (प्रांतीय अफसर) जिस प्रकार पाँच पाँच वर्ष पर और कामों के लिये दौरा करते हैं, उसी प्रकार धर्मानुशासन के लिये भी यह कहते हुए दौरा करें कि माता पिता की सेवा करना तथा मित्र, परिचित, स्वजातीय, ब्राह्मण और श्रमण को दान देना अच्छा है; जीवहिंसा न करना अच्छा है; कम खर्च करना और कम संचय करना अच्छा है।"

धर्म-महामात्रों की नियुक्ति—अपने राज्याभिषेक के तेरह वर्ष बाद अशोक ने "धर्म-महामात्र" नामक नये कर्मचारी नियुक्त किये थे। ये कर्मचारी समस्त राज्य में तथा पश्चिमी सीमा पर रहनेवाली गांधार आदि जातियों में धर्म का प्रचार और उसकी रक्षा करने के लिये नियुक्त थे। धर्म-महामात्रों की पदवी बहुत ऊँची थी और उनका कर्तव्य साधारण महामात्रों के कर्त्तव्यों से भिन्न था। धर्म-महामात्रों के नीचे "धर्म-युक्त" नामक दूसरी श्रेणी के राजकर्मचारी भी धर्म की रक्षा और उस का प्रचार करने के के लिये नियुक्त थे। वे धर्म-महामात्रों के काम मे हर प्रकार से सहायता देते थे। स्त्रियाँ भी धर्म-महामात्र के पद पर नियुक्त की जाती थीं। "स्त्री-धर्ममहामात्र" अंतःपुर में स्त्रियों के बीच धर्म का प्रचार और उस की रक्षा का काम करती थीं। पंचम शिला-लेख में धर्म-महामात्रों के कर्तव्य विस्तार के साथ दिये गये हैं।

यात्रियों के सुख का प्रबन्ध—अशोक ने यात्रियों के आराम और सुख का भी बड़ा अच्छा प्रबन्ध कर रक्खा था। सप्तम स्तंभलेख में इस बात का बड़ा अच्छा वर्णन किया गया है। हम यहाँ उसका कुछ भाग उद्धृत करते हैं–"सड़कों पर भी मैंने मनुष्यों और पशुओं को छाया देने के लिये बरगद के पेड़ लगवाये, आम्र-वाटिकाएँ बनवाईं, आठ आठ कोस पर कूएँ खुदवाये, धर्म-शालाएँ बनवाईं और जहाँ तहाँ पशुओं तथा मनुष्यों के उपकार के लिये अनेक पौसले बैठाये।"

रोगियों की चिकित्सा—अशोक ने रोगी मनुष्यों और पशुओं की चिकित्सा का भी बड़ा अच्छा प्रबन्ध कर रक्खा था। केवल साम्राज्य के अन्दर ही नहीं, बल्कि साम्राज्य के बाहर दक्षिणी भारत तथा पश्चिमोत्तर सीमा के स्वाधीन राज्यों में भी अशोक की ओर से मनुष्यों और पशुओं की चिकित्सा के लिये पर्याप्त प्रबन्ध था। इस प्रबन्ध का वर्णन अशोक के द्वितीय शिलालेख में है, जिसे हम यहाँ उद्धृत करते हैं—"देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के राज्य में सब स्थानों पर तथा जो उनके पड़ोसी राज्य हैं, जैसे चोड़, पांड्य, सत्यपुत्र, केरलपुत्र और ताम्रपर्णी में, अन्तियोक नामक यवनराज के राज्य में और उस अतियोक के जो पड़ोसी राजा हैं, उन सब के राज्यों में देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने दो प्रकार की चिकित्साओं का प्रबंध किया है; एक मनुष्यों की चिकित्सा और दूसरी पशुओं की चिकित्सा। मनुष्यों और पशुओं के लिये जहाँ जहाँ ओषधियाँ नहीं थीं, वहाँ वहाँ लाई और रोपी गई हैं। इसी प्रकार कन्द-मूल और फल-फूल भी जहाँ जहाँ नहीं थे, वहाँ वहाँ लाये और रोपे गए हैं।"

विदेशों में धर्म का प्रचार—ई० पू० २५७ के लगभग अशोक ने "चतुर्दश-शिलालेख" खुदवाये। तेरहवें शिलालेख में उन उन देशों और राज्यों के नाम मिलते हैं, जिनमें अशोक ने धर्म का प्रचार करने के लिये अपने दूत या उपदेशक भेजे थे। इस शिलालेख से पता चलता है कि अशोक के राजदूत या धर्मोपदेशक निम्नलिखित देशों में धर्म का प्रचार करने के लिये गये थे—(१) मौर्य साम्राज्य के अंतर्गत भिन्न भिन्न प्रदेश। (२) साम्राज्य के सीमांत प्रदेश, और सीमा पर रहनेवाली यवन, कांबोज, गांधार, राष्ट्रिक, पितनिक, भोज, आंध्र, पुलिंद आदि जातियों के देश। (३) साम्राज्य की जंगली जातियों के प्रांत। (४) दक्षिणी भारत के स्वाधीन राज्य; जैसे केरलपुत्र, सत्यपुत्र, चोड़ और पांड्य। (४) सिंहल या लंका द्वीप। (६) सीरिया, मिस्र, साइरीनी, मेसिडोनिया और एपिरस नामक पाँच यूनानी राज्य, जिन पर क्रम से अंतियोक (Antiochos II. 261–246. B C), तुरमय (Ptolomy Philadelphos. 285—247 B C), मक (Magas. 285—255 B. C.), अंतिकिनि (Antigonos Gonatas. 277–239. B. C.) और अलिकसुंदर (Alexander. 272—258 B. C.). नाम के राजा राज्य करते थे। ई० पू० २५८ में ये पाँचो राजा एक ही समय में जीवित थे। अतएव यह अनुमान किया जाता है कि मोटे तौर पर ई० पू० २५८ में अशोक के राजदूत या धर्मोपदेशक धर्म का प्रचार करने से लिये विदेशों में भेजे गये थे। तात्पर्य यह कि अशोक के धर्मोपदेशक केवल भारतवर्ष में ही नहीं, बल्कि एशिया, अफ्रिका और युरोप इन तीनों महाद्वीपों में फैले हुए थे। सिंहल या लंका द्वीप में जो धर्मोपदेशक भेजे

गये थे, उनका नेता सम्राट् अशोक का पुत्र महेंद्र था। महेंद्र यद्यपि राजकुमार था, तथापि धर्म की सेवा करने के लिये उसने बौद्ध संन्यासी का जीवन ग्रहण किया था। उसने आजीवन लंका में बौद्ध धर्म का प्रचार किया और वहाँ के राजा "देवानां प्रिय-तिष्य" और उसके सभासदों को बौद्ध धर्म का अनुयायी बनाया। कहा जाता है कि वहाँ महेंद्र की अस्थियाँ एक स्तूप के नीचे गड़ी हुई हैं। लंका के "महावंश" नामक बौद्ध ग्रन्थ में यह भी लिखा है कि अशोक के दूत धर्म-प्रचारार्थ सुवर्ण-भूमि (बरमा) में भी गये थे। पर शिलालेखों में सुवर्णभूमि का उल्लेख नहीं है। यदि अशोक ने बरमा में अपने दूतों को भेजा होता, तो शिलालेखों में उसका वर्णन अवश्य किया होता।

धार्मिक उत्साह—अशोक ने अपने धार्मिक प्रेम और उत्साह की बदौलत बौद्ध धर्म को, जो पहले केवल एक छोटे से प्रांत में सीमाबद्ध था, संसार का एक बहुत बड़ा धर्म बना दिया। गौतम बुद्ध के जीवन-काल में बौद्ध धर्म का प्रचार केवल गया, प्रयाग और हिमालय के बीचवाले प्रांत में था। जब ई० पू० ४८७ में बुद्ध भगवान् का निर्वाण हुआ, तब बौद्ध धर्म केवल एक छोटा सा संप्रदाय था। पर अशोक की बदौलत यह धर्म भारतवर्ष के बाहर दूसरे देशों में भी फैल गया। यद्यपि अब यह धर्म अपनी जन्मभूमि अर्थात् भारतवर्ष से बिलकुल लुप्त हो गया है, पर लंका, बरमा, तिब्बत, नैपाल, भूटान, चीन, जापान और कोरिया में इस धर्म का प्रचार अब तक बना हुआ है। यह केवल अशोक के धार्मिक उत्साह का परिणाम है। अशोक का नाम सदा उन थोड़े से लोगों में गिना जायगा, जिन्होंने अपनी

शक्ति और उत्साह के द्वारा संसार के धर्म में महान् परिवर्तन किये हैं।

स्वभाव और चरित्र—अशोक का स्वभाव और चरित्र उसके लेखों से झलक रहा है। उन लेखों की शैली से पता लगता है कि भाव और शब्द दोनों अशोक ही के हैं। कलिंग-युद्ध से होनेवाली विपत्तियों को देखकर अशोक को जो पश्चात्ताप हुआ, उसे कोई मंत्री अपने शब्दों में प्रकट करने का साहस नही कर सकता था। उस पश्चात्ताप का वर्णन अशोक के सिवा और कोई न कर सकता था। उसके धर्म-लेखों से सूचित होता है कि उसमें केवल राजनीतिज्ञता ही नहीं, बल्कि सच्चे संन्यासियों की सी पवित्रता और धार्मिकता भी कूट कूटकर भरी हुई थी। उसने अपने प्रथम गौण शिलालेख में इस बात पर जोर दिया है कि छोटे और बड़े हर मनुष्य को चाहिए कि वह अपने मोक्ष के लिये उद्योग करे और अपने कर्म के अनुसार फल भोगे। उसने अपने लेखों में बड़ों के आदर, दया, सत्य और सहानुभूति पर बहुत जोर दिया है और बड़ो के अनादर, निर्दय-ता, असत्य और दूसरे धर्मों तथा संप्रदायों के साथ घृणायुक्त व्यवहार की बहुत निंदा की है। अशोक निस्सन्देह एक बड़ा मनुष्य था। वह एक बड़ा सम्राट् होते हुए भी बड़ा भारी धर्म-प्रचारक था। उसमें सांसारिक और आत्मिक दोनों प्रकार की शक्तियाँ विद्यमान थीं; और उन शक्तियों को वह सदा अपने एक मात्र उद्दश्य अर्थात् धर्म-प्रचार में लगाने का प्रयत्न करता था।

अशोक की रानियाँ—अशोक की कई रानियाँ थीं। कम से कम दो रानियाँ तो अवश्य थीं, जिनके नाम के आगे "देवी" की

पदवी लगाई जाती थी। दूसरी रानी अर्थात् "कारुवाकी" का नाम उस गौण स्तंभलेख में आया है, जो इलाहाबाद के किले के अन्दर एक स्तंभ पर खुदा हुआ है। उस लेख में यह भी लिखा है कि कारुवाकी "तीवर" की माता थी। मालूम होता है कि दूसरी रानी अर्थात् कारुवाकी के साथ अशोक का विशेष प्रेम था। कारुवाकी कदाचित् ज्येष्ठ राजकुमार की माता थी, जो यदि जीवित रहता, तो अवश्य राजगद्दी पर बैठता। पर शायद वह अशोक से पहले ही इस संसार से कूच कर गया था। बौद्ध दन्तकथाओं से सूचित होता है कि बहुत वर्षों तक अशोक की प्रधान महिषी "असन्धिमित्रा" नाम की थी। यह रानी बड़ी पतिव्रता और सती साध्वी थी। इसकी मृत्यु के बाद अशोक ने "तिष्यरक्षिता" नाम की एक दूसरी स्त्री से विवाह किया। कहा जाता है कि तिष्यरक्षिता अच्छे चरित्र की न थी और राजा को बहुत दुःख देती थी। राजा उस समय वृद्ध हो चला था, पर रानी अभी पूर्ण युवावस्था में थी। यह भी कहा जाता है कि अशोक की एक दूसरी रानी से कुणाल नामक एक पुत्र था। उस पर तिष्यरक्षिता आसक्त हो गई। जब उसने कुणाल पर अपना प्रेम प्रकट किया, तब उसे अपनी सौतेली माँ के इस घृणित प्रस्ताव पर बड़ा ही खेद हुआ और उसने वह प्रस्ताव बिलकुल अस्वीकृत कर दिया। इस पर रानी ने मारे क्रोध के धोखा देकर उसकी आँखें निकलवा लीं।

अशोक के उत्तराधिकारी—यह नहीं कहा जा सकता कि ऊपर की दन्तकथा कहाँ तक ठीक है। यह भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि अशोक का कुणाल नामक कोई राज-

कुमार था या नहीं। अस्तु; पुराणों में अशोक के बाद उसके पौत्र दशरथ का नाम आता है। नागार्जुनि पहाड़ी में दशरथ का जो गुहालेख है, उससे भी पता लगता है कि दशरथ नाम का एक वास्तविक राजा था। इससे यही सिद्ध होता है कि अशोक के बाद उसका पौत्र दशरथ साम्राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। दशरथ के गुहा-लेखों की भाषा और लिपि से यह सिद्ध होता है कि वह अशोक के बहुत बाद का नहीं है। उसकी लेख-शैली से तो पता लगता है कि कदाचित् अशोक के बाद वही साम्राज्य का या कम से कम उसके पूर्वीय प्रांतों का उत्तराधिकारी हुआ। यदि हम यह बात मान लें, तो दशरथ का राज्यारोहण काल ई० पू० २३२ रक्खा जा सकता है। मालूम होता है कि उसका राज्य-काल बहुत दिनों तक नहीं था; क्योंकि पुराणों में वह केवल आठ वर्ष कहा गया है। यद्यपि किसी शिला-लेख में अशोक के संप्रति नामक एक दूसरे पौत्र का हवाला नहीं मिलता, तथापि उसका जिक्र बहुत सी दन्त-कथाओं में आता है। जैन दन्त-कथाओं में भी संप्रति को अशोक का पुत्र कहा है। इससे मालूम होता है कि संप्रति कल्पित नहीं, बल्कि एक वास्तविक व्यक्ति था। कदाचित् अशोक की मृत्यु के बाद ही मौर्य साम्राज्य दशरथ और संप्रति दोनों में बँट गया, जिनमें से दशरथ पूर्वी प्रान्तों का मालिक हुआ और संप्रति पश्चिमी प्रांतों का। पर इस मत के पोषण में कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है।

मौर्य साम्राज्य का अस्त—पुराणों के अनुसार मौर्य वंश ने भारतवर्ष में १३७ वर्षों तक राज्य किया। यदि हम यह बात मान लें और चन्द्रगुप्त का राज्य-काल ई० पू० ३२२ से प्रारंभ

करें, तो हमें मानना पड़ेगा कि मौर्य वंश का अंत ई० पू० १८५ के लगभग हुआ। पर निश्चित रूप से यही कहा जा सकता है कि चन्द्रगुप्त ने जिस बड़े साम्राज्य की नींव डाली थी और जिसकी उन्नति बिन्दुसार तथा अशोक के जमाने में होती रही, वह अशोक के बाद बहुत दिनों तक कायम न रह सका। मौर्य साम्राज्य के पतन का एक बहुत बड़ा कारण यह था कि अशोक के बाद ब्राह्मणों ने इस साम्राज्य के विरुद्ध लोगों को भड़काना शुरू किया। अशोक के ज़माने में ब्राह्मणों का प्रभाव बहुत कुछ घट गया था; क्योंकि वह बौद्ध धर्म का अनुयायी होने के कारण ब्राह्मणों की अपेक्षा बौद्धों का अधिक पक्षपात करता था। अशोक ने यज्ञों में पशु-वध भी बन्द करवा दिया था; और उसके धर्ममहामात्र कदाचित् लोगों को बहुत तंग करते थे, जिससे लोगों में बड़ा असन्तोष फैल गया था। इसलिये ज्योंही अशोक की आँख मुँदी, त्योंही ब्राह्मणों का प्रभाव बढ़ने और मौर्य साम्राज्य के विरुद्ध आन्दोलन होने लगा। अशोक के जिन उत्तराधिकारियों के नाम पुराणों में मिलते हैं, उनके अधिकार में केवल मगध और आस-पास के प्रांत बच गये थे। अशोक की मृत्यु के बाद ही आंध्र और कलिंग प्रांत मौर्य साम्राज्य से निकलकर स्वाधीन हो गये। मौर्य साम्राज्य का अंतिम राजा बृहद्रथ बहुत ही कमजोर था। उसके सेनापति पुष्यमित्र ने ई० पू० १८४ में उसे मारकर साम्राज्य पर अधिकार कर लिया। उसने एक नये राजवंश की नींव डाली, जो इतिहास में शुंग वंश के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार भारतवर्ष के इतिहास में मौर्य साम्राज्य का सदा के लिये अस्त हो गया।

आठवाँ अध्याय

प्राचीन बौद्ध काल के प्रजातन्त्र राज्य

बुद्ध के समय में प्रजातन्त्र राज्य—बौद्ध ग्रंथों से पता लगता है कि बुद्ध के समय में उत्तरी भारत में कई छोटे छोटे प्रजातन्त्र राज्य थे। अध्यापक राइज़ डेविड्स ने अपने "बुद्धिस्ट इंडिया"* नामक ग्रंथ में निम्नलिखित ११ प्रजातंत्र राज्यों के नाम लिखे हैं—

(१) शाक्यों का प्रजातन्त्र राज्य, जिसकी राजधानी कपिलवस्तु थी।

(२) भग्गों का प्रजातन्त्र राज्य, जिसकी राजधानी सुंसुमार पहाड़ी थी।

(३) बुलियों का प्रजातन्त्र राज्य, जिसकी राजधानी अल्लकप्प थी।

(४) कालामों का प्रजातन्त्र राज्य, जिसकी राजधानी केसपुत्त थी।

(५) कोलियों का प्रजातन्त्र राज्य, जिसकी राजधानी रामग्राम थी।

(६) मल्लों का प्रजातन्त्र राज्य, जिसकी राजधानी कुशिनारा थी।

(७) मल्लों का प्रजातन्त्र राज्य, जिसकी राजधानी पावा थी।

---

* Buddhist India, p. 22.

(८) मल्लों का प्रजातन्त्र राज्य, जिसकी राजधानी काशी थी।

(९) मौर्यों का प्रजातन्त्र राज्य, जिसकी राजधानी पिप्पलिवन थी।

(१०) विदेहों का प्रजातन्त्र राज्य, जिसकी राजधानी मिथिला थी।

(११) लिच्छवियों का प्रजातन्त्र राज्य, जिसकी राजधानी वैशाली थी।

ये ग्यारहों प्रजातन्त्र राज्य आजकल के गोरखपुर, बस्ती और मुज़फ्फरपुर ज़िलो के उत्तर में अर्थात् मोटे तौर पर बिहार प्रांत मे फैले हुए थे। इनमें से आठ राज्यों का कोई विशेष हाल नहीं मालूम। मल्लों की तीन शाखाएँ थीं। एक कुशीनारा में, दूसरी पावा में और तीसरी काशी में राज्य करती थी। इन ग्यारहों में सब से अधिक महत्व शाक्यों, विदेहों और लिच्छवियों का था। विदेह और लिच्छवि आपस में मिल गये थे और दोनों मिलकर "वज्जी" कहलाते थे।

इन प्रजातन्त्र राज्यों में अक्सर लड़ाइयाँ भी हो जाया करती थीं। "कुणाल जातक" में लिखा है कि एक बार शाक्यों और कोलियों में बड़ा युद्ध हुआ। इस युद्ध का कारण यह था कि दोनों ही अपने अपने खेत सींचने के लिये रोहिणी नदी को एकमात्र अपने अधिकार में रखना चाहते थे। प्रायः राजतन्त्र राज्यों के राजकुमार या राजे इन प्रजातन्त्र राज्यों के नेताओं की लड़कियों के साथ विवाह-सम्बन्ध भी करते थे। "भद्दसाल जातक" में लिखा है कि कोशल के राजा "पसेन्दि" (प्रसेनजित्) ने शाक्यों से यह प्रस्ताव किया था कि तुम लोग अपने यहाँ की एक

लड़की का विवाह मेरे साथ कर दो। उसी से यह भी पता लगता है कि कोशल-राज के प्रधान सेनापति से लिच्छवियों का युद्ध हुआ था; क्योंकि उस सेनापति ने लिच्छवियों के पवित्र तालाब में स्नान करके उसे अपवित्र कर दिया था। "एकपण्ण जातक" में लिच्छवियों की राजधानी का बड़ा अच्छा वर्णन मिलता है। उसमें लिखा है कि उस नगर के चारों ओर तीन चहार-दीवारियाँ थीं। प्रत्येक दीवार एक दूसरी से तीन मील की दूरी पर थी और हर दीवार में कई फाटक और मीनारें थीं।

शाक्यों का प्रजातंत्र राज्य—संसार के प्राचीन इतिहास में कोई प्रजातन्त्र राज्य ऐसा नहीं हुआ, जिसका प्रभाव संसार की सभ्यता पर इतना अधिक पड़ा हो, जितना शाक्यों के प्रजातन्त्र का पड़ा है; क्योंकि यहीं उस महापुरुष ने जन्म लिया था, जिसका अनुयायी इस समय ससार की आबादी का एक तिहाई हिस्सा हो रहा है। गौतम बुद्ध इसी प्रजातन्त्र राज्य के एक नागरिक थे। उन्होंने यहीं स्वाधीनता और स्वतंत्र विचार की शिक्षा प्राप्त की थी। उनके पिता शुद्धोदन इसी प्रजातन्त्र राज्य के एक सभापति या प्रधान थे *। शाक्यों की जन-संख्या दस लाख थी। उनका देश नैपाल की तराई में पूरब से पच्छिम लगभग पचास मील और उत्तर से दक्खिन तीस या चालीस मील तक फैला हुआ था। उनकी राजधानी कपिलवस्तु थी। उनका शासन एक सभा के द्वारा होता था। यह सभा एक बड़े भारी सभा-भवन में होती थी, जिसे "संथागार" कहते थे। बूढ़े और जवान सब अपने राज्य के शासन में सम्मिलित होते थे। सब

* Buddhist India, pp. 19, 22, 41.

मिलकर सभापति का चुनाव करते थे जो "राजा" कहलाता था।

वज्जियों का प्रजातंत्र राज्य—"वज्जियों" का प्रजातंत्र राज्य प्राचीन भारतवर्ष का एक संयुक्त-राज्य था। इस प्रजातन्त्र राज्य में आठ भिन्न भिन्न जातियाँ सम्मिलित थीं। ये आठो जातियाँ एक होने के पहले बिलकुल अलग अलग थीं। इस संयुक्त-प्रजातन्त्र राज्य की राजधानी वैशाली थी। इसकी दो प्रधान जातियाँ "विदेह" और "लिच्छवि" नाम की थीं। विदेह पहले एक-तन्त्र राज्य था। रामायण और उपनिषद् के प्रसिद्ध राजा जनक इसी विदेह राज्य के अधिपति थे। प्रारंभ में विदेहों का राज्य तेईस सौ मील तक फैला हुआ था। पहले किसी समय लिच्छवि लोग तीन मनुष्यों को चुनकर उन्हें शासन का कार्य सौंप देते थे। वे तीनों उनके अग्रणी या मुखिया होते थे। लिच्छवियों की एक महासभा थी, जिसमे बूढ़ और जवान सब शामिल होते थे और राज-कार्य में योग देते थे। "एकपण्ण जातक" तथा "चुल्ल-कलिंग जातक" में इस महासभा के सभासदों की संख्या ७७०७ दी गई है। कदाचित् इस संख्या मे उस जाति के सब लोग शामिल थे। इस महासभा के सभासद "राजा" कहलाते थे। वे महासभा में बैठकर सिर्फ़ कानून बनाने मे ही राय नहीं देते थे, बल्कि सेना और आय व्यय सम्बन्धी सब बातों की भी देखभाल करते थे। इस सभा में राज्य-संबंधी सब बातों पर विचार और वाद-विवाद होता था। शासन के सुभीते के लिये यह महासभा अपने सभासदों मे से नौ सभासदों की एक संस्था चुन लेती थी। ये नौ सभासद "गण-राजानः" कहलाते थे और समस्त जन-समुदाय के प्रतिनिधि होते थे। "भद्दसाल जातक" से पता

लगता है कि महासभा के सभासदों का नियम के अनुसार जलाभिषेक होता था और वे "राज" पदवी से विभूषित किये जाते थे।

सिकन्दर के समय में प्रजातन्त्र राज्य—बौद्ध ग्रंथों के बाद यूनानी इतिहासकारों और लेखकों से प्रजातन्त्र राज्यों के बारे में बहुत कुछ पता लगता है। यूनानी इतिहासकारों के ग्रंथो से सूचित होता है कि ई० पू० चौथी शताब्दी के अंत में, जब कि मौर्य साम्राज्य की नीव पड़ रही थी, उत्तरी भारत में कई प्रजातंत्र या गण-राज्य विद्यमान थे। मेगास्थिनीज़ ने लिखा है कि जिस समय मैं भारत में था, उस समय अधिकतर नगर प्रजातंत्र, प्रणाली के अनुसार शासित होते थे *। उसने यह भी लिखा है कि उस समय कई जातियाँ ऐसी थीं, जो किसी के शासन मे नहीं थीं; वे अपना शासन स्वयं करती थी †। सिकन्दर को पजाब और सिन्ध मे पग पग पर ऐसे प्रजातंत्र राज्यों की सेनाओं का सामना करना पड़ा था। उत्तरी भारत के जिन राज्यों से सिकंदर की मुठभेड़ हुई थी, उनमें से अधिकतर प्रजातंत्र थे। इससे सूचित होता है कि ई० पू० चौथी शताब्दी में पंजाब में एक-तंत्र या राज-तन्त्र राज्य की अपेक्षा प्रजातंत्र राज्यों का अधिक प्रचार था। सिकंदर के समय निम्न-लिखित प्रजातंत्र या गण राज्य मुख्य थे—

(१) **आरट्ट (अराष्ट्रक)**—सिकन्दर के समय उत्तरी भारत में बहुत सी जातियाँ प्रजातंत्र शासन या स्वराज्य का सुख भोग

---

* Ancient India as described by Megasthenes. Translated by Mc. Crindle, p. 40.

† Mc. Crindle's "Ancient India as described by Megasthenes", pp. 143-44.

रही थीं। उनमें से एक जाति "आरट्टों" (अराष्ट्रकों) की थी। यूनानी इतिहास-लेखकों ने इन्हें लुटेरा और डाकू कहा है। महा-भारत में भी ये लुटेरे और डाकू कहे गये हैं। ये किसी राजा के शासन में न थे। कदाचित् ये लूट पाट करके अपना गुजारा करते थे। चन्द्रगुप्त मौर्य ने बहुत कुछ इन्हीं की सहायता से उन यूनानियों को उत्तरी पंजाब से मार भगाया था, जिन्हे सिकंदर पश्चिमोत्तर प्रांत तथा पंजाब पर यूनानी शासन स्थिर रखने के लिये छोड़ गया था। कदाचित् इन्हीं की सहायता से चन्द्रगुप्त अपने देश को विदेशी यूनानियों की पराधीनता से स्वतन्त्र करके भारतवर्ष का एकछत्र सम्राट् बन सका *। श्रीयुक्त काशीप्रसाद जायसवाल ने यह अनुमान किया है, और उनका अनुमान ठीक मालूम होता है, कि पंजाब में आजकल जो "अरोड़" हैं, वे इन्हीं "आरट्टों" या "अराष्ट्रकों" के वंशधर हैं †।

(२) मालव और क्षुद्रक—"मालव" और "क्षुद्रक" दोनों के नाम महाभारत में भी आते हैं। ये दोनों जातियाँ कौरवों की ओर से लड़ी थीं। सिकंदर को इन दोनों जातियों से बड़ा भयं-कर युद्ध करना पड़ा था। यूनानियों ने इनके नाम क्रम से मल्लोई (Mallois) और ओक्सीड्रकाई (Oxydrakai) लिखे हैं ‡। यूनानी इतिहास-लेखक एरिअन (Arrian) ने इन दोनों जातियों

---

* Mc. Crindle's "Invasion of India by Alexander" p 38 406

† Modern Review, May, 1913, p. 538.

‡ Mc. Crindle's "Invasion of India by Alexander", p. 140

के लोगों के बारे में लिखा है कि ये बड़े वीर और स्वाधीनता-प्रेमी थे और प्रजातन्त्र राज्य-प्रणाली से शासित होते थे। ये एक दूसरे के परम शत्रु थे और सदा एक दूसरे को नीचा दिखाने को तैयार रहते थे। पर सिकंदर के आक्रमण के समय इन दोनों जातियों ने पुरानी शत्रुता भुलाकर बाहरी शत्रु के आक्रमण से बचने के लिये आपस में एका कर लिया था। एकता का यह बन्धन दृढ़ करने के लिये दोनों ने एक दूसरे से विवाह-सम्बन्ध भी करना प्रारंभ किया था। यहाँ तक कि बात की बात मे दस सहस्र स्त्री-पुरुषों का विवाह एक दूसरे के यहाँ हो गया। सब मिलाकर दोनों की सेनाओं में नब्बे हजार पैदल, दस हज़ार सवार और करीब नौ सौ रथ थे। मालव लोग रावी और चनाब के बीच में तथा क्षुद्रक लोग रावी और व्यास के बीच में रहते थे।

(३) क्षत्रिय (क्षत्रोई)—"क्षत्रिय" जाति भी किसी राजा के अधीन न थी। यूनानी इतिहास-लेखक एरिअन ने लिखा है कि "क्षत्रिय" लोग बिलकुल स्वाधीन थे। ये अपने नेता चुनकर शासन का काम उन्हीं को सौंप देते थे *। "क्षत्रिय" लोग जहाज़ और नाव बनाने में बड़े कुशल थे। जब सिकंदर ने इन लोगों को हराया, तब इन्होंने उसके लिये बहुत से जहाज बनाकर भेंट किये। ये कदाचित् उस स्थान पर रहते थे, जहाँ पंजाब की पाँचो नदियाँ सिन्धु नदी में मिलती थीं। श्रीयुत जायसवाल जी

---

* Mc. Crindle's "Invasion of India by Alexander" p. 155, 156, 167, 169.

का अनुमान है कि पंजाब और सिन्ध के आजकल के "खत्री" कदाचित् इन्हीं "क्षत्रियों" के वंशधर हैं *।

(४) **अगलस्सोई**—यह जाति भी किसी राजा के अधीन न थी। इसने भी सिकंदर का मुकाबला बड़ी बहादुरी से किया था। इस जाति के लोग बड़े वीर, देशभक्त और मानमर्यादा के पालक थे। ये अप्रतिष्ठा और जातीय अपमान सहने की अपेक्षा मृत्यु को अधिक श्रेष्ठ समझते थे। इन लोगों ने चालीस हजार पैदल और तीस हजार सवार सेना के साथ सिकंदर का सामना किया; पर अंत में ये हार गये। इनमें से बहुतेरे मार डाले गये और बहुतेरे पकड़कर गुलामों की तरह बेच डाले गये। सिकंदर ने इनके देश में तीस मील तक बढ़कर इनके प्रधान नगर पर कब्जा कर लिया। इसके बाद जब वह दूसरे नगर की ओर बढ़ा, तब बड़ी दृढ़ता के साथ रोका गया। इस लड़ाई में सिकंदर के बहुत से आदमी काम आये। कहा जाता है कि उस नगर में २०,००० मनुष्य थे। जब उन लोगों ने देखा कि अब नगर की रक्षा नहीं हो सकती, तब नगर में आग लगाकर वे सब उसमें जल मरे। उनमें से केवल तीन हजार मनुष्य बच गये। मुसलमानी जमाने में राजपूतों में सती की प्रथा कदाचित् इसी प्राचीन समय की प्रथा का अवशेष थी। यह जाति संभवतः झेलम और चनाब नदियों के बीच में रहती थी। इस जाति का असली नाम क्या था, यह नहीं कहा जा सकता। पर यूनानी लोग इसे अगलस्सोई (Agalassois) कहते थे †।

---

* Modern Review, May 1913, p. 538.

† V. Smith's "Early History of India" p 93.

(५) **नीसाइअन**—यूनानी इतिहास-लेखक एरिअन (Arrian) ने लिखा है कि नीसाइअन (Nysaians) लोग स्वतन्त्र थे। ये किसी राजा के अधीन न थे *। इनके देश का शासन-कार्य थोड़े से अमीर उमरा के हाथ में रहता था, जिनके ऊपर एक सभापति या अगुआ होता था। अमीर उमरा के प्रतिनिधि तीन सौ चुने हुए बुद्धिमान् मनुष्य होते थे। जब सिकन्दर ने इनके नगर नीसा (Nysa) पर हमला किया, तब इन लोगों ने बड़ी वीरता से अपने नगर की रक्षा की। सिकंदर उसे जीत न सका; इसलिये उसने उसके चारों ओर घेरा डालकर उसे जीतना चाहा। इस पर नीसाइअन लोगों ने हार मान ली और सिकंदर से सन्धि की प्रार्थना की। सिकंदर ने उनकी प्रार्थना स्वीकृत कर ली और उनका देश उन्हीं को लौटा दिया। नीसाइअनों ने अपनी तीन सौ सवार सेना सिकदर को सहायतार्थ दी। नीसा का ठीक ठीक स्थान अभी निश्चित नहीं हुआ है। वह कदाचित् पश्चिमोत्तर सीमा में उस स्थान पर था, जहाँ आजकल काफिर लोग रहते हैं †। आजकल के काफिर लोग शायद इन्हीं नीसाइअनों के वंशधर हैं। नीसाइअनों का असली नाम क्या था, यह भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

(६) **सबर्कै**—इस जाति का असली नाम क्या था, यह नहीं कहा जा सकता। पर यूनानी लोग इसे सबर्कै (Sabarcae)

---

* Mc Crindle's "Invasion of India by Alexander", pp. 79, 80; Arrian, II, V.

† V. Smith's "Position of the Autonomous Tribes of the Punjab" in J. R. A. S. 1913. pp 685–702.

कहते थे। ये किसी राजा के अधीन न थे। राज्य का काम चलाने के लिये ये तीन मुखिया चुनते थे, जो "सेनापति" कहलाते थे। इनकी सेना में साठ हज़ार पैदल, छः हज़ार सवार और पाँच सौ रथ थे। इन लोगों ने सिकंदर का अधिपत्य स्वीकृत कर लिया था। ये कदाचित् उस स्थान के पास कहीं रहते थे, जहाँ पंजाब की पाँचो नदियाँ एक होकर सिंधु नदी में मिलती थीं *।

इनके सिवा यूनानी इतिहास-लेखकों ने "संबस्तई" (Sambastai), "गेड्रोज़िआइ" (Gedrosii), "एड्रेस्तई" (Adraistai), "सिबोई" (शैव ?) आदि कई प्रजातन्त्र जातियों के नाम लिखे हैं, जो सिकंदर के समय पंजाब में विद्यमान थीं।

कौटिलीय अर्थशास्त्र में प्रजातन्त्र-राज्य—बौद्ध ग्रंथों और यूनानी इतिहासकारों के कथन की पुष्टि कौटिलीय अर्थशास्त्र से भी होती है, जिस में एक अध्याय † संघों या गण-राज्यों के बारे में है। उसमें संघ या गणराज्य दो भागों में बाँटे गये हैं; यथा—

"काम्भोज-सुराष्ट्र-क्षत्रिय श्रेण्यादयो वार्त्ताशस्त्रोपजीविनः।"

"लिच्छिविक-मल्लक-मद्रक-कुकुर-कुरु-पांचालादयो राजशब्दोपजीविनः॥"

अर्थात्—कांभोज, सुराष्ट्र आदि के क्षत्रिय गण व्यापार तथा खेती करते थे और सेनाओं मे भर्त्ती होकर युद्ध भी करते थे। ये एक प्रकार के गण राज्य हुए। दूसरे प्रकार का गण-राज्य लिच्छवियों, वृजियों, मल्लों, मद्रों, कुकुरों, कुरुओं, पांचालों

---

* Mc, Crindle's "Invasion of India by Alexander" p. 252.

† कौटिलीय अर्थशास्त्र, अधि० ११, अध्याय १.

और इसी तरह के दूसरे गणों का था। ये लोग अपने नाम के पहले "राजा" शब्द लगाते थे। ऊपर बौद्ध ग्रंथों के आधार पर लिखा जा चुका है कि बुद्ध के समय में "लिच्छवि" और "मल्ल" आदि ग्यारह प्रजातन्त्र या गण-राज्य थे। यह भी लिखा जा चुका है कि लिच्छवियों की महासभा के सभासदों की संख्या ७७०७ थी और वे सब "राजा" कहलाते थे। कौटिलीय अर्थ-शास्त्र (अधि० ११, अध्या० १) से पता लगता है कि ये सब गण-राज्य एक प्रकार के प्रजातन्त्र राज्य थे। इनके शासन का कार्य इनके मुखियों के हाथ में रहता था, जो सब लोगों की ओर से चुनकर नियुक्त किये जाते थे।

अर्थशास्त्र मे प्रजा-तन्त्र राज्यों की जो सूची दी है, उससे पता लगता है कि मौर्य काल के प्रारंभ में प्रायः समस्त उत्तरी भारत इन प्रजातन्त्र राज्यों के अधिकार में था। "लिच्छवि", "वृजि" और "मल्ल" पूरब की ओर, "कुरु" और "पांचाल" मध्य में, "मद्र" उत्तर-पश्चिम की ओर और "कुकुर" दक्षिण-पश्चिम की ओर थे। ये गण-राज्य बड़े शक्ति-शाली थे, इस बात का पता कौटिलीय अर्थशास्त्र से लगता है; क्योंकि उसमें लिखा है—"संघलाभो दंडमित्रलाभानामुत्तमः" अर्थात् सेना-बल और मित्र-बल की अपेक्षा संघ-बल अथवा गण-राज्य की सहायता का लाभ अधिक श्रेयस्कर है *।

प्रजातन्त्र राज्यों की विशेषताएँ—बौद्ध ग्रंथों, यूनानी

* कौटिलीय अर्थशास्त्र (११ अधि० १ अध्या०)

इतिहास-लेखकों के इतिहासों और कौटिलीय अर्थ शास्त्र से प्रजातन्त्र की निम्नलिखित विशेषताएँ सूचित होती हैं।

(१) साधारण तौर पर प्रजातन्त्र राज्य के कुल व्यक्ति शासन कार्य में योग देते थे और सब "राजा" कहलाते थे।

(२) उन राज्यों में एक या एक से अधिक प्रधान, मुखिया या अगुआ होते थे, जो शासन कार्य करते थे। किसी किसी राज्य में कुछ कुल भी ऐसे होते थे जिनके हाथ में शासन का काम रहता था।

(३) उन राज्यों में सब के अधिकार बराबर समझे जाते थे।

(४) राज्य-संबंधी मामलों पर सब लोग मिलकर सभाभवन या "संथागार" में विचार करते थे।

(५) वे अपने नियमों का पालन यथोचित रूप से करते थे।

(६) अपनी शक्ति बढ़ाने के लिये कभी कभी कई प्रजातंत्र राज्य एक साथ मिलकर एक संयुक्त राज्य बन जाते थे।

(७) उन राज्यों को अपनी प्रतिष्ठा का बड़ा ख़याल रहता था। वहाँ के लोग वीरता के लिये भी प्रसिद्ध थे। हारने की अपेक्षा लड़ते हुए मर जाना वे अधिक उत्तम समझते थे।

(८) कभी कभी उनमें फूट और द्वेष भी हो जाता था।

मौर्य काल में प्रजातन्त्र राज्यों का ह्रास—मौर्य काल मे धीरे धीरे प्रजातन्त्र राज्यों का ह्रास होने लगा। चन्द्रगुप्त के मन्त्री चाणक्य की कुटिल नीति के आगे प्रजातन्त्र राज्य न ठहर सके। चाणक्य की नीति यह थी कि सब छोटे छोटे राज्यों को तोड़कर एक बड़ा साम्राज्य खड़ा किया जाय और चन्द्रगुप्त मौर्य उसका अधिपति बनाया जाय। इसलिये उसने इन राज्यों को धीरे धीरे तोड़ फोड़कर साम्राज्य में मिलाना शुरू किया। उसने देखा कि

प्रजातन्त्र राज्यों की शक्ति उनकी एकता में है; ज्योंही उनमें फूट का बीज पड़ा, कि वे फिर स्थिर नहीं रह सकते। इसलिये उसने उन राज्यों में धीरे धीरे फूट का बीज बोना शुरू किया। इसी उद्देश्य से उसने उन राज्यों में बहुत से गुप्तचर भेजे थे। वे गुप्तचर जाकर भिन्न भिन्न वेषों में उन लोगों में रहते थे और उनमें फूट पैदा करने की कोशिश करते थे। वेश्याएँ भी इस काम में लगाई जाती थीं। जब इस तरह से उन लोगों में फूट पैदा हो जाती थी, तब चाणक्य को अपनी कुटिल नीति काम में लाने का मौका मिलता था। कौटिल्य ने अपना यह उद्देश्य पूरा करने के लिये इसी तरह के बहुत से उपाय किये जिसमें "संघेष्वेवमेकराजो वर्तेत" अर्थात् "चन्द्रगुप्त मौर्य समस्त संघों या प्रजातन्त्र राज्यों का एकछत्र सम्राट् हो जाय।" उस का यह उद्देश्य बहुत कुछ सफल भी हो गया; क्योंकि मौर्य काल में इन प्रबल और स्वाधीन प्रजातन्त्र राज्यों के अस्तित्व का कोई दृढ़ प्रमाण नहीं मिलता। संभवतः ये सब राज्य मौर्य सम्राट् के महान् साम्राज्य में मिला लिये गये और उनका स्वाधीन अस्तित्व जाता रहा। प्रजातन्त्र राज्यों को तोड़ने के लिये जो जो उपाय किये जाते थे, वे सब कौटिलीय अर्थ-शास्त्र (अधि० ११, अध्याय १) में विस्तार-पूर्वक दिये हुए हैं।

—※:०:※—

नवाँ अध्याय

मौर्य साम्राज्य की शासन पद्धति

मेगास्थिनीज़ के भारत-वर्णन, कौटिलीय अर्थशास्त्र तथा अशोक के शिलालेखों से मौर्य साम्राज्य की शासन पद्धति का अच्छा पता लगता है। अर्थशास्त्र के अनुसार राज्य-शासन का काम लगभग तीस विभागों में बँटा हुआ था। इनमें से मुख्य सेना विभाग, नगर-शासन विभाग, प्रांतीय शासन विभाग, गुप्तचर विभाग, कृषि विभाग, नहर विभाग, व्यापार और वाणिज्य विभाग, नौ विभाग, शुल्क विभाग (चुंगी का महकमा), आकर विभाग (खान का महकमा), सूत्र विभाग (बुनाई का महकमा), सुरा विभाग (आबकारी का महकमा), पशु-रक्षा विभाग, मनुष्य-गणना विभाग. आय-व्यय विभाग, परराष्ट्र विभाग, न्याय विभाग आदि थे। कौटिलीय अर्थशास्त्र में इन विभागों के अध्यक्षों या सुपरिन्टेन्डेन्टों के कर्त्तव्य बहुत विस्तार के साथ दिये गये हैं।

सेना विभाग

चन्द्रगुप्त मौर्य की सेना प्राचीन प्रथा के अनुसार चतुरंगिणी थी, किन्तु उसमें जल सेना की विशेषता थी। चन्द्रगुप्त की सेना में ९००० हाथी, ८००० रथ, ३०,००० घोड़े और ६,००,००० पैदल सिपाही थे। हर एक रथ पर सारथी के सिवा दो धनुर्धर और हर हाथी पर महावत को छोड़कर तीन धनुर्धर बैठते थे। इस तरह से सैनिकों की संख्या ६,००,००० पैदल, ३०,०००

घुड़सवार, ३६,००० गजारोही और २४,००० रथी अर्थात् कुल ६,९०,००० थी, जिनको नियमित रूप से वेतन मिलता था *।

सैनिक मंडल—सेना का शासन एक मंडल के अधीन था। इस मंडल में तीस सभासद थे, जो छः विभागों मे विभक्त थे। प्रत्येक विभाग में पाँच सभासद होते थे। प्रथम विभाग जल-सेनापति के सहयोग से जल-सैन्य का शासन करता था। द्वितीय विभाग के अधिकार में सैन्य-सामग्री और रसद आदि का प्रबन्ध रहता था। रण वाद्य बजानेवालों, साईसों, घसियारों आदि का प्रबन्ध भी इसी विभाग से होता था। तृतीय विभाग पैदल सेना की व्यवस्था करता था। चतुर्थ विभाग के अधिकार में सवार सेना का प्रबन्ध था। पंचम विभाग रथ-सेना की देख भाल करता था; और षष्ठ विभाग हस्ति-सैन्य का प्रबन्ध करता था। चतुरंगिणी सेना तो बहुत दिनों से चली आ रही थी; पर जल-सेना विभाग और सैन्य-सामग्री विभाग चन्द्रगुप्त ने नये स्थापित किये थे †।

सेना की भर्ती—चाणक्य के अनुसार पैदल सेना के सिपाही छः प्रकार से भर्ती किये जाते थे। यथा—"मौल" जो बाप-दादों के समय से राज-सेना में भर्ती होते चले आते थे; "भृत" जो किराये पर लड़ने के लिये भर्ती किये जाते थे; "श्रेणी" जो सहयोग के सिद्धांतों पर एक साथ रहनेवाली कुछ योद्धा जातियों में से भर्ती किये जाते थे; "मित्र" जो मित्र देशों में से भर्ती किये

---

* Pliny, VI, 19; Plutarch's "Life of Alexander" Ch, 62; Arian, Indica; Ch. 16; Strabo, XV, 52.

† Pliny, VI, 19

जाते थे; "अमित्र" जो शत्रु देशों में से भर्ती किये जाते थे; और "अटवी" जो जंगली जातियों में से भर्ती किये जाते थे *।

सेना के अस्त्र शस्त्र—कौटिलीय अर्थशास्त्र में "स्थिरयन्त्र" (जो एक ही जगह से चलाया जाय), "चलयन्त्र" (जो एक जगह से दूसरी जगह हटाया जा सके), "हलमुख" (जिसका सिरा हल की तरह हो), "धनुष", "बाण", "खण्ड", "क्षुर-कल्प" (जो छूरे के समान हो) आदि अनेक अस्त्र-शस्त्रों के नाम मिलते हैं। इनके भी बहुत से भेद तथा उपभेद थे †।

दुर्ग या किले—चाणक्य के अनुसार उन दिनों दुर्ग कई प्रकार के होते थे और चारों दिशाओं में बनाये जाते थे। निम्न-लिखित प्रकार के दुर्गों का पता चलता है। "औदक" जो द्वीप की तरह चारो ओर पानी से घिरा रहता था; "पार्वत" जो पर्वतो की चट्टानो पर बनाया जाता था; "धान्वन" जो रेगिस्तान या ऊसर भूमि में बनाया जाता था; और "वनदुर्ग" जो जंगल में बनाया जाता था। इनके सिवा बहुत से छोटे छोटे किले गाँवों के बीच बीच में भी बनाये जाते थे। जो किला ८०० गाँवों के केन्द्र में बनाया जाता था, उसे "स्थानीय"; जो किला ४०० गाँवों के बीच में बनाया जाता था, उसे "द्रोणमुख"; जो किला २०० गाँवों के मध्य में बनाया जाता था, उसे "खार्वटिक"; और जो किला दस गाँवों के केन्द्र में रहता था, उसे "संग्रहण" कहते थे ‡।

---

* कौटिलीय अर्थशास्त्र, अधि० ६, अध्याय २.

† कौटिलीय अर्थशास्त्र; अधि० २, अध्याय १८.

‡ कौटिलीय अर्थशास्त्र, अधि० २, अध्या० १ और ३.

नगर-शासन विभाग

नगर-शासक मण्डल—जिस प्रकार सेना का शासन एक सैनिक मण्डल के अधीन था, उसी प्रकार नगर का शासन भी एक दूसरे मण्डल के हाथ में था। यह मण्डल एक प्रकार से आज कल की म्युनिसिपैलिटी का काम करता था और सैनिक मण्डल की तरह छः विभागों में बँटा हुआ था। इस मण्डल के भी तीस सभासद थे और प्रत्येक विभाग पाँच सभासदों के अधीन था। मेगास्थिनीज़ ने इन विभागों का वर्णन इस प्रकार किया है* —

प्रथम विभाग का कर्त्तव्य शिल्प-कलाओं, उद्योग-धन्धों और कारीगरों की देखभाल करना था। यह विभाग कारीगरों की मज़दूरी की दर भी निश्चित करता था। कारखानेवालों के कच्चे माल की देखभाल भी इसी विभाग के सपुर्द थी। इस बात पर विशेष ध्यान दिया जाता था कि कारख़ानेवाले कहीं घटिया या खराब किस्म का कच्चा माल तो काम में नहीं लाते। कारीगर राज्य के विशेष सेवक समझे जाते थे। इसलिये जो कोई उनका अंगभंग करके उन्हें निकम्मा और अपाहिज बनाता था, उसे प्राणदण्ड दिया जाता था।

द्वितीय विभाग का कर्त्तव्य विदेशियों की देखरेख करना था। मौर्य साम्राज्य का विदेशी राज्यों के साथ बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध था। अनेक परदेशी व्यापार अथवा भ्रमण के लिये इस देश में आते थे। इस विभाग की ओर से उनका उचित निरीक्षण किया

* Mc. Crindle's Ancient India as described by Megasthenes and Arrian.

जाता था और उनकी सामाजिक स्थिति के अनुसार उन्हें ठहरने के लिये स्थान तथा नौकर चाकर दिये जाते थे। आवश्यकता पड़ने पर वैद्य लोग उनकी चिकित्सा करने के लिये भी नियुक्त थे। मृत विदेशियों का अन्तिम संस्कार उचित रूप से किया जाता था। मरने के बाद उनकी संपत्ति आदि का प्रबन्ध इसी विभाग की ओर से होता था और उसकी आय उनके उत्तराधिकारियों के पास भेज दी जाती थी। यह विभाग इस बात का बड़ा अच्छा प्रमाण है कि ईसवी तीसरी और चौथी शताब्दी में भी भारतवर्ष का विदेशी राष्ट्रों से पूरा सम्बन्ध था और बहुत से विदेशी व्यापार आदि के लिये यहाँ आते थे *।

तृतीय विभाग का कर्त्तव्य जन्म और मृत्यु की संख्याओं का ठीक ठीक हिसाब रखना था। ये संख्याएँ इसलिये रक्खी जाती थीं कि जिसमें राज्य को इस बात का पता लगता रहे कि नगर की आबादी कितनी बढ़ी या कितनी घटी। यह लेखा रखने से प्रजा से कर वसूल करने मे भी सहूलियत होती थी। यह कर एक प्रकार का पोल टैक्स (Poll-tax) था, जो हर मनुष्य पर लगाया जाता था। विदेशियों को यह देखकर आश्चर्य होता है कि उस प्राचीन काल में भी एक भारतीय शासक ने अपने साम्राज्य की जन-संख्या जानने का ऐसा अच्छा प्रबन्ध कर रक्खा था।

चतुर्थ विभाग के अधीन व्यापार-वाणिज्य का शासन था। बिक्री की चीजों का भाव नियत करना और सौदागरों से बटखरों तथा नाप-जोखो का यथोचित उपयोग कराना इस विभाग

---

* Indian Antiquary; 1905, p. 200

का कर्त्तव्य था। इस विभाग के अधिकारी बड़ी सावधानी से इस बात का निरीक्षण करते थे कि बनिये तथा व्यापारी राजमुद्रांकित बटखरों और मापों का प्रयोग करते हैं या नहीं। प्रत्येक व्यापारी को व्यापार करने के लिये राज्य से परवाना या लाइसेन्स लेना पड़ता था और इसके लिये उसे एक प्रकार का कर भी देना पड़ता था। एक से अधिक प्रकार के व्यापार करने के लिये व्यापारी को दूना कर देना पड़ता था।

पंचम विभाग कारखानों और उनमें बनी हुई वस्तुओं की देखभाल करता था। पुरानी और नई वस्तुएँ अलग अलग रखने की आज्ञा थी। राजाज्ञा के बिना पुरानी वस्तुएँ बेचना नियम के विरुद्ध और दण्डनीय समझा जाता था *।

षष्ठ विभाग बिकी हुई वस्तुओं के मूल्य पर दशमांश कर वसूल करता था। जो कोई कर न देकर इस नियम का भंग करता था, उसे प्राणदण्ड दिया जाता था †।

अपने अपने विभाग के कर्त्तव्यों के अतिरिक्त सभासदों को एक साथ मिलकर भी नगर के शासन के संबंध में सभी आवश्यक कार्य करने पड़ते थे। हाट, बाट, घाट और मन्दिर आदि लोकोपकारी स्थानों का प्रबन्ध भी इन्हीं लोगों के हाथ में था।

मालूम होता है कि साम्राज्य के तक्षशिला, उज्जयिनी आदि सभी बड़े बड़े नगरों का शासन इसी विधि से होता था।

---

* कौटिलीय अर्थशास्त्र; अधि० ४, अध्या० २ और ७.

† Mc. Crindle's Ancient India; p. 54.

प्रान्तीय शासन विभाग

दूरस्थित प्रान्तों का शासन राज-प्रतिनिधियों के द्वारा होता था। ये राज-प्रतिनिधि प्रायः राजघराने के लोग हुआ करते थे। उनके अधीन अनेक कर्मचारी होते थे। "अर्थशास्त्र" के अनुसार प्रत्येक राज्य चार मुख्य प्रान्तों में विभक्त होना चाहिए और प्रत्येक प्रान्त एक एक राजकुमार या "स्थानिक" नामक शासक के अधीन होना चाहिए। इस बात का पता निश्चित रूप से नहीं लगता कि चन्द्रगुप्त मौर्य का विस्तृत साम्राज्य कितने प्रान्तों में बँटा था। पर अशोक के लेखों से पता लगता है कि उसका साम्राज्य चार भिन्न भिन्न प्रान्तों में विभक्त था। अशोक के शिलालेखों में तक्षशिला, उज्जयिनी, तोसली और सुवर्णगिरि नामक चार प्रान्तीय राजधानियों के नाम मिलते हैं *। तक्षशिला पश्चिमोत्तर प्रान्त की, उज्जयिनी मध्य भारत की, तोसली कलिंग प्रान्त की और सुवर्णगिरि दक्षिण प्रान्त की राजधानी थी। कहा जाता है कि अशोक अपने पिता के जीवन-काल में तक्षशिला और उज्जैन दोनों जगहों का प्रान्तिक शासक रह चुका था। राज-प्रतिनिधि या राजकुमार के बाद "रज्जुकों" का ओहदा था, जो कदाचित् आजकल के कमिश्नरों के समान थे। उनके नीचे "प्रादेशिक", "युक्त", "उपयुक्त" आदि अनेक कर्मचारी होते थे, जो राज्य का काम नियमपूर्वक चलाते थे †। "प्रादेशिक" कदाचित्

---

* तक्षशिला, उज्जयिनी और तोसली का उल्लेख "दो कलिंग शिलालेख" में तथा सुवर्णगिरि का उल्लेख ब्रह्मगिरि के "प्रथम लघु शिलालेख" में आया है।

† देखिये अशोक का "तृतीय शिलालेख" और "चतुर्थ स्तंभलेख" तथा अर्थशास्त्र (अधि० २, अध्याय ६) और मनुस्मृति (अध्याय ८, श्लो० ३४)।

एक जिले के अफ़सर या कलेक्टर होते थे और ओहदे में रज्जुकों से नीचे थे। अर्थशास्त्र मे "प्रदेष्टृ" शब्द कई बार आया है, जिसका अर्थ वही है, जो "प्रादेशिक" का है। इससे पता लगता है कि "प्रदेष्टृ" एक प्रकार के ऐसे राजकर्मचारी थे, जिनका काम राजकर वसूल करना और प्रजा की रक्षा करना था। "युक्त" और "उपयुक्त" कदाचित् एक प्रकार के छोटे अफसर थे, जिनका काम हिसाब किताब रखना और राज-कर वसूल करना था। ये आज-कल के क्लर्कों और छोटे छोटे पुलिस अफ़सरों का भी काम करते थे। इन अफ़सरों को लिखने पढ़ने के काम में सहायता देने के लिये बहुत से "लेखक" भी रहते थे। अर्थशास्त्र और अशोक के लेखों से पता चलता है कि मौर्य साम्राज्य की शासन-प्रणाली बहुत ही सुव्यवस्थित और ऊंचे ढंग की थी। सीमा-प्रान्तों की जंगली जातियाँ अपने अपने सरदारों द्वारा शासित होती थीं, परन्तु उन पर सम्राट् का निरीक्षण रहता था*। साम्राज्य के बहुत से भागों में स्वतंत्र राजे महाराजे भी शासन करते थे, जो अपने आपको नाम मात्र के लिये मौर्य साम्राज्य के अधीन मानते थे। अशोक के जमाने मे राजा तुषास्फ इसी प्रकार का राजा था†।

दूरस्थित राजकर्मचारियों की कार्रवाई की सूचना देने और रत्ती रत्ती समाचार सम्राट् को भेजने के लिये "प्रतिवेदक"

---

* सीमा प्रान्त की जंगली जातियों का उल्लेख अशोक के "दो कलिंग शिलालेख" में आया है।

† देखिये रुद्रदामन् का गिरनारवाला शिलालेख (Epigraphia Indica; VIII. 36.)

(सम्वाददाता) नियुक्त थे। ये लोग प्रति दिन हर नगर या ग्राम का पूरा समाचार राजधानी को भेजा करते थे।

गुप्तचर विभाग—सेना के बाद राज्य की रक्षा गुप्तचरों पर निर्भर थी। अर्थ शास्त्र में गुप्तचरों और उनके विभाग का बहुत अच्छा वर्णन मिलता है। गुप्तचर लोग भिन्न भिन्न नामों और रूपों से घूम फिरकर राजा के पास हर प्रकार का समाचार भेजा करते थे। वे केवल साम्राज्य के अंदर ही नहीं, बल्कि साम्राज्य के बाहर भी उदासीन तथा शत्रु राज्यों मे जाकर गुप्त बातों का पता लगाया करते थे। आधुनिक सभ्य राष्ट्रों की भाँति चन्द्रगुप्त ने भी गुप्तचर संस्था स्थापित की थी और इसी संस्था के द्वारा वह सब बातों का पता लगाया करता था। कौटिलीय अर्थशास्त्र मे निम्नलिखित गुप्तचरों के नाम, रूप और कार्य दिये हैं—

(१) कापटिक, (२) उदास्थित, (३) गृहपतिक, (४) वैदेहक, (५) तापस, (६) सत्री, (७) तीक्ष्ण, (८) रसद और (९) भिक्षुकी*।

जो चतुर गुप्तचर दूसरों के मन की बात सहज मे जान लेते थे, वे "कापटिक छात्र" कहलाते थे। विद्यालयों के विद्यार्थियों तथा अध्यापकों के कार्यों पर ध्यान रखना इसी वर्ग के गुप्तचरों का काम था। जब कोई अपराधी भागकर विद्यार्थी के रूप में किसी पाठशाला में जा छिपता था, तब इसी वर्ग के गुप्तचर उसे अपनी चालाकी से पकड़ लेते थे।

जो गुप्तचर तपस्वी, सच्चरित्र और दूरदर्शी होते थे, वे "उदास्थित" कहलाते थे। इस वर्ग के गुप्तचरों को यथेष्ट धन

---

* अर्थशास्त्र अधि० १, अध्याय ११-१२.

दिया जाता था, जिससे वे अपनी शिष्य मण्डली के साथ प्रकट रूप से खेती, गोपालन, वाणिज्य आदि किया करते थे, पर गुप्त रूप से राजा को समाचार भी दिया करते थे। इस श्रेणी के गुप्तचर आचार्य की योग्यता रखते थे; अर्थात् वे किसी शास्त्र के विद्वान्, किसी विद्यालय के आचार्य, राज्य से वृत्ति पानेवाले और सूक्ष्म-दर्शी होते थे।

वृत्ति या व्यापार से हीन, किन्तु सच्चरित्र और दूरदर्शी कृषक "गृहपतिक" नाम के गुप्तचरों में भर्ती किये जाते थे। इन्हें राज्य की ओर से भूमि दे दी जाती थी, जिसे जोत बोकर ये अपना निर्वाह करते थे और राजा को ग्राम के गुप्त समाचार दिया करते थे। इस श्रेणी के गुप्तचर प्रकट रूप से तो आजकल के पटवारियों का काम करते थे, पर गुप्त रूप से राजा को अपने अधीनस्थ ग्रामों के समाचार दिया करते थे। यदि कोई नया आदमी किसी गाँव में आकर बसता था, तो ये गुप्तचर उसके कुल-शील आदि का भी पता लगाते थे।

वृत्ति या व्यापार से हीन, किन्तु सच्चरित्र और दूरदर्शी वणिक् "वैदेहक" नाम के गुप्तचरों में भर्ती किये जाते थे। सेठ, साहूकार आदि गिरी हालत में आ जाने पर इस वर्ग में भर्ती हो जाते थे। वे दूसरे सेठों, साहूकारों और व्यापारियों पर नजर रखते थे और सन्देह होने पर राजा को समाचार देते थे।

जो गुप्तचर साधुओं के वेश में, सिर मुड़ाये हुए या जटा रखे हुए घूमते थे, वे "तापस" कहलाते थे। ये गुप्त रीति से लोगों के चरित्र देखते थे, अपराधियों का पता लगाते थे और जन-समाज के विचारों तथा प्रवृत्तियों का निरीक्षण करते थे।

इनके साथी इनके शिष्य बने रहते थे। इनके कुछ साथी साधारण मनुष्यों की तरह जनता में घूम फिरकर अपने नायक साधु की प्रशंसा करते और उनका गुण-गान करते थे। इस ढंग से ये लोगों पर अपना प्रभाव डालकर उनकी थाह लेते थे और उनके गुप्त मनोविकारों, विचारों और रहस्यों का पता लगाते थे।

जो अनाथ होते थे, जिनका पालन-पोषण राज्य की ओर से होता था और जो विद्यार्थी बनकर ज्योतिष आदि विद्याओं का अध्ययन करते थे, वे "सत्री" नाम के गुप्तचरों में भर्ती किये जाते थे। ये लोगों के साथ मिलकर उनकी गुप्त बातें जाना करते थे।

जो लोग बड़े साहसी, शूर और अपने जीवन की परवाह न करनेवाले होते थे, वे "तीक्ष्ण" नाम के गुप्तचरों में भर्ती किये जाते थे। ये जान तक खतरे में डालकर बड़े से बड़े काम कर लाते थे।

जिनमे किसी प्रकार का स्नेह या ममता न होती थी और जो बड़े कठोर-हृदय होते थे, वे "रसद" कहलाते थे। ये अपने स्वामी या राजा के सकेत पर किसी को ऐसा रस या विप पिला देते थे कि वह इस संसार से ही कूच कर जाता था।

जो स्त्रियाँ गुप्तचरों मे भर्ती होती थीं, वे "भिक्षुकी" कहलाती थीं। ये प्रायः विधवा ब्राह्मणी होती थीं। राजान्तःपुर में इनका बड़ा सम्मान होता था, इससे राज-मंत्रियो तथा अन्य बड़े बड़े घरानों मे भी इनका प्रवेश रहता था। इस कारण ये बड़ी आसानी से स्त्रियों के द्वारा गुप्त बातों का पता लगा लेती थीं।

इनके सिवा सूद (रसोइये) आरालिक (हलवाई), स्नापक (स्नान करानेवाले कहार, आदि), संवाहक (पैर दबानेवाले), आस्तरक (बिछौना बिछानेवाले), कल्पक (हज्जाम), प्रसाधक

(वस्त्र-आभूषण आदि पहनानेवाले), उदक-परिचारक (पानी पिलानेवाले), नर्तक, गायक, वादक, वाग्जीवी (चारण आदि) कुशीलव (नट आदि) से भी गुप्तचर का काम लिया जाता था। गुप्तचर लोग छल से प्रायः गूँगे, बहरे और अंधे बनकर भी रहते थे। इन वेशों मे ये लोगों के रंग ढंग देखा करते थे।

वेश्याओं से भी गुप्तचर का काम लिया जाता था। गुप्तचर लोग गूढ़ या सांकेतिक लेख (Cipher Writing) द्वारा गुप्त संवाद भेजा करते थे। अर्थशास्त्र में इस तरह के गूढ़ या सांकेतिक लेख का नाम "संज्ञालिपि" या "गूढ़लेख्य" दिया है।

कृषि विभाग

राज्य की ओर से "सीताध्यक्ष" नामक एक अधिकारी नियुक्त रहता था, जो कृषि विभाग का शासन करता था *। उसका पद प्रायः वही था, जो आजकल के "डाइरेक्टर आफ एग्रिकल्चर" का है। वह कृषि विद्या का पूर्ण पण्डित होता था। इस विद्या के शास्त्रीय और व्यावहारिक दोनो ज्ञान उसे रहते थे। खेती की भूमि राजा की संपत्ति मानी जाती थी और राजा किसानो से पैदावार का चौथाई या छठा भाग कर के तौर पर लेता था। यह पता नहीं लगता कि लगान का बन्दोबस्त हर साल होता था या कई सालों के बाद। किसान लोग सैनिक सेवा से अलग रक्खे जाते थे। मेगास्थिनीज यह देखकर बहुत चकित हुआ था कि जिस समय शत्रु-सेनाएँ घोर संग्राम मचाये रहती थीं, उस

* कौटिलीय अर्थशास्त्र, अधि २, अध्या० २४.

समय भी खेतिहर लोग शान्तिपूर्वक खेती के काम में लगे रहते थे*।

नहर विभाग—भारतवर्ष सदा से कृषि-प्रधान देश रहा है। अतएव इस देश के लिये सिंचाई का प्रश्न सदा से बहुत महत्त्व का गिना जाता है। चन्द्रगुप्त के शासन के लिये यह बड़े गौरव की बात है कि उसने सिंचाई का एक अलग विभाग ही बना दिया था। इस विभाग पर वह विशेष ध्यान देता था। मेगास्थिनीज़ ने भी लिखा है—"भूमि के अधिकतर भाग में सिंचाई होती है और इसी से साल में दो फसलें पैदा होती हैं †।" "राज्य के कुछ कर्मचारी नदियों का निरीक्षण और भूमि की नाप जोख उसी तरह करते हैं, जिस तरह मिस्र में की जाती है। वे उन नालियों की भी देखभाल करते हैं, जिनके द्वारा पानी प्रधान नहरों से शाखा नहरों में जाता है, जिसमें सब किसानों को समान रूप से नहर का पानी मिल सके ‡।" मेगास्थिनीज़ के इस कथन की अर्थशास्त्र से पूरी तरह पुष्टि हो जाती है। सिंचाई के बारे में कुछ बातें ऐसी भी लिखी हैं, जो मेगास्थिनीज़ के वर्णन में नहीं पाई जातीं। अर्थशास्त्र के अनुसार सिंचाई चार प्रकार से होती थी। यथा—(१) हस्तप्रावर्तिम अर्थात् हाथ के द्वारा; (२) स्कन्ध-प्रावर्तिम अर्थात् कन्धे पर पानी ले जाकर; (३) स्रोतोयन्त्रप्रावर्तिम अर्थात् यन्त्र के द्वारा; और (४) नदीसरस्तटाककूपोद्घाटम् अर्थात् नदियों, तालाबों और कूपों के द्वारा। सिंचाई के पानी का महसूल ऊपर लिखे हुए क्रम से पैदावार का पंचमांश, चतुर्थांश,

* Strabo; XV. 40.

† Megasthenes; Book I, Fragment I.

‡ Megasthenes; Book III, Fragment XXXIV.

तृतीयांश और द्वितीयांश होता था। अर्थशास्त्र में कुल्या का भी नाम आता है, जिसका अर्थ "कृत्रिमा सरित्" अथवा नहर है। इससे विदित होता है कि उन दिनों भारतवर्ष में नहरें बनाई जाती थीं और उनके द्वारा खेत सींचे जाते थे। पानी जमा करने के लिये सेतु या बाँध भी बाँधे जाते थे और तालाब, कूएँ आदि की मरम्मत सदा हुआ करती थी। इस बात की भरपूर देख रेख रहती थी कि यथासमय हर एक मनुष्य को सिंचाई के लिये आवश्यकतानुसार जल मिलता है या नहीं। जहाँ नदी, सरोवर, तालाब इत्यादि नहीं होते थे, वहाँ राज्य की ओर से खुदवाये जाते थे। गिरनार में, जो काठियावाड़ में है, एक चट्टान पर क्षत्रप रुद्रदामन् का एक लेख खुदा हुआ है। उससे विदित होता है कि दूरस्थित प्रान्तों की सिंचाई पर मौर्य सम्राट् कितना ध्यान देते थे। यह लेख सन् १५० ई० के लगभग लिखा गया था। इसमें लिखा है कि पुष्यगुप्त वैश्य ने, जो चन्द्रगुप्त की ओर से पश्चिमी प्रान्तों का शासक था, गिरनार की पहाड़ी पर एक छोटी नदी के एक ओर बाँध बनवाया, जिससे एक झील सी बन गई। इस झील का नाम सुदर्शन रक्खा गया और इससे खेतों की सिंचाई होने लगी। बाद को अशोक ने इसमें से नहरें भी निकलवाईं। ये नहरें अशोक के प्रतिनिधि राजा तुषास्फ की देख भाल में बनवाई गई थीं। राजा तुषास्फ पारसीक (पर्शियन) जाति का था। मौर्य सम्राट् की बनवाई हुई झील तथा बाँध दोनों चार सौ वर्षों तक कायम रहे। उसके बाद सन् १५० ई० में

---

* अर्थशास्त्र, अधि० २, अध्या० २४.

बड़ा भारी तूफान आने के कारण वे दोनों नष्ट हो गये। तब शक क्षत्रप रुद्रदामन् ने फिर से बाँध बनवाया; और उस बाँध तथा झील का संक्षिप्त इतिहास एक शिलालेख में लिख दिया, जो गिरनार की चट्टान पर खुदा हुआ है*। रुद्रदामन् का बनवाया हुआ बाँध भी समय के प्रवाह में पड़कर टूट गया; और एक बार फिर सन ४५८ ई० में स्कन्दगुप्त के स्थानीय अधिकारी की देख रेख में बनवाया गया। इसके बाद झील और बाँध कब नष्ट हुए, इसका पता इतिहास से नहीं लगता। पर रुद्रदामन् के उक्त शिलालेख से इतना अवश्य सिद्ध होता है कि मौर्य सम्राट् सिंचाई के लिये नहरों आदि का प्रबन्ध करना अपना परम कर्त्तव्य समझते थे और साम्राज्य के दूरस्थित प्रान्तों की सिंचाई पर भी पूरा ध्यान रखते थे।

चाणक्य के लेख से यह भी ज्ञात होता है कि कृषि विभाग के साथ साथ "अन्तरिक्ष-विद्या विभाग" (Meteorological Department) भी था। यह विभाग एक प्रकार के यन्त्र (वर्षमान कुण्ड) के द्वारा इस बात का निश्चय करता था कि कितना पानी बरस चुका है। बादलों की रंगत से भी इस बात का पता लगाया जाता था कि पानी बरसेगा या नहीं, और बरसेगा तो कितना। सूर्य, शुक्र और बृहस्पति की स्थिति और चाल से भी यह निश्चय किया जाता था कि कितना पानी बरसेगा †।

व्यापार और वाणिज्य विभाग—मौर्य साम्राज्य में व्यापार

---

* Epigraphia Indica; Vol. VIII. p. 36.

† कौटिलीय अर्थशास्त्र; अधि० २, अध्या० ५ तथा २४.

और वाणिज्य की देख भाल और उन्नति करने के लिये एक अलग विभाग था। इस विभाग का अफसर "पण्याध्यक्ष" कहलाता था*। उसका प्रधान कर्तव्य देश के भीतरी और बाहरी व्यापार की उन्नति और वृद्धि करना था। वह इस बात का पता लगाता रहता था कि बाजार में किस चीज की माँग ज्यादा है और किस चीज की कम। वह यह भी देखता था कि किस चीज का दाम बढ़ा और किस का दाम घटा; और कौन सी चीज किस समय खरीदने या बेचने में विशेष लाभ हो सकता है। जो व्यापारी विदेशों से माल मँगाते थे, उनके साथ वाणिज्य विभाग की ओर से खास रिआयत की जाती थी। उनसे चुंगी आदि नहीं ली जाती थी। देश में जिन वस्तुओं की आवश्यकता और खपत नहीं होती थी, वे बाहर भेज दी जाती थीं। वाणिज्य विभाग उन वस्तुओं के बाहर भेजने में सहूलियत करता था। इस विभाग का अध्यक्ष यह भी जानने का यत्न करता था कि भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न वस्तुओं का क्या भाव है। एक जगह से दूसरी जगह माल ले जाने में कितना खर्च पड़ेगा, रास्ते में कौन कौन से भय के स्थान हैं, भिन्न भिन्न नगरों का क्या रीति-रिवाज है, इन सब बातों का ब्योरा वह व्यापारियों को बतला सकता था। कभी कभी कई सौदागर एक साथ मिलकर चीजों का दाम बहुत बढ़ा देते थे। ऐसी दशा में पण्याध्यक्ष चीजों की दर बाँध देता था। चाणक्य के अनुसार किसी चीज़ की दर बाँधने के समय इस बात का ख़याल रक्खा जाता था कि उस

---

* कौटिलीय अर्थशास्त्र; अधि० २, अध्या० १६.

चीज़ पर कितनी पूँजी लगाई गई है, कितना रास्ते का खर्च पड़ा है, कितनी चुंगी लगी है, कितनी मज़दूरी बैठी है आदि। इस विभाग का अध्यक्ष बड़ी सावधानी से इस बात का निरीक्षण करता था कि बनिये तथा व्यापारी राजमुद्रांकित बटखरों और नापों का प्रयोग करते हैं या नहीं। जो मनुष्य जाली बटखरों और नापों का प्रयोग करता था, वह दण्ड का भागी होता था। प्रत्येक व्यापारी को व्यापार करने के लिये राज्य से परवाना या लाइसेन्स लेना पड़ता था और इसके लिये उसे एक प्रकार का कर भी देना पड़ता था। किसी प्रकार के माल में और खास करके खाने पीने की चीज़ों में कोई मिलावट न होने पावे, इसकी बड़ी ताकीद रहती थी। उस समय सोने, चाँदी और ताँबे तीनों धातुओं के सिक्के प्रचलित थे; पर सोने के सिक्कों का चलन उस समय कदाचित् बहुत कम था। चाँदी का सिक्का "कर्ष" और "पण" तथा ताँबे का सिक्का "माषपण" कहलाता था। राज्य की ओर से वणिक्पथ भी बनाये और सुरक्षित रक्खे जाते थे। इन वणिक्-पथों पर आध आध कोस पर पथ-प्रदर्शक पत्थर (माइल-स्टोन) गड़े रहते थे। चाणक्य ने चार प्रधान वणिक् पथ लिखे हैं। एक पथ उत्तर में हिमालय की ओर, दूसरा दक्षिण में विन्ध्य पर्वत की ओर, तीसरा पश्चिम की ओर और चौथा पूर्व की ओर जाता था। उन दिनों उत्तर और दक्षिण की ओर जो सड़कें जाती थीं, वे अधिक महत्त्व की मानी जाती थीं; क्योंकि उत्तर और दक्षिण के देशों में व्यापार अधिक होता था। उत्तर से हाथी, घोड़े, सुगन्धित पदार्थ, हाथी-दाँत, ऊन, चमड़ा, सोना और चाँदी तथा दक्षिण से शंख, हीरा, मोती आदि आता था।

स्थल-मार्ग के सिवा बहुत से जल-मार्ग भी थे, जिनके द्वारा देश के एक हिस्से से दूसर हिस्से को माल भेजा जाता था।

नौ विभाग—नौ विभाग का अध्यक्ष "नावाध्यक्ष" कहलाता था*। वह समुद्र, नदी और झील में चलनेवाले जहाज़ों और नावों की रक्षा का प्रबन्ध करता था और उनके लिये नियम बनाता था। उसका कर्त्तव्य जल-मार्ग में डाकाज़नी रोकना और व्यापारिक जहाज़ों के लिये जल-मार्ग सुरक्षित रखना था। किस प्रकार के जहाज या नाव से तथा किस प्रकार के लोगों से कितना कर लेना चाहिए, इसके नियम भी वही बनाता था। बन्दरगाहों पर सौदागरों को एक प्रकार का कर देना पड़ता था। जो यात्री राज्य की नौकाओं पर जाते थे, उन्हें निश्चित उतराई देनी पड़ती थी। जो गाँव समुद्र या नदी के किनारे पर होते थे, उन्हें भी एक निश्चित कर देना पड़ता था। व्यापारिक नगरों में जो नियम प्रचलित रहते थे, उन्हें नावाध्यक्ष पूरी तरह से मानता था। वह पत्तन (बन्दरगाह) के अध्यक्ष की आज्ञाओं का भी पूरी तरह से पालन करता था। जब कभी तूफ़ान से टूटा फूटा जहाज बन्दरगाह में आता था, तब वह उसके माँझियों की वैसी ही रक्षा करता था, जैसी कि पिता अपने पुत्र की करता है। जो सौदागरी जहाज तूफ़ान से टूट फूट जाते थे, उनका कर या तो माफ़ कर दिया जाता था और या आधा कर दिया जाता था। "हिंस्रक" (डाका डालनेवाले) जहाज या शत्रु के जहाज़ नष्ट कर दिये जाते थे। जो मनुष्य बिना महसूल दिये नदी पार

* कौटिलीय अर्थशास्त्र; अधि० २, अध्या० २८.

करता था, वह दण्ड का भागी होता था। ब्राह्मण, परिव्राजक, बालक, वृद्ध, रोगी, राजदूत और गर्भिणी स्त्री से कोई महसूल नहीं लिया जाता था। छोटे पशु की उतराई एक माष (एक प्राचीन सिक्का), गाय, बैल या घोड़े की उतराई दो माष, ऊँट या भैंस की उतराई चार माष, छोटे छकड़े की उतराई पाँच माष और बड़े की छः या सात माष लगती थी। जो मनुष्य बिना मुद्रा (पास) के यात्रा करता था, उसका माल जब्त हो जाता था।

शुल्क विभाग (चुंगी का महकमा)—शुल्क विभाग का अध्यक्ष "शुल्काध्यक्ष" कहलाता था*। वह नगर के हर फाटक पर चुंगी-घर बनवाता था और चुंगी वसूल करनेवाले कर्मचारियों के कामों का निरीक्षण करता था। चुंगी-घर के ऊपर एक झंडा गड़ा रहता था, जो दूर से ही उसके अस्तित्व की सूचना देता था। जब व्यापारी लोग अपना माल लेकर फाटक पर आते थे, तब चार या पाँच कर्मचारी अपने रजिस्टर में यह दर्ज करते थे कि व्यापारी का नाम क्या है, वह कहाँ से आया है, अपने साथ कौन सा और कितना माल लाया है और पहली बार कहाँ उस पर चुंगी-घर की मोहर लगाई गई थी। जिन व्यापारियों के माल पर मोहर नहीं लगी होती थी, उनसे दूनी चुंगी ली जाती थी। यदि किसी व्यापारी के माल पर जाली मोहर लगी रहती थी, तो उससे अठगुनी चुंगी वसूल की जाती थी। जो व्यापारी बिना चुंगी दिये हुए चुंगी-घर के आगे निकल जाते थे, उनसे भी दण्ड स्वरूप अठगुनी चुंगी ली जाती थी। विवाह, यज्ञ, सूतिकागृह, देवी-

* कौटिलीय अर्थशास्त्र, अधि० २, अध्या० २१—२२.

देवताओं की पूजा, यज्ञोपवीत आदि संस्कारों तथा अन्य धार्मिक कृत्यों के लिये जो चीजे लाई जाती थी, उन पर चुंगी न लगती थी। बाहर से आने के समय तो माल पर चुंगी लगती ही थी, बाहर जाने के समय भी उस पर चुंगी लगाई जाती थी। जो चीजें बाहर से आती थीं, उन पर उनके मूल्य का पाँचवाँ हिस्सा चुंगी के तौर पर वसूल किया जाता था। फल, फूल, साग-भाजी, मांस, मछली आदि पर उनके मूल्य का छठा हिस्सा चुंगी के तौर पर लिया जाता था। हीरे, मोती आदि पर उनके मूल्य के अनुसार चुंगी लगाई जाती थी। ऊनी, सूती और रेशमी कपड़े, रंग, मसाले, लोहे, चन्दन, शराब, हाथीदाँत, चमड़े, रूई और लकड़ी आदि पर उनके मूल्य का दसवाँ या पन्द्रहवाँ भाग लिया जाता था। चौपाये, पक्षी, अनाज, तेल, शक्कर और नमक आदि पर उनके मूल्य का बीसवाँ या पचीसवाँ भाग लिया जाता था।

आकर विभाग (खान का महकमा)—मेगस्थिनीज ने लिखा है—"भारतवर्ष मे हर एक धातु की बहुत सी खानें हैं। इन खानों से सोना, चाँदी, लोहा, ताँबा, टीन आदि बहुतायत से निकलते हैं *।" इससे पता चलता है कि मौर्य काल मे खानों की खुदाई का काम खूब जोरों के साथ होता था। कौटिलीय अर्थ शास्त्र से पता लगता है कि मौर्य साम्राज्य में खानों की खुदाई के लिये एक अलग महकमा था। इस महकमे के अफसर को "आकराध्यक्ष" कहते थे †। उस समय दो प्रकार की खानें थीं—एक जमीन के अन्दरवाली और दूसरी समुद्र के अन्दर की। दोनो प्रकार

---

* Megasthenes; Book I. Fragment I

† कौटिलीय अर्थशास्त्र अधिक २, अध्या० १२.

की खानों का निरीक्षण करने के लिये अलग अलग अध्यक्ष नियुक्त थे। समुद्री खानों के अध्यक्ष को "खन्यध्यक्ष" कहते थे। उसका कर्तव्य हीरे, मोती, शंख, मूँगे, क्षार, नमक आदि का संग्रह करना और उनकी बिक्री आदि के सम्बन्ध में नियम बनाना था। जमीन के अन्दरवाली खानो के अध्यक्ष को "आकराध्यक्ष" कहते थे। जो मनुष्य सोने, चाँदी, लोहे, ताँबे आदि धातुओं के बारे में अच्छा ज्ञान रखता था और हीरे, पन्ने आदि बहुमूल्य वस्तुओ को परख सकता था, वही "आकराध्यक्ष" के पद पर नियुक्त होता था। वह नई नई खानो की तलाश में रहता था। राख, कोयले आदि चिह्नों से वह यह मालूम करता था कि कोई खान खोदी गई है या नहीं और उसमें अधिक माल है या कम। आकराध्यक्ष के नीचे और बहुत से कर्मचारी काम करते थे, जो धातु, मणि और खान सम्बन्धी हर एक बात में पूर्ण पंडित होते थे। खान खोदनेवाले मजदूर "आकरिक" कहलाते थे। जब "आकराध्यक्ष" को किसी नई खान का पता लगता था, तब वह राज्य को उसकी सूचना देता था। उस समय राज्य इस बात का विचार करता का कि हम स्वय खान खुदवावें या किसी को पट्टे पर दे दें। जिन खानों की खुदाई कराने मे अधिक व्यय होने की संभावना होती थी, वही खानें पट्टे पर दी जाती थीं। खानों मे जो धातुएँ निकलती थीं, उनकी सफाई भी आकराध्यक्ष की देख भाल में होती थी। साफ हो जाने के बाद धातुएँ भिन्न भिन्न विभागों के अध्यक्षों के पास भेज दी जाती थीं। उदाहरण के तौर पर सोना "सुवर्णाध्यक्ष" के पास, लोहा "लोहाध्यक्ष" के पास, चाँदी और ताँबा "लक्षणाध्यक्ष" (टकसाल के अफसर)

के पास तथा नमक "लवणाध्यक्ष" के पास भेज दिया जाता था। यदि कोई गैर-सरकारी आदमी किसी खान का पता लगाता, तो उसे उस खान के लाभ का छठा हिस्सा, और यदि कोई सरकारी आदमी पता लगाता था, तो उसे बारहवाँ हिस्सा इनाम में मिलता था।

सूत्र विभाग (बुनाई का महकमा)—इस महकमे के अफ़सर को "सूत्राध्यक्ष" कहते थे*। वह योग्य व्यक्तियों को वस्त्र आदि बुनने के लिये नियुक्त करता था। विधवाएँ, लँगड़ी लूली स्त्रियाँ, संन्यासिनियाँ और देवदासियाँ सूत और ऊन कातने के काम में लगाई जाती थीं। महीन या मोटे सूत के अनुसार अलग अलग मजदूरी दी जाती थी। सूत जितना ही महीन होता था, उतनी ही अधिक मज़दूरी भी होती थी। गरीब परदानशीन औरतों को घर बैठे सूत कातने का काम दिया जाता था। सूत्र विभाग की ओर से कई ऐसी स्त्रियाँ नौकर रहती थीं, जो पर्देवाली स्त्रियों के घरों मे जाकर उन्हें काम देती थीं। जो स्त्रियाँ सूत्रशाला (बुनाई के दफ़र) में स्वयं आकर अपना काता हुआ सूत देती थीं, उनकी इज्जत का बड़ा खयाल रक्खा जाता था। उस स्थान पर केवल इतना ही प्रकाश रक्खा जाता था कि सूत्राध्यक्ष कते हुए सूत की जाँच कर सके। यदि वह सूत्र-शाला में आनेवाली स्त्रियों की ओर देखता या उनसे किसी और विषय की बातचीत करता था, या उन स्त्रियों को मज़दूरी देने में विलम्ब करता था, तो उसे कड़ा दण्ड मिलता था। वेतन पाकर भी जो स्त्री काम न करती थी, वह भी दण्ड की भागिनी होती थी।

* कौटिलीय अर्थशास्त्र; अधि० २, अध्या० २३.

सुरा विभाग (आबकारी का महकमा)—आबकारी के महकमे का अफ़सर "सुराध्यक्ष" कहलाता था *। वह नगरों, गाँवों और स्कन्धावारों (सेनाओं के निवास-स्थानों) में शराब की बिक्री का प्रबंध करता था। हर एक आदमी शराब खरीदकर दूकान के बाहर न ले जा सकता था। केवल वही लोग दूकान के बाहर शराब ले जा सकते थे, जो अच्छे चालचलन के होते थे। हाँ, बाकी लोग वहीं बैठकर शराब पी सकते थे। शराब बहुत थोड़ी मिकदार में बेची जाती थी। पानागार (हौली) में कई कमरे रहते थे। उनमें से हर एक में खाट और आसन अलग अलग बिछे रहते थे। इसके अतिरिक्त उनमें ऋतु के अनुसार सुगंधित पदार्थ, फूल, माला, जल आदि भी रक्खा रहता था। हौलियाँ एक दूसरी के बहुत पास पास नहीं होती थीं। विशेष विशेष अवसरों पर, जैसे विवाह, उत्सव, त्योहार आदि में, लोग खुद अपने घर शराब बना सकते थे। अन्य अवसरों पर यदि कोई किसी नियम का भंग करता था, तो वह दण्ड पाता था। हौली के मालिक का कर्तव्य होता था कि वह अपने ग्राहकों की रक्षा करे। अगर शराब के नशे में किसी की कोई चीज़ गुम हो जाती थी, तो हौली का मालिक उसका नुकसान भर देता था।

पशु-रक्षा विभाग—मौर्य साम्राज्य में पशुओं की रक्षा और उन्नति की ओर खास तौर पर ध्यान दिया जाता था। कम से कम पाँच अफसर इस काम के लिये नियुक्त थे। उन अफ़सरों के नाम ये हैं—(१) गोऽध्यक्ष (गाय-बैल के महकमे का अफ़सर),

---

* कौटिलीय अर्थशास्त्र; अधि० २, अध्या० २५.

(२) विवीताध्यक्ष, (चरागाहों का अफ़सर), (३) सूनाध्यक्ष (शिकार का अफ़सर), (४) हस्त्यध्यक्ष (हाथियों का अफसर) और (५) अश्वाध्यक्ष (घोड़ों का अफसर)।

गोऽध्यक्ष को केवल गाय बैल की ही रक्षा नहीं करनी पड़ती थी, बल्कि भैंस, भेड़, बकरे, गधे, ऊँट, खच्चर और कुत्ते आदि की भी देख भाल करनी पड़ती थी *। उसका एक प्रधान कर्त्तव्य दोहक (दुहनेवालों), मन्थक (मक्खन निकालनेवालों) और लुब्धक (शिकारियों) को नियुक्त करना होता था। इनमें से हर एक के जिम्मे सौ चौपायो का झुण्ड रक्खा जाता था। गाय, भैंस आदि के दुहने के बारे में ख़ास तौर पर नियम बने थे। बरसात और जाड़े में दिन मे दो बार, पर गर्मी मे सिर्फ एक ही बार दुहने का नियम था। जो कोई इस नियम का भंग करता था, वह दंड पाता था। बीमार जानवरों के दवा-दारू के लिये ख़ास तौर पर प्रबन्ध था। जानवरों के साथ कोई बुरा व्यवहार न हो, इसके लिये भी कई कड़े नियम थे। जो मनुष्य पशुओं के साथ निर्दयता करता था, वह दंड का भागी होता था। गाय, बैल और बछड़े का मारना बिलकुल मना था।

विवीताध्यक्ष गाय, बैल और अन्य पशुओ के चरने का प्रबन्ध करता था †। उसे कई विशेष नियमो का पालन करना पड़ता था। एक ही चरागाह मे साल भर तक चराई नहीं हो सकती थी। हर एक ऋतु के लिये अलग अलग चरागाह थे। इस तरह

---

* कौटिलीय अर्थशास्त्र, अधि० २, अध्या० २६.

† कौटिलीय अर्थशास्त्र, अधि० २, अध्या० ३४.

से जानवरों को साल भर तक चारा मिला करता था। विवीताध्यक्ष का एक प्रधान कर्तव्य यह था कि वह चरागाह में चरनेवाले पशुओं की रक्षा का उचित प्रबन्ध करे। इस काम के लिये कई कर्मचारी नियुक्त थे, जिनके साथ बहुत से शिकारी कुत्ते रहते थे। उन कुत्तों की सहायता से वे चोर, सिंह, भेड़िये और सर्प आदि से पशुओं की रक्षा करते थे। जब चरागाह में अकस्मात् कोई भय की बात उठ खड़ी होती थी, तब चरागाह के रक्षक शंख और नगाड़े बजाकर, कबूतरों के द्वारा समाचार भेजकर, ऊँचे स्थानों पर लगातार बहुत सी आग जलाकर या ऊँचे वृक्षों और पहाड़ों पर चढ़कर राज-कर्मचारियों को भय की सूचना देते थे। चरागाह में चरनेवाले पशुओं के गले में घंटियाँ बाँध दी जाती थीं, जिससे यदि कोई पशु इधर उधर भटक जाय, तो उसका पता घंटी की आवाज़ से लग सके।

छोटे छोटे जानवरों की रक्षा के लिये एक मृगाध्यक्ष नियुक्त था *। राज्य की ओर से अनेक ऐसे रक्षित वन थे, जिनमें कई प्रकार के छोटे छोटे पशु स्वतंत्रता के साथ विचर सकते थे। ऐसे वनों को "अभय वन" कहते थे। इन वनों में रहनेवाले पशु न तो पकड़े जाते थे और न मारे जाते थे। इन वनों में कोई प्रवेश भी न कर सकता था। जो कोई इस नियम का भंग करता था, वह दंड का भागी होता था। शिकार खेलने के लिये अलग वन थे। उन वनों में केवल राजा ही नहीं, बल्कि सर्व साधारण भी शिकार खेल सकते थे। अशोक के आठवें "चतुर्दश शिला-लेख" से पता

---

* कौटिलीय अर्थशास्त्र, अधि० २, अध्या० २६.

लगता है कि अशोक ने अपने राज्य-काल के ग्यारहवें वर्ष शिकार खेलने की प्रथा उठा दी थी। मेगास्थिनीज़ ने भी लिखा है कि राजा बड़े समारोह के साथ शिकार खेलने के लिये निकलता था *। कुछ वन ऐसे थे, जिनमें केवल राजा शिकार खेल सकता था। ऐसे वनों में छोटे और बड़े सब प्रकार के जंगली जानवर रहते थे।

अर्थशास्त्र में अश्वाध्यक्ष के कई कर्तव्य लिखे हैं †। वह नस्ल, उम्र, रंग, कद, चिह्न आदि के अनुसार घोड़ों को भिन्न भिन्न विभागों में बाँटकर रजिस्टर में दर्ज करता था; उन्हें अस्तबल में रखने का प्रबन्ध करता था; उनके लिये चारे आदि का बन्दोबस्त करता था; उन्हें सिखाने का इन्तिज़ाम करता था; उनके दवा-दारू का प्रबन्ध करता था; और हर तरह से उनका ध्यान रखता था। उन दिनों नीचे लिखे हुए स्थानों के घोड़े सब से उत्तम समझे जाते थे। (१) कांभोज (अफ़ग़ानिस्तान), (२) सिंधु (सिन्ध), (३) आरट्ट (पंजाब), (४) वनायु (अरब देश), (५) वाह्लीक (बलख़) और (६) सौवीर (आजकल का गुजरात प्रान्त)। अश्वाध्यक्ष राजा को इस बात की भी सूचना देता था कि कितने घोड़े रोगी और बेकाम हैं। रोगी घोड़ों की देख भाल और दवा-दारू के लिये अलग चिकित्सक नियुक्त थे। किस ऋतु में कैसा चारा देना चाहिए, इसकी भी सलाह चिकित्सक लोग देते थे। जो घोड़े बीमारी या बुढ़ापे से अथवा युद्ध में बेकाम हो जाते थे, उनसे फिर कोई काम नहीं लिया जाता था।

---

* Megasthenes; Book II; Fragment XXVII.

† कौटिलीय अर्थशास्त्र, अधि० २, अध्या० ३०.

बहुत प्राचीन समय से हिन्दुओं की चतुरंगिणी सेना में हाथी की सेना भी सम्मिलित थी। अतएव मौर्य साम्राज्य में हाथियों की रक्षा और उनकी नस्ल में सुधार करने के लिये एक अलग विभाग बना हुआ था। इस विभाग में कई अफ़सर थे, जिन सब के ऊपर एक हस्त्यध्यक्ष होता था*। उसका प्रधान कर्तव्य नागवन (हाथियों के वन) की रक्षा करना, फीलखानों का इन्तज़ाम करना और योग्य महावतों के द्वारा हाथियों को शिक्षा दिलाना था। उसके नीचे कई छोटे कर्मचारी होते थे, जो नाग-वनों की रक्षा करते थे। जंगली हाथी पकड़ने का काम भी इन्हीं नाग-वन-रक्षकों से लिया जाता था। वे पाँच या सात हथनियों को साथ लेकर जंगलों में हाथी पकड़ने के लिये घूमा करते थे। हाथियों के पद-चिह्नों का अनुसरण करते हुए वे उस स्थान तक पहुँच जाते थे, जहाँ जंगली हाथी छिपे रहते थे। गौओं, बैलों और घोड़ों की तरह हाथियों की चिकित्सा के लिये भी अलग चिकित्सक नियुक्त थे। हाथियों के दाँत काटने के लिये भी कई खास नियम थे। उनके दाँत अढ़ाई या पाँच वर्षों में एक ही बार काटे जाते थे।

मनुष्य-गणना विभाग—मेगास्थिनीज़ ने लिखा है—"तृतीय विभाग के अध्यक्ष का कर्तव्य साम्राज्य के अन्दर जन्म और मृत्यु की संख्या का हिसाब रखना था। जन्म और मृत्यु की संख्या का हिसाब इसलिये रक्खा जाता था कि जिसमें राज्य को इस बात का ठीक ठीक पता रहे कि साम्राज्य की आबादी कितनी बढ़ी या कितनी घटी। जन्म और मृत्यु का लेखा

---

* कौटिलीय अर्थशास्त्र, अधि० २, अध्याय ३१.

रखने से प्रजा से कर वसूल करने में भी सहूलियत होती थी *।"
कौटिलीय अर्थशास्त्र से मेगास्थिनीज़ के कथन की पूर्णतया पुष्टि होती है। मौर्य साम्राज्य में मनुष्य-गणना की कार्य-प्रणाली में यह विशेषता थी कि वह किसी नियत समय पर नहीं होती थी। मनुष्य गणना के लिये राज्य का एक स्थायी विभाग था, जिसमें बहुत से कर्मचारी नियुक्त थे। उनका सब से बड़ा अफ़सर "समाहर्त्ता" कहलाता था †। उसको और भी बहुत से काम करने पड़ते थे। उसके अधीन जो प्रान्त होता था, वह चार भागों में विभक्त रहता था। प्रत्येक भाग का अफ़सर "स्थानिक" कहलाता था। स्थानिक के नीचे बहुत से "गोप" काम करते थे। प्रत्येक गोप पाँच या दस गाँवों का प्रबन्ध करता था। इसके अतिरिक्त "प्रदेष्टा" नाम के कर्मचारी भी होते थे, जिनका कर्तव्य "स्थानिक" और "गोप" नामक कर्मचारियों के कामों का निरीक्षण करना था। पर यह निरीक्षण पर्याप्त नहीं होता था; इस कारण समाहर्त्ता एक और प्रकार के निरीक्षक नियुक्त करता था, जिनका कर्तव्य गुप्त रूप से स्थानिक, गोप और प्रदेष्टा आदि कर्मचारियों के काम की जाँच करना था। जो वृत्तान्त उन्हें ज्ञात होता था, उसे वे सीधे समाहर्त्ता के पास भेज देते थे।

"गोप" नामक कर्मचारियों के कर्तव्य ये थे—(१) प्रत्येक गाँव के चारों वर्णों के मनुष्यों की गणना करना; (२) कृषकों, गोपालों, व्यापारियों, शिल्पकारों तथा दासों की गणना करना; (३) प्रत्येक घर के युवा और वृद्ध स्त्री-पुरुषों की गणना करना और

* Megasthenes; Book III, Fragment XXXII.

† कौटिलीय अर्थशास्त्र; अधि० २, अध्या० ३५.

उनके चरित्र, कर्म, आजीविका तथा व्यय जानना; (४) प्रत्येक घर के पालतू पशुओं और पक्षियों की गणना करना; और (५) कर देनेवालों और न देनेवालों की संख्या जानना और यह मालूम करना कि कौन धन के रूप में कर देता है और कौन परिश्रम के रूप में।

गुप्त निरीक्षकों के कर्तव्य ये थे—(१) प्रत्येक गाँव के कुल मनुष्यों की गणना करना; (२) प्रत्येक गाँव के घरों तथा कुटुम्बों की गणना करना; (३) हर एक कुटुम्ब की जाति तथा कार्य का पता लगाना; (४) कर-मुक्त गृहों की जाँच करना; (५) प्रत्येक गृह के स्वामी का निश्चय करना; (६) प्रत्येक कुटुम्ब का आय-व्यय जानना; और (७) प्रत्येक घर के पालतू जानवरों की गणना करना। इनके ये काम तो प्राय: गोपों के कामों से मिलते हैं। पर इनके अतिरिक्त इनके मुख्य काम ये थे—(१) गाँव में नये मनुष्यों के आने तथा गाँव छोड़कर जाने का कारण जानना; और (२) गाँव में नये आनेवाले तथा गाँव छोड़कर जानेवाले आदमियों का लेखा रखना तथा संदिग्ध मनुष्यों पर दृष्टि रखना। वे यह काम गृहस्थों तथा संन्यासियों के रूप में रहकर किया करते थे। कभी कभी वे चोरों के भेस में भी पर्वतों, तीर्थों, घाटों और निर्जन स्थानों में जाकर चोरों, शत्रुओं तथा दुष्टों का पता लगाया करते थे।

राजधानी तथा नगरों के मनुष्यों की गणना करनेवाला कर्म्मचारी "नागरक" * कहलाता था। प्रत्येक नगर में एक एक

---

* कौटिलीय अर्थशास्त्र, अधि० २, अध्या० ३६.

नागरक रहता था। प्रान्त की तरह प्रत्येक नगर कई भागों में विभक्त रहता था। प्रत्येक भाग एक "स्थानिक" के अधीन रहता था, जिसके नीचे कई "गोप" होते थे। प्रत्येक "गोप" दस, बीस या चालीस घरों का हिसाब रखता था। गोप केवल प्रत्येक घर के स्त्री-पुरुषों की जाति, गोत्र, नाम, काम आदि का ही लेखा नहीं रखते थे, बल्कि उनके आय-व्यय का भी पता लगाते थे। धर्मशालाओं के अधिकारियों को और प्रत्येक गृहस्थ को भी अपने यहाँ आने जानेवाले अतिथियों की सूचना "स्थानिक" को देनी पड़ती थी। जो इस नियम का पालन नहीं करता था, वह दण्ड का भागी होता था। वन, उपवन, देवालय, तीर्थस्थान, धर्मशाला, राजपथ, श्मशान, चरागाह आदि का लेखा भी इसी विभाग को रखना पड़ता था।

आय-व्यय विभाग—राज्य के सभी काम राजकोष पर निर्भर रहते हैं, इसलिये कर लगाना राजा के लिये परम आवश्यक होता है। अर्थशास्त्र में मौर्य साम्राज्य की आय के निम्नलिखित द्वार दिये गये हैं—(१) राजधानी, (२) प्रान्त और ग्राम, (३) खानें, (४) सरकारी बाग, (५) जंगल, (६) जानवर और चरागाह तथा (७) वणिकपथ *।

(१) राजधानी से निम्नलिखित मदों से आय होती थी—सूती कपड़े, तेल, नमक, शराब आदि पर कर, वेश्याओं, व्यापारियों और मंदिरों पर कर; नगर के फाटक पर वसूल किये हुए कर; और जूए पर कर इत्यादि।

---

* कौटिलीय अर्थशास्त्र, अधि० २, अध्या० ६.

(२) ग्रामों और प्रान्तों से निम्नलिखित आय होती थी—खास राजा के खेतों की पैदावार; किसानों के खेतों की उपज का एक भाग; धन के रूप में भूमि-कर; घाटों पर उतराई का महसूल; सड़कों पर चलने का महसूल आदि।

(३) खानों से भी राज्य को बड़ी आमदनी होती थी। सरकारी खानों मे जो पैदावार होती थी, वह तो सरकारी खजाने में जाती थी ही; पर जो खानें सरकारी नहीं होती थीं, उनकी पैदावार का भी एक हिस्सा राज्य को मिलता था।

(४) सरकारी बागों में जो फल, फूल, साग आदि होते थे, उनसे भी सरकार को अच्छी आमदनी होती थी।

(५) शिकार खेलने, शहतीर काटने और जंगली हाथी आदि पकड़ने के लिये राज्य की ओर से हाथी किराये पर दिये जाते थे।

(६) गाय, बैल, भैंस, बकरे, भेड़ आदि जानवरों के चरने के लिये चरागाह किराये पर दिये जाते थे।

(७) वणिक्-पथों अर्थात् जल और स्थल के मार्गों में व्यापारियो से कर वसूल किया जाता था।

इसके सिवा सिंचाई के लिये पानी का महसूल लिया जाता था। आबकारी की चीजों पर कर लगाये जाते थे। विदेशी शराब और नशे की चीजों पर खास कर लगाया जाता था। बाहर से आनेवाली चीजों पर सात प्रकार के भिन्न भिन्न कर लगाये जाते थे। इन करों को छोड़कर खजाने को भरा पूरा रखने के लिये आवश्यकता पड़ने पर कुछ और उपायों से भी धन-संग्रह किया जाता था। अर्थशास्त्र में प्रजा से धन लेने के भिन्न भिन्न उपाय लिखे हैं। प्रजा को समय समय पर राजा की सेवा में धन आदि भेंट

करना पड़ता था। जब राजा किसी को कोई पदवी देता था, तब वह राजा को बहुत सा धन भेंट करता था।

सरकारी खजाने का रुपया नीचे लिखे हुए कामों में व्यय होता था—यज्ञ, पितृ-पूजन, दान आदि; राजान्तःपुर का प्रबंध; सरकारी कर्मचारियों का वेतन; सेना; सरकारी इमारतें और लोकोपकारी कार्य; जंगलों की रक्षा आदि *। किस काम में कितना खर्च होना चाहिए, यह उसके महत्त्व पर निर्भर रहता था।

आय-व्यय विभाग दो बड़े अध्यक्षों के अधिकार में था। आय विभाग का अध्यक्ष "समाहर्त्ता" † और व्यय विभाग का अध्यक्ष "सन्निधाता" ‡ कहलाता था।

परराष्ट्र विभाग—मौर्य सम्राटों का केवल भारतवर्ष के दूसरे भागों के राजाओं के साथ ही नहीं, बल्कि विदेशी राष्ट्रों के साथ भी घनिष्ठ राजनीतिक सम्बन्ध था। मौर्य साम्राज्य में एक विभाग का कर्तव्य विदेशियों की देख रेख करना था। अनेक विदेशी व्यापार अथवा भ्रमण के लिये इस देश में आते थे। इस विभाग की ओर से उनका उचित निरीक्षण किया जाता था और उनकी सामाजिक स्थिति के अनुसार उन्हें ठहरने के लिये स्थान तथा नौकर चाकर आदि दिये जाते थे। स्वयं चन्द्रगुप्त के दरबार में सीरिया के राजा सेल्यूकस का राजदूत, मेगास्थिनीज, रहता था। चद्रगुप्त के पुत्र, बिन्दुसार, के दरबार में सीरिया के राजा एन्टिओकस सोटर और मिस्र के राजा टालेमी फिलाडेल्फस के

---

* कौटिल्य अर्थशास्त्र, अधि० २, अध्या० ६.

† कौटिलीय अर्थशास्त्र, अधि० २, अध्या० ६.

‡ कौटिलीय अर्थशास्त्र; अधि० २, अध्या० ५.

राजदूत रहते थे। उनके नाम क्रम से डेईमेकस (Deimachos) और डायोनीसियस (Dionysios) लिखे गये हैं। अशोक के तेरहवें "चतुर्दश शिलालेख" से पता लगता है कि अशोक का लंका के साथ तथा सीरिया, मिस्र, साइरीनी, मेसिडोनिया (यूनान) और एपिरस नामक पाँच यूनानी राज्यों के साथ सम्बन्ध था। इन पाँचो यूनानी राज्यों मे क्रम से अन्तियोक (Antiochos. II.) तुरमय (Ptolomy Philadelphos), मक (Magas), अन्तिकिनि (Antigonos Gonatas) और अलिकसुंदर (Alexander. II) नाम के राजा थे। तात्पर्य यह कि मौर्य काल में भारतवर्ष का पश्चिमी देशों के साथ घनिष्ट सम्बन्ध था।

कौटिलीय अर्थशास्त्र के अनुसार विदेशी राष्ट्र चार भागो में बाँटे गये हैं। यथा—"अरि", "मित्र", "मध्यम" और "उदासीन"*। जिन विदेशी राष्ट्रों की सीमा किसी राष्ट्र की सीमा से बिलकुल मिली हुई होती थी, वे एक दूसरे के अरि कहे जाते थे। जिन दो राष्ट्रों के बीच में केवल अरि-राष्ट्र का अन्तर होता थे, वे एक दूसरे के "मित्र" कहे जाते थे। जो राष्ट्र अरि और मित्र दोनों राष्ट्रों के सन्निकट होते थे और जो दोनों की सहायता या दोनों का विरोध करने में समर्थ होते थे, वे "मध्यम" राष्ट्र कहे जाते थे। जो राष्ट्र अरि, मित्र और मध्यम तीनों राष्ट्रों से परे होते थे, तीनों से प्रबल होते थे, और तीनो की सहायता या विरोध करने में समर्थ होते थे, वे "उदासीन" राष्ट्र कहे जाते थे। विदेशी राष्ट्रों के साथ साम, दान, दण्ड और भेद ये चारों नीतियाँ काम मे

---

* कौटिलीय अर्थशास्त्र, अधि० ६, अध्या० २.

लाई जाती थीं। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के यहाँ अपना राजदूत रखता था। राजदूत अपने अपने दरबार को विदेशी राष्ट्रों का हाल चाल और उनके गुप्त समाचार भेजा करते थे।

न्याय विभाग—मौर्य साम्राज्य में दो प्रकार की अदालतें थीं—एक "धर्मस्थीय" * (दीवानी) और दूसरी "कण्टकशोधन" † (फौजदारी)। "धर्मस्थीय" अदालतों में तीन "धर्मस्थ" (जज) या तीन "अमात्य" मुकदमा सुनने के लिये बैठते थे, जो धर्मशास्त्र के बड़े पण्डित होते थे। "कण्टक-शोधन" अदालतों में तीन "प्रदेष्टा" या तीन "अमात्य" मुकदमा सुनते थे। "धर्मस्थीय" अदालतें आम तौर पर उन मुकदमों का फ़ैसला करती थीं, जो एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के विरुद्ध या कुछ लोग दूसरे लोगों के विरुद्ध चलाते थे। ऐसी अदालतें सिर्फ जुरमाना कर सकती थीं; और वह जुरमाना भी बहुत भारी न होता था। "कण्टक-शोधन" अदालतों के सामने फौजदारी के मुकदमे आते थे। ये अदालतें भारी से भारी जुरमाना कर सकती और फाँसी तक की सजा दे सकती थीं। सब से छोटी अदालत उस सदर मुकाम में बैठती थी, जो दस गाँवों के बीच में होता था। उसके ऊपर वह अदालत होती थी, जो ४०० गाँवों के बीचवाले सदर मुकाम में बैठती थी। उसके ऊपर वह अदालत होती थी, जो ८०० गाँवों के बीचवाले सदर मुकाम मे बैठती थी। इसके सिवा एक अदालत दो प्रान्तों के बीचवाले सीमा स्थान में और दूसरी अदालत राजधानी में होती थी। इन सब अदालतों के ऊपर स्वयं

* कौटिलीय अर्थशास्त्र, अधि० ३, अध्या० १.
† कौटिलीय अर्थशास्त्र, अधि० ४, अध्या० १.

सम्राट् की अदालत होती थी। वह कई विचारकों की सहायता से स्वयं अभियोग सुनता और उनका निर्णय करता था। इन अदालतों के सिवा गाँवों में पंचायतें भी होती थीं, जो ग्रामवासियों के झगड़ों का निपटारा करती थीं। गाँवों की पंचायतों में "ग्रामिक" (गाँव के मुखिया) और गाँव के वृद्ध (ग्राम-वृद्धाः) पंच के तौर पर बैठते थे। आवश्यकता पड़ने पर ये लोग चोरी और व्यभिचार के अपराधी को गाँव से बाहर भी निकाल सकते थे।

मौर्य साम्राज्य की दण्ड-नीति बहुत कठोर थी। प्राण-दण्ड तो बहुत ही सहज बात थी। किन्तु अपराध होते ही बहुत कम थे। कठोर दण्ड देने का अवसर ही न आता था। चोरी बहुत ही कम हुआ करती थी। मेगास्थिनीज ने लिखा है कि मैं जितने दिनों तक चंद्रगुप्त की राजधानी में रहा, उतने दिन किसी रोज़ भी २००) से ज्यादा की चोरी नहीं हुई। यह भी ध्यान रहे कि उन दिनों पाटलिपुत्र की आबादी चार लाख थी। चोरी के लिये ऐसा कठोर दण्ड था कि यदि कोई राजकर्मचारी ८ या १० पण (उस समय का एक सिक्का) चुरा लेता था, तो उसे प्राणदण्ड मिलता था; और यदि कोई साधारण आदमी ४० या ५० पण चुराता था, तो उसे प्राणदण्ड दिया जाता था। अपराधियों के लिये अठारह प्रकार के दण्डों की व्यवस्था थी, जिसमें सात प्रकार से बेंत लगाने का भी विधान था।

दसवाँ अध्याय

प्राचीन बौद्ध काल के राजनीतिक विचार

एक-तन्त्र राज्य-प्रणाली—प्राचीन बौद्ध काल में मुख्यतया दो भिन्न राजनीतिक विचार के लोग थे। एक तो वे थे, जो साम्राज्य या एकतन्त्र प्रणाली पसन्द करते थे; और दूसरे वे जो प्रजातन्त्र प्रणाली, गणराज्य अथवा संघ के पक्ष में थे। प्राचीन बौद्ध काल मे दोनों विचार जोरों के साथ फैल रहे थे। पर साम्राज्य या एकतन्त्र प्रणाली का पक्ष दिन पर दिन प्रबल हो रहा था। साम्राज्य या एकतन्त्र-राज्य, जैसा कि नाम से सूचित है, एक मनुष्य का राज्य था; और गण राज्य अथवा संघ राज्य किसी समूह या समुदाय का राज्य था। बुद्ध के समय मे मगध, कोशल, अवन्ती, वत्स आदि देशों के राज्य एक-तंत्र या राजतंत्र थे। लिच्छवि और मल्ल आदि जातियों के राज्य प्रजातन्त्र थे। बौद्ध ग्रंथों में प्रजातन्त्र राज्य "गण" या "संघ" कहे गये हैं। पहले हम एकतन्त्र या राजतन्त्र राज्य के बारे में कुछ कहना चाहते हैं।

राजा की आवश्यकता—इस संबंध में पहला प्रश्न यह उठता है कि प्रारंभ मे राजा की आवश्यकता ही क्यों हुई? अर्थात् राज्य की बागडोर किसी एक मनुष्य के हाथ मे दे देना क्यों आवश्यक समझा गया? इस प्रश्न का उत्तर महाभारत, शान्ति पर्व के ६७ वे अध्याय में इस प्रकार दिया है—

"अराजक राज्य में धर्म का पालन नहीं हो सकता। ऐसे

राज्य में लोग एक दूसरे का नाश करने में ही तत्पर रहते हैं। अतएव अराजक (राजा-रहित) राज्य को धिक्कार है।" (३)

"अत: अपने निज कल्याण के लिये लोगों को चाहिए कि वे किसी मनुष्य को राजा बना लें; क्योंकि जो लोग अराजक राज्य में रहते हैं, वे न तो धन भोग सकते हैं, न स्त्री।" (१२)

"अराजक राज्य में जो दास नहीं होता, वह दास बना लिया जाता है; और स्त्रियाँ बलपूर्वक हर ली जाती हैं। इसलिये देवताओं ने प्रजा की रक्षा के लिये राजा उत्पन्न किया है।" (१५)

"यदि पृथ्वी पर दुष्टों को दण्ड देने के लिये राजा न हों, तो बलवान् मनुष्य निर्बलों को उसी प्रकार खा डालें, जिस प्रकार बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को खा जाती हैं।" (१६)

"मात्स्य-न्याय"—राजा क्यों अनिवार्य है, यही ऊपर के श्लोकों में बतलाया गया है। इसका निचोड़ यह है कि यदि राजा न हो, तो बलवान् निर्बलों को उसी तरह खा डालें, जिस तरह बड़ी मछली छोटी मछलियों को खा लेती है। प्राचीन अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र में इसे "मात्स्य-न्याय" कहा गया है। मनुस्मृति में इस "मात्स्य-न्याय" के बारे में लिखा है—

"यदि न प्रणयेद्राजा दण्डं दण्ड्येष्वतन्द्रितः।
जले मत्स्यानिवाहिंस्यन्दुर्बलान्बलवत्तराः॥"

अर्थात्—यदि राजा आलस्य-रहित होकर अपराधियों को दण्ड न दे, तो बलवान् मनुष्य निर्बलों को उसी तरह मार डालें, जिस तरह बड़ी मछली छोटी मछलियों को निगल जाती है।

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में इसी "मात्स्य-न्याय" का उदाहरण इन शब्दों में दिया है—"अप्रणीतो हि मात्स्य-न्याय

मुद्भावयति; बलीयानबलं हि ग्रसते दण्डधराभावे*।" अर्थात् यदि अपराधियों को दण्ड न दिया जाय, तो मात्स्य-न्याय का आचरण होने लगता है; बलवान् दुर्बलों को सताने लगते हैं।

वाल्मीकीय रामायण में भी "मात्स्य-न्याय" का उल्लेख है।

"नाराजके जनपदे स्वकं भवति कस्यचित्।
मत्स्या इव जना नित्यं भक्षयन्ति परस्परम्॥"

(अयोध्याकाण्ड, अध्याय ६७, श्लोक ३१)

अर्थात्—जहाँ राजा नहीं होता, वहाँ कोई मनुष्य अपनी संपत्ति सुरक्षित नहीं रख सकता। मछली के समान लोग एक दूसरे को खा जाते हैं।

मात्स्य-न्याय के भय से प्रेरित होकर ही लोगों ने प्रारंभ में अपनी रक्षा के लिये राजा या एकतन्त्र राज्य की सृष्टि की थी।

राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पहली बात यह है कि प्रारंभ में राजा और प्रजा के मध्य एक सामाजिक "समय" या पट्टा हुआ। वह पट्टा यह था कि राजा अपनी प्रजा की रक्षा करे; और प्रजा उसके बदले में उसे कर दे। इसी को अँगरेजी में "सोशल कान्ट्रैक्ट थियरी" (Social Contract Theory) कहते हैं।

सामाजिक समय या पट्टा—कौटिलीय अर्थशास्त्र में इस सामाजिक समय या पट्टे के बारे में इस प्रकार लिखा है—"मात्स्य-न्याय के कारण अराजकता से दुःखी होकर लोगों ने पहले वैवस्वत मनु को अपना राजा चुना। उन लोगों ने अपने धान्य का छठा भाग तथा अपने पण्य (माल) का दसवाँ भाग उसका अंश नियत किया। इस वेतन से भृत (पालित पोषित)

* अर्थशास्त्र; पृ० ९.

होकर राजा अपनी प्रजा के योग और क्षेम की रक्षा करता है और उनके पापों को दूर करता है। वन में रहनेवाले तपस्वी भी यह समझकर कि यह हमारी रक्षा करता है, अतएव इसके बदले में इसे कुछ देना चाहिए, राजा को उस धान्य का छठा भाग कर के तौर पर देते हैं, जिसे वे एक एक दाना करके बिनते हैं* ।"

महाभारत के शान्ति पर्व, अध्याय ६७ में इस सामाजिक वा राजा-प्रजा के पट्ट के बारे में इस प्रकार लिखा है—

"पूर्व समय में अराजकता होने से लोग एक दूसरे को पीड़ा पहुँचा रहे थे। बलवानों से निर्बलों की रक्षा का कोई उपाय न था। तब सब लोग इकट्ठे हुए और कुछ नियम बनाकर ब्रह्मा के पास गये और बोले—'हे भगवन्, हम लोगों में कोई राजा नहीं है, इससे हम सब नष्ट हो रहे हैं। हम लोगों के लिये कृपाकर एक राजा नियुक्त कीजिए, जो हमारी रक्षा करे और जिसकी हम सब लोग पूजा करें।' यह सुनकर ब्रह्मा ने मनु को उनके राजा होने की आज्ञा दी। पर मनु ने ब्रह्मा का प्रस्ताव स्वीकृत नहीं किया और कहा—'पाप-पूरित कर्म का आचरण करते हुए मुझे बहुत भय होता है; विशेषतः मिथ्यात्व-युक्त मनुष्यों पर राज्य करना अत्यन्त कठिन है।' प्रजा ने मनु के ऐसे वचन सुनकर कहा—'आप मत डरिए। जो लोग पाप करेंगे, वही उसके फल के भागी होंगे। हम लोग आपके कोष की वृद्धि के लिये अपने पशु और सुवर्ण का पचासवाँ भाग और अपने धान्य का दसवाँ भाग आपको देंगे।' इसके बाद मनु ने प्रजा का यह 'समय'

---

* अर्थशास्त्र; पृ० २२-२३.

या शर्त मान ली और पृथ्वी के चारों ओर चक्कर लगाकर दुष्टों को दण्ड दिया और सब को अपने अपने धर्म में लगाया।"

बौद्ध साहित्य में भी राजा की उत्पत्ति के बारे में इसी तरह का विचार पाया जाता है। "दीघ-निकाय" के "अग्गञ्ज-सुत्तन्त" में मनुष्य और समाज की उत्पत्ति और विकास के बारे में विस्तार के साथ लिखा है। उसमें कहा गया है कि आरंभ में मनुष्य-समाज पवित्र और धार्मिक था; पर धीरे धीरे उसमें पाप प्रवेश करने लगा और लोग चोर, डाकू, झूटे, व्यभिचारी आदि होने लगे। इस पर सब लोगों ने इकट्ठे होकर आपस में सलाह की और अपने में से एक सब से सुन्दर, सब से दयावान और सब से शक्तिमान मनुष्य चुनकर उससे कहा—"हे महाभाग, जो लोग अपराधी और दण्ड के योग्य हों, उन्हे दण्ड दो। हम तुम्हें अपने भक्त (चावल) में से एक भाग देंगे।" उसने यह बात मान ली। इस पर उसके तीन भिन्न भिन्न नाम रखे गये। सब लोगों ने उसे चुना था, इसलिये वह "महाजन-संमत" या "महा संमत" कहलाया। वह सब खेतों का पति या रक्षक था, इसलिये वह "क्षेत्राणां पति" या "क्षत्रिय" कहलाया। वह दूसरों को अपने धर्म से प्रसन्न करता था, इससे वह "राजा" कहलाया। ऐसी ही एक कथा महायान संप्रदाय के "महावस्तु" ग्रन्थ मे भी है।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उससे प्रकट है कि राजा या एकतन्त्र राज्य का प्रारंभ राजा-प्रजा के बीच समझौते के रूप में हुआ। इस समझौते के पहले मनुष्यों मे अराजकता फैली हुई थी। जिसे जो चीज़ मिलती थी, वह उसी पर कब्जा कर लेता था; और जो जिस प्रकार चाहता था, वह उसी प्रकार आचरण

करता था। यह एक तरह की युद्ध की दशा थी। इस दशा का अन्त तभी हुआ, जब मनुष्यों ने अपनी स्वतंत्रता एक मनुष्य के हाथ में दी; अर्थात् जब राजा या एकतन्त्र राज्य की स्थापना हुई।

राजा नर रूप में देवता है—प्राचीन समय में राजा की उत्पत्ति के बारे में दूसरा विचार यह फैला हुआ था कि वह नर रूप में विष्णु का अवतार है। इस विचार के सम्बन्ध में विस्तार-पूर्वक महाभारत (शान्तिपर्व, अध्याय ५९) में लिखा है। भीष्म से युधिष्ठिर पूछते हैं—"भगवन्, इस पृथ्वी पर 'राजा' की उत्पत्ति किस प्रकार हुई? हाथ, पैर, मुँह, नाक, कान आदि अंग और जन्म, मृत्यु, सुख, दुःख आदि गुण अन्य मनुष्यों के समान होने पर भी क्या कारण है कि राजा दूसरे मनुष्यों पर राज्य करता है? और क्या कारण है कि सब मनुष्य एक ही पुरुष की आज्ञा में चलते हैं?" इस प्रश्न के उत्तर में भीष्म पितामह कहते हैं—"पहले कृतयुग में राजा या राज्य, दण्ड-कर्त्ता या दण्ड कुछ भी न था। प्रजा ही धर्म की अनुगामिनी होकर आपस में एक दूसरे की रक्षा करती थी। पर धीरे धीरे लोगों की नीयत बिगड़ने लगी और वे मोह तथा अज्ञान में पड़ गये। इस प्रकार ज्ञान लुप्त होने के कारण उनके धर्म-कार्य नष्ट होने लगे। उनमे दोष-अदोष का कुछ भी विचार न रहा। वेद तथा यज्ञादि धर्म-कर्म लुप्त हो गये। तब देवता लोग भयभीत होकर जगत्पितामह ब्रह्मा की शरण में उपस्थित हुए और स्तुति करके बोले—"हे भगवन्, मनुष्यों में लोभ, मोह आदि भावों के उदित होने से यज्ञ आदि धर्म कर्म नष्ट हो गये हैं; इससे हम लोग भी नष्ट-प्राय हो रहे हैं। हे पितामह, आपकी कृपा से हम लोगों को जो कुछ ऐश्वर्य प्राप्त

हुआ था, वह सब नष्ट हो रहा है। अतः वह काम कीजिए, जिसमें हम लोगों का कल्याण हो।" इस पर ब्रह्मा ने एक लाख अध्यायों का एक शास्त्र बनाया जिसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का वर्णन था। उस शास्त्र को लेकर देवता लोग विष्णु भगवान के पास गये और बोले—"हे भगवन्, जो सम्पूर्ण प्राणियों पर प्रभुता कर सके, ऐसे किसी पुरुष को आप नियुक्त कीजिए।" तब विष्णु भगवान् ने अपने तेज से "विरजस्" नामक मानस-पुत्र उत्पन्न किया। इस विरजस् की छठी पीढ़ी मे जो पुत्र उत्पन्न हुआ, वह राज्याभिषिक्त किया गया। ब्रह्मा ने जो दण्ड-नीति बनाई थी, उसके अनुसार वह राज्य करने लगा। उसका नाम "पृथु" रक्खा गया। उसका राज्याभिषेक स्वयं ब्रह्मा और विष्णु ने किया था। स्वयं विष्णु ने अपने तप के प्रभाव से उस भूपति के शरीर में प्रवेश किया था; इसी कारण अखिल संसार उस की आज्ञा के अनुसार चलने लगा। "देव" और "नरदेव" (राजा) मे कोई भेद न रहा। तभी से राजा लोग विष्णु के अंश माने और "नरदेव" (नर के रूप में देवता) कहे जाते हैं।

पर अच्छे और बुरे सभी राजा "नरदेव" नहीं कहलाते थे। जो राजा धर्म के अनुसार प्रजा का पालन करते थे, वही "नरदेव" की पदवी पाते थे। जो राजा अपनी प्रजा को कष्ट देते थे, वे "नर-पिशाच" कहलाते थे। शुक्रनीति (१–७०) मे लिखा है—"जो राजा धार्मिक है, वह देवताओं का अंश-रूप है; और जो इसके विपरीत है, वह नर के रूप में पिशाच है।" प्राचीन भारत के अर्थशास्त्रकारों ने कहीं राजा के अत्याचार और व्यभिचार की उपेक्षा या समर्थन नहीं किया है। बल्कि उन्होंने सदा यही

शिक्षा दी है कि राजा को काम, क्रोध, लोभ और मोह से रहित होकर प्रजा का पालन करना चाहिए। ऐसे कई राजाओं के उदाहरण मिलते हैं, जो प्रजा पर अत्याचार करने के कारण कुल-परिवार सहित उस की कोपाग्नि में पड़कर नष्ट हो गये।

राजा पर अंकुश या दबाव—पर हिन्दू अर्थशास्त्र या राजनीति शास्त्र के अनुसार राजा अपने काम में पूर्ण निरंकुश न था। हमारी प्राचीन राजनीति के अनुसार राजा अपनी प्रजा का सेवक समझा जाता था। धान्य का जो छठा भाग या पण्य (क्रयविक्रय की वस्तुओं) का जो दसवाँ भाग उसे दिया जाता था, उसे वह प्रजा की सेवा करने के बदले में भृति (वेतन) के रूप में पाता था। यह मत केवल कौटिल्य और महाभारत (शान्तिपर्व) का ही नहीं है, बल्कि धर्मशास्त्रों का भी है। बौधायन, जो ईसवी पाँचवीं शताब्दी में हुए हैं, कहते हैं—"षड्-भाग-भृतो राजा रक्षेत् प्रजाम्" *—अर्थात् "वेतन के तौर पर धान्य का छठा भाग पाकर राजा अपनी प्रजा की रक्षा करे"। महाभारत (शान्ति पर्व, अध्याय ७१, श्लोक १०) में लिखा है कि राजा को कर के रूप में जो कुछ मिलता है, वह उसका वेतन है, जिसके बदले में वह प्रजा की रक्षा करता है। उसमें (अध्याय ७५, श्लोक १०) यहाँ तक कहा गया है कि राजा यदि अपनी प्रजा का धन, जो चोरों ने चुरा लिया हो, न दिला सके, तो उसे चाहिए कि वह अपने खजाने से वह नुकसान भर दे। ऐसा ही नियम कौटिल्य ने भी राजाओं के लिये बनाया है—"यदि राजा चोरों से चुराया हुआ धन उसके मालिक को न दिला सके, तो उसे चाहिए कि वह उसके बदले में

* बौधायन धर्मसूत्र, १-१०-१.

उतना ही धन अपने पास से उस मनुष्य को दे"* । इससे पता लगता है कि कर के तौर पर राजा को जो कुछ मिलता था, वह उसका वेतन समझा जाता था, जिसके बदले मे वह प्रजा की रक्षा करता था; और उसकी शक्ति कभी निरंकुश नहीं थी ।

प्राचीन काल के राज्यों में कई राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक संस्थाएँ ऐसी रहती थीं जो राजा पर पूरी तरह से अंकुश या दबाव रखती थीं। इस तरह की संस्थाएँ ग्राम-परिषद् (गाँव की पंचायतें), नगर-परिषद् (नगर की पंचायते), भिन्न भिन्न प्रकार के व्यापारियों की "श्रेणी" या पंचायतें, बौद्ध संघ इत्यादि थे । ये सब संस्थाएँ अपने अपने कार्य और क्षेत्र मे पूर्ण स्वतंत्र थीं। कोई राजा इनके कामों में दखल नहीं दे सकता था । बल्कि इन संस्थाओं के कारण राजा की शक्ति और अधिकार मर्यादित तथा सीमाबद्ध रहते थे । राजा इन संस्थाओं को उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देख सकता था । धर्म-शास्त्रों तथा अर्थ-शास्त्रों मे राजाओं को बराबर यही शिक्षा दी गई है कि वे पौर, जानपद, श्रेणी आदि के नियमों का आदर करें और उनकी सम्मति ग्रहण करें। राजाओं के अधिकार कितने मर्यादित और सीमा-बद्ध थे, यह "तेलपत्त जातक" से जाना जाता है । उसमे लिखा है कि एक बार तक्षशिला का एक राजा एक परम सुंदरी यक्षिणी के प्रेम में फँस गया । उस यक्षिणी ने यह समझकर कि अब राजा पूरी तरह से मेरे वश में हो गया है, उससे कुल राज्य का अधिकार माँगा । राजा ने उत्तर दिया—"प्रियतमे, अपनी प्रजा पर मेरा

---

* अर्थशास्त्र: ० १६०.

कोई अधिकार नहीं है; मैं उसका स्वामी और प्रभु नहीं हूँ। मेरा अधिकार सिर्फ उन लोगों पर है, जो विद्रोह या अनुचित कार्य करते हैं। अतएव मैं तुम्हें अपने राज्य का अधिकार नहीं दे सकता। हाँ, अपने महल पर मेरा अधिकार है। वह मैं तुम्हें देता हूँ।"

इससे प्रकट है कि प्राचीन काल में, और कम से कम बौद्ध काल में, राजा की शक्ति निरंकुश न रहती थी; अर्थात् वह अपनी स्वतंत्र इच्छा के अनुसार कोई काम नहीं कर सकता था। उसका अधिकार केवल प्रजा की रक्षा करना, अराजकता या विद्रोह को दबाना और अपराधियों को दण्ड देना था। इससे अधिक वह कुछ न कर सकता था।

प्रजातंत्र राज्य-प्रणाली—हम ऊपर लिख आये हैं कि प्राचीन बौद्ध काल में उत्तरी भारत में एक-तंत्र राज्यों के साथ साथ बहुत से प्रजातंत्र राज्य भी फैले हुए थे। प्राचीन भारत के प्रजातंत्र राज्य संघ अथवा गण-राज्य कहलाते थे। मनुष्यों का वह समुदाय या समूह, जिसका कोई निश्चित उद्देश्य या अर्थ हो "संघ" या "गण" कहलाता है। ई० पू० सातवीं शताब्दी में पाणिनि ने "संघ" और "गण" दोनों शब्दों का व्यवहार किया है। पाणिनि का एक सूत्र "संघोद्धौ गणप्रशंसयो." है। इसका अर्थ यह है कि सं पूर्वक हन् धातु से "संघ" तभी बनता है, जब उसका अर्थ गण या विशेष प्रकार का समूह हो। अन्यथा साधारण समूह के अर्थ में सं पूर्वक हन् धातु से "संघात" शब्द बनता है। अतएव सिद्ध होता है कि पाणिनि के समय में और उसके बाद बौद्ध काल में भी "संघ" या "गण" शब्द साधारण समूह के अर्थ में नहीं, बल्कि एक विशेष प्रकार के तथा निश्चित

उद्देश्यवाले समूह के अर्थ में व्यवहृत होता था। इससे प्रकट है कि भिन्न भिन्न उद्देश्यों के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार के धार्मिक, सामाजिक या राजनीतिक संघ अथवा गण होते थे।

प्राचीन धार्मिक संघ या गण का सब से अच्छा उदाहरण बौद्धों का भिक्षु-संघ है। यह समझना ठीक नहीं है कि पहले पहल बुद्ध ही ने अपने भिक्षु-संप्रदाय के लिये "संघ" शब्द का उपयोग किया। प्राचीन बौद्ध ग्रंथों से ही पता लगता है कि बुद्ध के सम-कालीन पूरण-कस्सप, मक्खलि-गोसाल आदि कम से कम सात बड़े बड़े धार्मिक आचार्य हो गये हैं, जो "संघिनो" (संघ के अगुआ) "गणिनो" (गण के अगुआ) और "गणाचरिया" (गणाचार्य या गणों के आचार्य) कहलाते थे*। इससे यह भी पता लगता है कि केवल बुद्ध का ही धार्मिक संप्रदाय "संघ" नहीं कहलाता था, बल्कि उनके समय में ही कम से कम सात ऐसे धार्मिक समूह थे, जो "संघ" या "गण" कहलाते थे। ये सब "संघिनः" और "गणिनः" (अर्थात् संघ और गण के अगुआ) "समण-ब्राह्मण" (श्रमण ब्राह्मणाः) कहे गये हैं, जिसका अर्थ यह है कि कुछ संघ श्रमण अथवा बौद्ध धर्मावलंबी थे और कुछ ब्राह्मण-धर्मावलंबी। इससे स्पष्ट है कि ब्राह्मणों के संप्रदाय भी "संघ" या "गण" कहलाते थे। ऊपर छठे अध्याय में बौद्ध संघ का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया जा चुका है।

व्यापारिक संघ—बौद्ध काल में बहुत से संघ ऐसे भी थे, जो व्यापार और व्यवसाय के उद्देश्य से बनाये जाते थे। इस तरह

---

* महापरिनिब्बान सुत्त ५८.

के संघ "श्रेणी" कहलाते थे। ई० पू० ५०० से ई० प० ६०० तक भारतवर्ष में इस तरह के अनेक व्यापारिक संघ या श्रेणियाँ थीं। जितने प्रकार के व्यवसाय और व्यापार थे, प्रायः उतने ही प्रकार की श्रेणियाँ भी थीं। हर एक व्यापार या पेशेवाले अपना अलग समाज या श्रेणी बनाये हुए थे। इन सब का सविस्तर वर्णन बारहवें अध्याय में किया जायगा।

राजनीतिक संघ—अब हम उन संघों के बारे में लिखते हैं, जो राजनीतिक उद्देश्य से बनाये गये थे। इन राजनीतिक संघों को हम प्रजातंत्र या गण-राज्य कह सकते हैं। राजनीतिक संघों के बारे में याद रखने की बात यह है कि वे किसी एक मनुष्य के अधीन नहीं, बल्कि एक विशेष समुदाय के अधीन थे। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि किस प्रमाण पर यह कहा जाता है कि प्राचीन काल में राजनीतिक संघ या प्रजातन्त्र राज्य थे? इसके उत्तर में हम यहाँ पर जैन धर्म के प्रसिद्ध ग्रन्थ "आया-रंग-सुत्त*" (आचारांग सूत्र) का हवाला देते हैं। उस ग्रन्थ में जैन भिक्षुओं और भिक्षुनियों के बारे में नियम दिये हैं। उन नियमों में कुछ नियम इस सम्बन्ध में हैं कि भिक्षुओं तथा भिक्षुनियों को कहाँ न जाना चाहिए। भिक्षुओं के लिये जिन जिन स्थानों में जाने की मनाही थी, वे निम्नलिखित हैं—(१) अराजक राज्य (जहाँ कोई राजा न हो); युवराजक राज्य (जहाँ का राजा बिलकुल लड़का हो); द्विराज्य (जहाँ दो राजाओं का राज्य हो) और गण-राज्य (जहाँ गण या समूह का राज्य हो)। इससे प्रकट है कि

* पाली टेक्स्ट सोसाइटी से प्रकाशित; २. ३. १—१०.

गण-राज्य एक प्रकार के राजनीतिक संघ या प्रजातन्त्र राज्य थे।

प्राचीन बौद्ध काल में प्रजातंत्र या गण राज्य का होना अवदान शतक नामक एक दूसरे बौद्ध ग्रन्थ से भी सिद्ध है। यह ग्रन्थ ई० पू० १०० के लगभग का है। इसके ८८ वें अवदान में लिखा है कि कुछ सौदागर मध्य देश से दक्षिण की ओर व्यापार करने के लिये गये थे। जब वहाँ उनसे पूछा गया कि तुम्हारे देश में किस प्रकार का राज्य है, तब उन्होंने उत्तर दिया—"केचिद्देशा गणाधीनाः केचिद्राजाधीना इति" अर्थात् "कुछ देश गणों के अधीन हैं और कुछ राजाओं के अधीन"। यहाँ राजाधीन देश से एकतन्त्र राज्य का और गणाधीन देश से गण-राज्य या प्रजातन्त्र राज्य का तात्पर्य है। पाणिनि का एक सूत्र "जनपद शब्दात् क्षत्रियादञ्" है। इसका अर्थ यह है कि "अपत्य अर्थ में अञ् प्रत्यय उसी शब्द के साथ लगता है, जो देश और क्षत्रिय दोनों का वाचक हो।" इस सूत्र पर कात्यायन का यह वार्तिक है—"क्षत्रियादेकराजात् संघप्रतिषेधार्थम्" अर्थात् "अञ् प्रत्यय अपत्य अर्थ में उसी शब्द में लगना चाहिए, जो देश और क्षत्रिय दोनों अर्थों का बोधक हो; पर शर्त यह है कि उस देश में एक राजा का आधिपत्य हो। जिस देश में संघ या समूह का राज्य हो, उस देश के वाची शब्द में अपत्य अर्थ में अञ् प्रत्यय नहीं लग सकता।" इससे स्पष्ट है कि संघ या गण-राज्य एक प्रकार के प्रजातन्त्र राज्य थे; अर्थात् उनमें एक मनुष्य का राज्य नहीं, बल्कि समूह का राज्य था। प्राचीन बौद्ध काल के संघों या गण राज्यों की सूची और वर्णन ऊपर आठवें अध्याय में दिया गया है।

संघों या गण राज्यों की शासन-व्यवस्था—संघों या गण-

राज्यों की शासन-व्यवस्था कैसी थी, अर्थात् उनका शासन किस प्रकार होता था, इसके सम्बन्ध में प्रत्यक्ष रीति पर किसी ग्रन्थ में कुछ नहीं लिखा है। कौटिल्य ने भी अपने अर्थशास्त्र में संघों या गण-राज्यों की शासन-प्रणाली के बारे मे कुछ नहीं लिखा है। अतएव संघों या गण-राज्यों की शासन-व्यवस्था के बारे में कुछ लिखने के लिये हमें केवल अप्रत्यक्ष प्रमाणों का सहारा लेना पड़ता है। इस सम्बन्ध में मुख्य प्रमाण बौद्धों का भिक्षु-संघ है; क्योंकि बुद्ध भगवान ने अपने भिक्षु-संघ की व्यवस्था इन्हीं राजनीतिक संघों या गण राज्यों की शासन-व्यवस्था के आदर्श पर की थी। बुद्ध भगवान् शाक्यों और लिच्छवियो के प्रजातन्त्र या गण-राज्य मे पाले पोसे गये थे, उनकी हर एक वात से पूरी तरह परिचित थे और उनकी शासन-व्यवस्था अच्छी तरह जानते थे। भिक्षु-संघ स्थापित करते समय उनकी दृष्टि के सामने शाक्यों और लिच्छवियों के संघ या गण राज्य का आदर्श रहा होगा और उन्होंने अपने भिक्षु-संघ की शासन-व्यवस्था राजनीतिक संघ या गण-राज्य की शासन-व्यवस्था के ढंग पर की होगी। अतएव भिक्षु-संघ की शासन-व्यवस्था से हम राजनीतिक संघ या गण-राज्य की शासन-व्यवस्था का अनुमान कर सकते हैं। विनय-पिटक में भिक्षु-संघ की व्यवस्था का वर्णन बहुत विस्तार के साथ दिया गया है। यहाँ उसी के आधार पर मुख्य मुख्य बातें दी जाती हैं—

परिषद्—प्रत्येक संघ में एक परिषद् होती थी। इस परिषद् की बैठक कब होनी चाहिए, कैसे होनी चाहिए, किन किन लोगों को उसमें राय देनी चाहिए और कैसे राय देनी चाहिए

आदि बातो के विशेष नियम बने हुए थे। संघ के कुल भिक्षु इस परिषद् के सभ्य हो सकते थे। उनमे से हर एक को उसमें राय देने का अधिकार था। परिषद् मे हर एक सभ्य के लिये अवस्था और गौरव के अनुसार आसन नियत रहता था। इसके लिये एक विशेष कर्मचारी रहता था, जिसे "आसन-प्रज्ञापक" कहते थे।

परिषद् में प्रस्ताव का नियम—जब परिषद् मे सब सभ्य जमा हो जाते थे, तब जो सभ्य प्रस्ताव करना चाहता था, वह अपना प्रस्ताव परिषद् के सामने रखता था। प्रस्ताव की सूचना को "ज्ञप्ति" कहते थे। "ज्ञप्ति" के उपरान्त "कर्मवाचा" होती थी; अर्थात् उपस्थित सभ्यो से प्रश्न किया जाता था कि आप लोगो को यह प्रस्ताव स्वीकृत है या नहीं। यह प्रश्न या तो एक बार किया जाता था या तीन बार। जब प्रश्न एक बार किया जाता था, तब उस कर्म को "ज्ञप्ति-द्वितीय" कहते थे; और जब प्रश्न तीन बार किया जाता था, तब उसे "ज्ञप्ति-चतुर्थ" कहते थे। ये सब काररवाइयाँ इस प्रकार की जाती थीं—

जब कोई नया व्यक्ति बौद्ध संघ मे भर्त्ती होने के लिये आता था, तब परिषद् के सब सभ्य जमा होकर इस बात पर विचार करते थे कि वह संघ मे भर्ती किया जाय या नहीं। उनमें से एक सभ्य यह "ज्ञप्ति" या प्रस्ताव संघ के सामने रखता था—"मै संघ को यह सूचित करता हूँ कि अमुक नाम का यह व्यक्ति अमुक नाम के उपाध्याय से उपसंपदा (दीक्षा) ग्रहण करके संघ में भर्ती होना चाहता है। वह उपसपदा ग्रहण करने के लिये संघ की आज्ञा चाहता है। यदि सघ आज्ञा दे, तो वह भर्ती किया जाय। यदि कोई इस प्रस्ताव के विरुद्ध हो तो बोले।" इस ज्ञप्ति के बाद

वह तीन बार "कर्मवाचा" करता था; अर्थात् तीन बार वह प्रस्ताव उपस्थित करता था। परिषद् का कोई कार्य तब तक नियमानुसार न समझा जाता था, जब तक उसके संबंध में परिषद् के सामने एक बार "ज्ञप्ति" और एक या तीन बार "कर्मवाचा" न हो। जब प्रस्ताव नियमानुसार एक या तीन बार संघ के सामने रख दिया जाता था, तब वह आप ही आप स्वीकृत हो जाता था।

बहुमत—यदि कोई सभ्य प्रस्ताव के विरुद्ध कुछ कहता था और उस पर मत-भेद होता था, तो उपस्थित सभ्यों की राय ली जाती थी; और बहुमत के अनुसार ही फैसला किया जाता था। राय (वोट) लेने के पहले सभ्य-गण व्याख्यान के द्वारा अपने अपने विचार प्रकट करते थे और अपनी अपनी राय पर जोर देते थे। सभ्यों की राय भिन्न भिन्न रंग की शलाकाओं के द्वारा ली जाती थी। एक मत के लिये एक रंग की शलाका होती थी और दूसरे मत के लिये दूसरे रंग की। यह शलाका आज कल के वोटिंग टिकट या पर्चे का काम देती थी। लोगों की राय लेने के लिये और उन्हें यह बतलाने के लिये कि किस रंग की शलाका से क्या तात्पर्य है, संघ की ओर से एक भिक्षु नियत रहता था, जिसे "शलाका-ग्राहक" कहते थे। जो मनुष्य निष्पक्ष, निर्भीक और ईर्ष्या से रहित होता था, वही "शलाका-ग्राहक" नियुक्त होता था। सभ्यों की राय या तो प्रकट रूप से ली जाती थी, या गुप्त रूप से।

अनुपस्थित सभ्यों की राय—जब कोई सभ्य, बीमारी या और किसी कारण से, उपस्थित न हो सकता था, तब वह अपनी राय भेज देता था। अनुपस्थित सभ्यों की नियमानुसार सम्मति को "छन्द" कहते थे। परिषद् की कोई बैठक तब तक नियमानु-

कूल न समझी जाती थी, जब तक सम्मति देने का अधिकार पाये हुए कुल सभ्य उसमें उपस्थित न हों; या किसी कारण अनुपस्थित होने पर उन्होंने नियमानुसार अपनी सम्मति न प्रकट की हो।

अधिवेशन के लिये कम से कम उपस्थिति या कोरम—कम से कम कितने सभ्यों की उपस्थिति होने पर परिषद् की बैठक हो सकती थी, इसके नियम का बड़ा खयाल रक्खा जाता था। भिन्न भिन्न कार्यों के लिये भिन्न भिन्न संख्या नियत थी। कुछ कार्य तो ऐसे थे, जिनके लिये केवल चार सभ्यों की उपस्थिति आवश्यक थी; और कुछ ऐसे थे, जिनके लिये कम से कम बीस भिक्षुओं की उपस्थिति परमावश्यक थी। यदि बिना "कोरम" या निर्दिष्ट संख्या के परिषद् की बैठक होती, तो वह नियम-विरुद्ध समझी जाती थी। यदि किसी उपस्थित सभ्य की राय में परिषद् की बैठक नियम-विरुद्ध होती, तो वह उसका विरोध कर सकता था।

गण-पूरक या ह्विप (Whip)—यदि यह समझा जाता था कि परिषद् की किसी बैठक में "कोरम" या निर्दिष्ट संख्या न पूरी होगी, तो "कोरम" पूरा करने का प्रयत्न किया जाता था। इस काम के लिये एक सभ्य नियत किया जाता था, जो "गण-पूरक" कहलाता था। इसे अँगरेजी में "ह्विप" कह सकते हैं।

परिषद् की बैठक के संबंध में इसी तरह के अनेक छोटे बड़े नियम थे, जिनका यहाँ उल्लेख करना असंभव है। यहाँ केवल मोटी मोटी बातों का उल्लेख किया गया है। पर जो कुछ ऊपर लिखा गया है, उससे पाठकों ने समझ लिया होगा कि आज कल के सभ्य देशों में पार्लिमेंट या काउन्सिल आदि की बैठकों के जो नियम हैं, प्रायः वे सब बौद्ध काल के संघों और गण-राज्यों

में भी बरते जाते थे। "प्रस्ताव", "बहुमत", "वोट", "वोटिंग टिकट" या पर्चा, "कोरम", "ह्विप" इत्यादि वर्तमान समय की पार्लिमेंटों, काउन्सिलों और मीटिंगों की विशेषताएँ समझी जाती हैं। पर वास्तव में ये सब बातें दूसरे नाम से बौद्ध काल के संघों और गण-राज्यों में भी प्रचलित थीं। कदाचित् इस बात पर कुछ लोग विश्वास न करें और कहें कि प्राचीन ग्रंथों के शब्दों को तोड़ मरोड़कर ये सब अर्थ निकाले गये हैं। पर जिस ग्रंथ (विनय पिटक) के आधार पर यह वर्णन दिया गया है, वह सब के सामने तैयार है। उस ग्रंथ का अनुवाद अंगरेजी में भी हो गया है और "सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट सीरीज़" में छपा है।

यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि संघ के "ज्ञप्ति", "कर्मवाचा", "शलाका-ग्राहक", "गणपूरक" आदि पारिभाषिक या सांकेतिक शब्दों की व्याख्या बुद्ध ने कहीं नहीं की है। यदि संघ के भिन्न भिन्न नियमों या पारिभाषिक शब्दों के जन्मदाता बुद्ध ही होते, तो वे उन नियमों और पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या विस्तार के साथ और अवश्य करते। अतएव सिद्ध है कि बुद्ध ने इन सब नियमों और पारिभाषिक शब्दों को उन प्रजातन्त्रों या गण राज्यों से ग्रहण किया था, जो उनके समय में प्रचलित थे। बुद्ध के समय में ये सब पारिभाषिक शब्द सर्व साधारण में इतने अधिक प्रचलित थे कि बुद्ध भगवान् उनकी व्याख्या करने की कोई आवश्यकता ही न समझते थे।

ग्यारहवाँ अध्याय

प्राचीन बौद्ध काल की सामाजिक अवस्था

चार वर्ण—बुद्ध के समय में तथा उनके बाद भी प्राचीन भारत की सामाजिक दशा कैसी थी, इसकी कुछ कुछ झलक जातक कथाओं और प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में जहाँ तहाँ दिखलाई पड़ती है। इन ग्रन्थों से पता लगता है कि उस समय का समाज चार वर्णों में विभक्त था। चारो वर्णों का भिक्षु-सम्प्रदाय के साथ जो सम्बन्ध था, उसके बारे में बुद्ध भगवान् ने एक स्थान पर अपने शिष्यों से कहा था—"भिक्षुओ, जिस प्रकार गंगा, यमुना आदि बड़ी बड़ी नदियाँ समुद्र में मिलने पर अपना नाम और रूप खो देती हैं और समुद्र के रूप में बदल जाती हैं, उसी प्रकार खत्तिय (क्षत्रिय), बाम्हण (ब्राह्मण) वेस्स (वैश्य) और सुद्द (शूद्र) जब घर छोड़कर भिक्षु-सम्प्रदाय में आते हैं, तब अपना नाम और वर्ण खो देते हैं और समण (श्रमण) कहलाने लगते हैं *।" एक दूसरे स्थान पर बुद्ध भगवान् कहते हैं—"हे राजन्, क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण हैं। इन चारों वर्णों में क्षत्रिय और ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं †।

ऊँच नीच का भाव—कुछ लोगों का विश्वास है कि बुद्ध भगवान् ने वर्ण-विभाग बिलकुल उठा दिया था; पर वास्तव में यह

---

* विनयपिटक (चुल्लवग्ग)—९. १–४.

† मज्झिम-निकाय (कण्णकथाल सुत्त).

बात नहीं है। बौद्ध धर्म का प्रचार होने के बाद भी वर्ण-भेद बना रहा। जैसा कि ऊपर लिखा गया है, बौद्ध ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर वर्ण-विभाग का उल्लेख आया है। बौद्ध भिक्षुओं के संप्रदाय में भी वर्ण विभाग का भाव दूर नहीं हुआ था। "तित्तिर जातक" में लिखा है कि एक बार बुद्ध भगवान् ने भिक्षुओं की सभा में पूछा कि सब से अधिक और सब से पहले किसका आदर होना चाहिए? इसके उत्तर में कुछ भिक्षुओं ने कहा—"जो मनुष्य क्षत्रिय कुल से भिक्षु-संप्रदाय में आया हो, वही अधिक पूजनीय है *।" दूसरे भिक्षुओं ने कहा—"जो मनुष्य ब्राह्मण या वैश्य कुल से भिक्षु-संप्रदाय में आया हो, वही अधिक पूजनीय है †।" इस उल्लेख से पता लगता है कि उस समय समाज में ऊँच और नीच का भाव फैला हुआ था; यहाँ तक कि संसार से विरक्त भिक्षु लोग भी इस भाव से रहित न थे।

समान वर्ण में विवाह सम्बन्ध—जातक कथाओं से पता लगता है कि उस समय विवाह-सम्बन्ध आम तौर पर समान वर्ण में होता था। लोग इस बात का बड़ा ध्यान रखते थे कि समान जाति या पेशे के लोगों में विवाह-सम्बन्ध किया जाय, जिसमें रुधिर की पवित्रता बनी रहे। जब माता-पिता अपने पुत्र का विवाह करना चाहते थे, तब वे अपने ही वर्ण की कन्या ढूँढते थे; या अपने पुत्र को यह सलाह देते थे—"समान जाति की कन्या का पाणिग्रहण करो" (एकं समजातिककुला कुमारिक गराह)। एक जातक-कथा में ब्राह्मण माता-पिता अपने पुत्र से

* "खत्तिय कुला पब्बजितो"।

† "ब्राह्मणकुला गहपतिकुला पब्बजितो"।

कह रहे है—"बेटा, ब्राह्मण कुल की लड़की लाना" (ब्राह्मण-कुल कुमारिकं आनेथ)। जातक-कथाओं में ऐसे अनेक स्थल हैं, जिनमें समान जाति में विवाह करने पर जोर दिया गया है। उन्हीं कथाओं से यह भी जाना जाता है कि विवाह करने के समय लड़के या लड़की की रुचि या इच्छा का खयाल नहीं किया जाता था। बड़े बूढ़े आपस में बातचीत करके विवाह-सम्बन्ध तै कर लेते थे और अपने लड़के या लड़की से इस बारे में राय नहीं लेते थे। आम तौर पर वर और कन्या दोनो युवावस्था के होते थे।

साधारण नियम तो यही था कि विवाह-सम्बन्ध समान जाति या वर्ण में होता था। पर इस नियम के विरुद्ध बहुधा असमान जाति या वर्ण में भी विवाह-सम्बन्ध के उदाहरण जातक कथाओं मे पाये जाते हैं। "भद्दसाल जातक" से पता लगता है कि कोशल के राजा ने एक शूद्रा स्त्री से विवाह किया था; और उससे जो सन्तान हुई थी, वह क्षत्रिय समझी जाती थी। इसी तरह "कट्ठहारि जातक" से पता लगता है कि एक राजा ने शूद्र लकड़िहारे की लड़की को अपनी प्रधान रानी बनाया था, और उससे जो लड़का हुआ था, उसे युवराज पद मिला था।

क्षत्रियों की प्रधानता—जातकों तथा अन्य बौद्ध ग्रंथों में क्षत्रिय लोग सब वर्णों से श्रेष्ठ कहे गये हैं। ब्राह्मण तथा वैश्य उनसे नीचे समझे गये हैं। बौद्ध ग्रंथों के अनुसार समाज में क्षत्रियों की मर्यादा सब से बढ़ी चढ़ी थी। उन में ब्राह्मणों का उल्लेख अपमान और नीचतासूचक शब्दों में किया गया है; तथा ब्राह्मणों के लिये "तुच्छ ब्राह्मण" "नीच ब्राह्मण" आदि शब्द आये हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि उस समय क्षत्रिय लोग विद्या, ज्ञान और तपस्या में ब्राह्मणों का मुकाबला करते थे। पर बौद्ध ग्रंथों की यह बात कि क्षत्रिय ब्राह्मणों से भी श्रेष्ठ थे, ठीक नहीं जँचती; क्योंकि बौद्ध ग्रंथ अधिकतर क्षत्रियों के लिखे हुए हैं। भिक्षुओं का अधिकांश भिक्षु-संप्रदाय में आने के पहले क्षत्रिय वर्ण का ही था। उन लोगों का भिक्षु होने के बाद भी अपने पूर्व वर्ण की प्रशंसा करना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इसके सिवा बौद्ध भिक्षु ब्राह्मणों के कट्टर विरोधी थे। अतः इस विषय में बौद्ध ग्रंथों को प्रामाणिक मानना उचित नहीं जान पड़ता।

क्षत्रिय—जातक ग्रंथों से पता लगता है कि "क्षत्रिय" कोई अलग जाति न थी। शासक या राजा, और जिनसे उनका पारिवारिक सम्बन्ध था, सब क्षत्रिय कहलाते थे। क्षत्रियों के अलग अलग कुल थे, जो अलग अलग स्थानों में राज्य करते थे। बाद को यही क्षत्रिय कुल एक जाति में परिणत हो गये। राज्य के जितने बड़े बड़े ओहदे थे, वे सब इन्हीं क्षत्रियों के हाथ में थे। क्षत्रिय लोग अपने रक्त की शुद्धता पर बड़ा जोर देते थे। जो क्षत्रिय दूसरे वर्ण या जाति में विवाह-सम्बन्ध करता था, वह हीन समझा जाता था। क्षत्रिय पुरुष और ब्राह्मण स्त्री के विवाह-सम्बन्ध से जो सन्तान होती थी, वह ब्राह्मण समझी जाती थी, क्षत्रिय नहीं। इसी तरह से ब्राह्मण पुरुष और क्षत्रिय स्त्री के विवाह-सम्बन्ध से जो सन्तान होती थी, वह भी ब्राह्मण ही समझी जाती थी, क्षत्रिय नहीं। इससे सूचित होता है कि क्षत्रिय लोग रक्त की शुद्धता का बहुत ध्यान रखते थे। उस समय क्षत्रिय लोग विद्या, बुद्धि और आत्मिक ज्ञान में ब्राह्मणों से कम नहीं होते थे। बुद्ध भगवान् और

महावीर स्वामी क्षत्रिय ही थे। ब्राह्मण बालकों की तरह क्षत्रिय बालक भी अपने जीवन का कुछ अंश वेद आदि पढ़ने में बिताते थे। "गामणिचण्ड जातक" में कहा है कि एक राजा अपने राजकुमार को सात वर्षों तक तीनों वेदों और सब लौकिक कर्तव्यों की शिक्षा देता था। राजकुमार लोग विद्याध्ययन के लिये प्रायः किसी ब्राह्मण के पास अथवा तक्षशिला आदि विद्यापीठों में जाते थे। उन दिनों तक्षशिला बड़ा प्रसिद्ध विश्व-विद्यालय था। बनारस तक के विद्यार्थी इतनी दूर पैदल चलकर वहाँ पहुँचते थे। अध्ययन के विषय तीनो वेद और अठारहो विद्याएँ लिखी गई हैं।

ब्राह्मण—उस समय ब्राह्मणों की एक जाति बन गई थी। ब्राह्मण जन्म से होता था, न कि कर्म से *। ब्राह्मण अपनी जीविका के लिये नीच से नीच काम करने पर भी "ब्राह्मण" ही बने रहते थे। वे लोग अपने को सब वर्णों से उच्च समझते थे; क्योंकि वही यज्ञ करा सकते थे और क्षत्रियों के पुरोहित बन सकते थे। ब्राह्मण ग्रंथो में ब्राह्मणों के जीवन का जो चित्र मिलता है, वह उनके आदर्श जीवन का है। पर जातकों में ब्राह्मणों का जो चित्र मिलता है, वह उनके साधारण और घरेलू जीवन का है। उनमे हम ब्राह्मणों को अध्यापक, विद्यार्थी, किसान, पुरोहित और व्यापारी आदि के रूप में पाते हैं। ब्राह्मण दो भागों में बाँटे गये हैं—एक सच्चे आदर्श ब्राह्मण और दूसरे सांसारिक ब्राह्मण। सच्चा और आदर्श ब्राह्मण केवल ब्राह्मण कुल में जन्म लेने, यज्ञ करने या वेद पढ़ने से नहीं होता था, बल्कि अच्छे कर्म करने

---

* "ब्राह्मणो नाम जातिया ब्राह्मणो।" विनयपिटक, निस्सग्गिय, १०. २-१.

से होता था। उस समय सब लोग ऐसे ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा करते थे। "समण" (श्रमण) और "ब्राह्मण" शब्द जातकों तथा अन्य बौद्ध ग्रंथों मे साथ साथ आये हैं। इससे पता लगता है कि सच्चे ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा श्रमणों के बराबर होती थी। ब्राह्मणों का जीवन चार आश्रमो में विभक्त था। ब्रह्मचर्य आश्रम में वह गुरु के यहाँ रहकर विद्या पढ़ता था; और इसके बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। बाद को गृहस्थाश्रम का त्याग करके वानप्रस्थाश्रम ग्रहण करता था: या तपस्वी की तरह जीवन बिताता था; या विद्यार्थियो को शिक्षा देता था। चौथा आश्रम संन्यासी या भिक्षु का था। इस आश्रम मे वह भिक्षा माँगकर उदर-पालन करता था। कभी कभी कोई ब्राह्मण ब्रह्मचर्याश्रम के बाद ही संन्यासाश्रम में प्रविष्ट हो जाता था। जब ब्राह्मण बालक सोलह वर्ष का होता था, तब गुरु के यहाँ भेजा जाता था। इस बीच मे कदाचित् वह घर ही में पढ़ाया जाता था। प्रायः विद्यार्थी पढ़ने के लिये तक्षशिला में भेजे जाते थे। वे तीनों वेदों का अध्ययन करते थे। किसी ब्राह्मण की प्रशंसा में कहा जाता था कि वह तीनों वेदों का पूर्ण पण्डित है (तिण्णं वेदानं पारंगतो)। "तिलमुट्ठि जातक" से पता लगता है कि विद्यार्थी (अन्तेवासिक) दो प्रकार के होते थे—एक "धर्मान्तेवासिक" जो गुरु की सेवा-शुश्रूषा करते और उसके बदले में विद्या पढ़ते थे; और दूसरे "आचार्यभागदायक" जो गुरु को गुरु-दक्षिणा देकर विद्याध्ययन करते थे। गुरु के यहाँ विद्यार्थी पुत्रवत् रहते थे। ऊपर जो वर्णन किया गया है, वह आदर्श ब्राह्मणों का है। पर उस समय बहुत से ब्राह्मण ऐसे भी थे, जिन्हें हम "सांसारिक" या "दुनियावी" ब्राह्मण कह सकते हैं। ऐसे

ब्राह्मण "ब्रह्मबंधु" (नीच ब्राह्मण) कहे गये हैं। वे यज्ञ कराते थे, पुरोहिती करते थे, राजा को शकुन आदि बताते थे, और मन्त्र के द्वारा भूतों तथा पिशाचों को वश में करते थे। जातकों में ब्राह्मण खेती करते, हल चलाते और पशु-पालन करते हुए दिखाये गये हैं। ऐसे ब्राह्मण "कस्सक-ब्राह्मण" (कर्षक-ब्राह्मण) कहे गये हैं। ब्राह्मण व्यापार करते हुए भी लिखे गये हैं। "महासुतसोम जातक" में लिखा है कि एक ब्राह्मण व्यापारी ५०० छकड़ों पर माल लादकर व्यापार करने के लिये पूरब से पच्छिम को जाता था। "गग्ग जातक" से पता लगता है कि ब्राह्मण व्यापारी इधर उधर घूम फिरकर माल बेचते थे। "फनन्द जातक" में एक ब्राह्मण बढ़ई (ब्राह्मण वड्ढकि) का नाम आया है, जो शहर के बाहर बढ़इयों के ग्राम (वड्ढकी गाम) में रहता और छकड़े बनाता था।

वैश्य—जातकों से पता लगता है कि उन दिनों वैश्यों की कोई अलग जाति न थी। जो लोग खेती और व्यापार करते थे, वही वैश्य कहे जाते थे। जातकों में उनके लिये अधिकतर "गहपति" (गृहपति) और "कुटुम्बिक" शब्द आये हैं। उन्हें अपने कुल का बड़ा अभिमान रहता था; इसी लिये वे अपने को "कुल-पुत्त" कहते थे। वे प्रायः अपने बराबर के कुल में ही विवाह सम्बन्ध करते थे। राजाओं के दरबार में गृहपतियों का उनके धन और पद के कारण बड़ा सम्मान होता था। गृहपतियों का प्रतिनिधि "सेट्ठि" (श्रेष्ठिन्) कहलाता था। ब्राह्मण और क्षत्रिय बालकों की तरह वैश्य बालक भी विद्याध्ययन के लिये गुरु के यहाँ जाते थे। उन्हें भी तीनों वेदों की शिक्षा दी जाती थी। "निग्रोध जातक" से पता लगता है कि राजगृह के एक सेट्ठि (सेठ) ने अपने दो

पुत्रों को विद्या पढ़ने के लिये तक्षशिला भेजा था। "अट्ठान जातक" में लिखा है कि एक सेठ का लड़का और एक क्षत्रिय कुमार एक ही साथ गुरु के यहाँ पढ़ते थे। प्रायः हर एक व्यापार या उद्यम करनेवाले गृहपति की अलग श्रेणी या समूह था।

शूद्र—बौद्ध ग्रंथों में "सुद्द" (शूद्र) शब्द भी आता है; पर इससे यह नहीं सिद्ध होता कि शूद्रों की कोई अलग जाति थी। असभ्य अनार्यों को ही सभ्य आर्य "शूद्र" कहते थे। जातकों में उनके लिये प्रायः "हीन जाति" शब्द का प्रयोग किया गया है। इन हीन जातियों से कुछ तो बहुत ही असभ्य और जंगली थीं। ऐसी एक हीन जाति "चाण्डालों" की थी। चाण्डाल लोग नगर के बाहर एक गाँव में रहते थे। वह गाँव उनके नाम से "चण्डाल गाम" कहलाता था। उस गाँव मे और कोई जाति न रहती थी। "चित्तसभूत जातक" तथा "मातंग जातक" से पता लगता है कि उनको छूना तो दूर रहा, उन्हें देखना भी पाप समझा जाता था। उनकी छूई हुई चीज अशुद्ध मानी जाती थी। उनकी बोली भी भिन्न होती थी। वे अपनी बोली से झट पहचान लिये जाते थे। "चित्तसंभूत जातक" से पता लगता है कि दो चाण्डाल ब्राह्मण के वेश में विद्याध्ययन के लिये तक्षशिला गये थे। पर एक दिन वे अकस्मात् अपनी बोली (चाण्डाल-भाषा) से पहचान लिये गये। चाण्डालों के साथ साथ "पुक्कुसो" का भी नाम आता है। मनु-स्मृति में पुक्कुस की जगह "पुक्कस" लिखा मिलता है। पुक्कुस भी अनार्य जाति के थे। समाज में उनका दर्जा बहुत ही नीचा था। "सोलवीमंस जातक" से पता लगता है कि वे फूल तोड़कर निर्वाह करते थे। मनुस्मृति में उनका काम गुफा में रहनेवाले

जानवरों को पकड़ना और मारना लिखा है। इससे पता लगता है कि वे शिकार वगैरह करके अपना पेट पालते थे। जातकों में "नेसाद" नाम की एक और हीन जाति का उल्लेख है। मनुस्मृति में जिस "निषाद" जाति का उल्लेख है, वह यही "नेसाद" जाति है। मनुस्मृति के अनुसार उनका काम मछलियाँ मारना था। जातकों मे उनका काम शिकार करना लिखा है। अतः सिद्ध है कि वे मछली मारकर और शिकार करके निर्वाह करते थे। चाण्डालों की तरह उनसे भी घृणा का व्यवहार किया जाता था और वे भी नगर के बाहर अलग गाँव में रहते थे। वह गाँव उनके नाम से "नेसादगाम" कहलाता था। इसके सिवा "वेण" (बाँस की चीज बनानेवाले) "रथकार" (रथ बनानेवाले), "चम्मकार" (चमार), "नहापित" (नाई), "कुंभकार" (कुम्हार), "तन्तवाय" (जुलाहे) आदि भी हीन जाति के गिने जाते थे।

मेगास्थिनीज़ के अनुसार सामाजिक दशा—जातकों और बौद्ध ग्रंथों मे जैसी सामाजिक दशा का वर्णन पाया जाता है, प्राय वैसी ही सामाजिक दशा मेगास्थिनीज के भारत-वर्णन में भी मिलती है। मेगास्थिनीज ने भारतवासियो को सात जातियों में बाँटा है—प्रथम जाति ब्राह्मणों की, दूसरी श्रमणो की, तीसरी योद्धाओ की, चौथी किसानों की, पाँचवीं चरवाहों और शिकारियों की, छठी शिल्पकारों की और सातवीं दूतों की थी। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि ये सातों जातियाँ ऊपर लिखे हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारो वर्णों में आ जाती हैं।

ब्राह्मणों के बारे में मेगास्थिनीज लिखता है—"ब्राह्मणों के बालक एक मनुष्य के उपरान्त दूसरे मनुष्य की रक्षा में रक्खे

जाते हैं; और ज्यों ज्यों वे बड़े होते जाते हैं, त्यों त्यों पहलेवाले गुरु से अधिक योग्य गुरु उन्हें मिलते हैं। उनका निवास नगर के पास किसी वन या उपवन में होता है। वे बड़ी सीधी सादी चाल से रहते हैं और फूस की चटाई अथवा मृगछाला पर सोते हैं। वे मांस-भोजन तथा शारीरिक सुखों से बचते हैं और अपना समय धार्मिक विषयों के अध्ययन में बिताते हैं। सैंतीस वर्ष तक इस प्रकार रहकर वे अपने अपने घर लौट जाते हैं और वहाँ शान्तिपूर्वक शेष आयु बिताते हैं। तब वे उत्तम वस्त्र और आभूषण धारण करते और मांस खाते हैं; पर वह मांस किसी पालतू या लाभदायक पशु का नहीं होता। वे गरम और अधिक मसालेदार भोजन से परहेज़ करते हैं। वे जितनी चाहें, उतनी स्त्रियों से विवाह कर सकते हैं, जिसमें बहुत सी सन्तति उत्पन्न हो।"

श्रमणों के बारे में मेगास्थिनीज़ कहता है—"वे बनों में रहते हैं; वहाँ पेड़ों की पत्तियाँ तथा जंगली फल-फूल खाते हैं; और पेड़ों की छाल के बने हुए कपड़े पहनते हैं। उनमें से कुछ लोग वैद्य का काम करते हैं। उनकी सर्वोत्तम औषधे मरहम और लेप हैं। सर्व साधारण के कार्य्यों से रहित होने के कारण वे न तो किसी के मालिक हैं और न किसी के नौकर।"

योद्धा या क्षत्रिय जाति के बारे में मेगास्थिनीज़ ने बहुत संक्षेप में लिखा है—"योद्धा लोग युद्ध के लिये तैयार किये जाते थे; पर शांति के समय वे आलस्य और तमाशे आदि में जीवन बिताते थे। कुल सेना का खर्च सरकारी खजाने से दिया जाता था।"

किसान, चरवाहे और शिल्पकार ये तीनों वैश्य और शूद्र वर्णों के अन्दर आ सकते हैं। मेगास्थिनीज़ ने इनका बहुत

मनोरंजक वृत्तान्त लिखा है। युद्ध आदि से बचे रहने के कारण किसान अपना पूरा समय खेती करने में लगाते थे। यदि खेती का काम करते हुए किसी किसान के पास कोई शत्रु आ जाता था, तो वह उसे कोई हानि न पहुँचाता था। किसान लोग राजा को कर देते थे; क्योंकि कुल देश राजा की संपत्ति समझा जाता था। राजा के सिवा और कोई भूमि का मालिक नहीं माना जाता था।

चरवाहे और शिकारी नगर अथवा गाँव में नहीं, बल्कि खेमों में रहते थे। वे हिंसक और जंगली जानवरों का शिकार करके और उन्हें फँसाकर देश को उनके उपद्रव से बचाते थे।

शिल्पकारों में कुछ लोग शस्त्र बनाते थे; और कुछ लोग ऐसे यन्त्र निर्माण करते थे, जो खेती आदि के लिये उपयोगी होते थे। ये लोग केवल कर से ही मुक्त नहीं थे, बल्कि इन्हें राज्य से भी सहायता मिलती थी।

मेगास्थिनीज ने सातवीं जाति दूतों की लिखी है। पर इसमें मेगास्थिनीज को भ्रम हुआ है। दूतों की कोई अलग जाति न थी। सब जाति के लोग दूत हो सकते थे। वे राजा के यहाँ नौकर होते थे। उनका कर्तव्य राज्य की सब बातों का पता लगाकर राजा को सूचित करना होता था।

ब्राह्मण ग्रंथों के अनुसार सामाजिक दशा—ऊपर बौद्ध ग्रंथों और मेगास्थिनीज के अनुसार साजिक दशा का वर्णन किया गया है। अब हम तत्कालीन ब्राह्मण ग्रंथों के अनुसार प्राचीन बौद्ध काल की सामाजिक दशा का कुछ दिग्दर्शन कराना चाहते हैं। इसके मुख्य साधन ब्राह्मण ग्रंथ धर्म-सूत्र और गृह्य-सूत्र हैं। इन्हीं सूत्र ग्रंथों के आधार पर यहाँ कुछ बातें दी जाती हैं।

उस समय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों के सिवा बहुत सी नई जातियाँ उत्पन्न हो गई थी। इन जातियों में मुख्य ये थीं—चाण्डाल, वैण, पुक्कस, सूत, अम्बष्ठ, उग्र, निषाद, पारसव, मागध और आयोगव आदि। सूत्रकारों ने इन जातियों को चार वर्णों में से निकालने का यत्न किया है। उदाहरणार्थ उन्होंने चाण्डाल की उत्पत्ति शूद्र पुरुष और ब्राह्मण स्त्री से मानी है। चाण्डाल, वैण, पुक्कस और निषाद का उल्लेख बौद्ध जातकों में भी आया है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ये जातियाँ वास्तव में उन अनार्यों की थीं, जिन्हें आर्यों ने हराया था और जो उस समय तक असभ्य थे।

धर्म-सूत्रों में वेद पढ़ना, यज्ञ करना और दान देना आदि द्विजों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों के लिये कहा गया है। ब्राह्मणों का विशेष कार्य यह था कि वे दूसरों के लिये यज्ञ करते थे, दान लेते थे और वेद पढ़ाते थे। आवश्यकता पड़ने पर वे खेती और व्यापार भी कर सकते थे। मालूम होता है कि परिश्रम के कामों से बचने और दूसरों की आय पर गुजर करने के कारण ब्राह्मण लोग आलसी हो गये थे और विद्याध्ययन से भी मुँह मोड़ने लगे थे। वशिष्ठ ने इस बुराई और अन्याय को असह्य समझकर लिखा है—"राजा को चाहिए कि वह उस गाँव को दण्ड दे, जिसमें ब्राह्मण लोग अपने पवित्र धर्म का पालन नहीं करते, वेद नहीं जानते और भिक्षा माँगकर रहते हैं; क्योंकि ऐसा गाँव लुटेरों का पोषण करता है।" क्षत्रियों का यह विशिष्ट कर्तव्य था कि वे लड़ें, विजय करें और राज्य का काम चलावें। वैश्यों का विशेष कर्तव्य व्यापार और खेती करना था। शूद्र तीनों

जातियों की सेवा करते थे; पर धन कमाने के लिये परिश्रम भी कर सकते थे। उनके लिये वेद पढ़ना मना था।

धर्म-सूत्रों में आठ प्रकार के विवाह लिखे हैं। एक गोत्र में विवाह करना मना था। उन दिनों छोटी उम्र की कन्याओं का विवाह नहीं होता था। वशिष्ठ कहते हैं—"जो कुमारी युवावस्था को प्राप्त हो गई हो, उसे तीन वर्ष तक ठहरना चाहिए। इस के उपरान्त वह अपनी समान जाति के किसी पुरुष से विवाह कर सकती है।" विवाह एक नये जीवन अर्थात् गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने का द्वार समझा जाता था। विवाह के पहले नव-युवक केवल विद्यार्थी होता था।

ब्राह्मण बालक आठ वर्ष से सोलह वर्ष के अंदर, क्षत्रिय बालक ग्यारह वर्ष से बाइस वर्ष के अंदर और वैश्य बालक बारह वर्ष से चौबीस वर्ष के अंदर विद्यारंभ करता था। विद्यार्थी दशा में वह अपने गुरु के घर बारह, चौबीस, छत्तीस या अड़तालीस वर्षों तक अपने इच्छानुसार एक, दो, तीन या चारों वेद पढ़ने के लिये रहता था। उस समय वह सब प्रकार की विलास-सामग्री से दूर रहता था। वह दण्ड और मृगचर्म धारण करता था, भिक्षा माँगकर पेट पालता था; जंगलों से हवन के लिये लकड़ी लाता था; और गुरु के घर का सब काम काज करता था। उस समय ग्रंथ नहीं लिखे जाते थे, इससे शिक्षा जबानी ही दी जाती थी। विद्यार्थी जो कुछ पढ़ते थे, सब कण्ठ कर लेते थे। जब गुरु से पढ़कर वे अपने घर लौटते थे, तब यथाशक्ति उन्हें दक्षिणा देते थे। इसके बाद वे विवाह करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते थे। सूत्रकारों ने गृहस्थों के लिये अपने अतिथियों

का आदर-सत्कार करना सर्वोच्च धर्म लिखा है। गृहस्थाश्रम चारो-आश्रमों में सब से श्रेष्ठ समझा गया है। गृहस्थों के लिये गर्भाधान, पुंसवन, जातकर्म आदि संस्कार, अष्टका, पार्वण, पितृ-श्राद्ध आदि गृह्य कर्म और अग्निहोत्र, अग्निष्टोम आदि श्रौत कर्म लिखे गये हैं।

ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रम के सिवा दो प्रकार के आश्रम और थे—वानप्रस्थ और संन्यास। वानप्रस्थ या वैखानस वनों में रहते थे, कंद-मूल और फल-फूल खाते थे, पवित्रतापूर्वक जीवन बिताते थे, हवन करते थे और सवेरे संध्या सूर्य को अर्घ्य देते थे। इसके विरुद्ध संन्यासी या भिक्षुक सिर मुँड़ाये रहते थे; उनकी कोई संपत्ति या घर नहीं होता था; वे तपस्या करते थे; भिक्षा माँगकर खाते थे; एक वस्त्र या मृगचर्म पहनते थे; भूमि पर सोते थे; और सदा भ्रमण किया करते थे।

—:०:—

बारहवाँ अध्याय

प्राचीन बौद्ध काल की सांपत्तिक अवस्था

प्राचीन बौद्ध काल की सांपत्तिक अवस्था का निम्न लिखित वर्णन जातक, सुत्तपिटक, विनयपिटक, कौटिलीय अर्थशास्त्र और यूनानियों के भारत वृत्तान्त के आधार पर किया गया है। हम पहले पाठकों को ग्रामो की सांपत्तिक स्थिति का दिग्दर्शन कराते हैं।

ग्रामों की सांपत्तिक अवस्था—जातको से प्रकट है कि प्राचीन बौद्ध काल मे जमींदारी की प्रथा नहीं थी। किसान ही अपनी भूमि के मालिक होते थे। राजा साल मे केवल एक बार किसानो से उपज का दशमांश कर के तौर पर वसूल करता था। बस भूमि पर राज्य का इससे अधिक कोई अधिकार न था। जो भूमि स्वामि-रहित हो जाती थी या जिसका कोई मालिक न होता था, वह राजा के अधिकार मे चली जाती थी। इसी तरह से बनभूमि भी राजा की संपत्ति मानी जाती थी; और वह उसका जैसा चाहता था, वैसा प्रबंध करता था। कभी कभी विशेष अवसरों पर, जैसे कि राजकुमार के जन्मोत्सव पर, किसान लोग राजा को धन भेट करते थे। राजा प्राय: ग्राम के आस पास शिकार खेलने जाते थे; इसलिये किसानों को, ग्राम के एक भाग मे, मृगो के लिये चरागाह छोड़ देना पड़ता था, जिसमें उन्हें राजा के लिये शिकार न ढूँढना पड़े। उपज का जो दशमांश राजा को कर रूप में दिया जाता था, उसके मान का निश्चय ग्राम की पंचायत,

ग्राम का मुखिया (ग्राम-भोजक) या राजा के महामात्य करते थे। कभी कभी राजा किसी ग्राम का कर छोड़ भी देता था, या उसे किसी व्यक्ति अथवा संघ के नाम लिख देता था।

यह उन ग्रामों का हाल है, जो राजाओं के अधीन होते थे। पर किसी जातक या बौद्ध ग्रंथ से यह नहीं सूचित होता कि प्राचीन बौद्ध काल के प्रजातन्त्रों या गण राज्यों में भी ग्रामवासियों से इसी प्रकार दशमांश कर वसूल किया जाता था। हाँ, अशोक के रुमिन्देईवाले स्तंभलेख से यह अवश्य सूचित होता है कि कदाचित् शाक्यों के गण-राज्य में इस तरह का कर वसूल किया जाता था। स्वयं अशोक ने लुम्बिनी ग्राम का कर माफ़ कर दिया था। कदाचित् यह कर उस प्राचीन समय से चला आ रहा था, जिस समय लुम्बिनी ग्राम शाक्यों के गण-राज्य मे था। इसी लुम्बिनी ग्राम में या इसके पास भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ था। पर इसके सिवा और कोई ऐसा प्रमाण नहीं है, जिससे कहा जा सके कि शाक्यों, मल्लो, लिच्छवियों, कोलियो आदि के गण-राज्यों में किसानों पर किसी प्रकार का कर लगाया जाता था। परन्तु फिर भी राज-व्यय के लिये किसी न किसी प्रकार का कर अवश्य रहा होगा।

गाँवो में लोग एक साथ रहते थे। गाँवों के सब घर एक दूसरे से मिले रहते थे। बीच बीच मे तंग गलियाँ रहती थीं। जातकों से पता लगता है कि प्रत्येक गाँव में तीस से सौ तक कुटुम्ब रहते थे। जातकों में कई प्रकार के ग्राम लिखे गये हैं; यथा—जानपद ग्राम, जो नगरों के आस पास होते थे; और पच्चन्त (प्रात्यन्त) ग्राम, जो सीमाओं के पास होते थे। ग्रामों के चारो ओर खेत, जंगल और चरागाह होते थे। उन चरागाहों और जंगलों पर सब का

समान अधिकार होता था। चरागाहों में सब लोग अपने गाय-बैल चरा सकते थे; और जंगलों से जलाने की लकड़ी काट सकते थे। गाँव में हर एक गृहस्थ के गाय-बैल अलग अलग होते थे; पर सब के चरने का स्थान एक ही रहता था। जब खेत कट जाते थे, तब चौपाये उनमें चरने के लिये छोड़ दिये जाते थे। पर जब फसल खड़ी रहती थी, तब सब चौपाये एक साथ "गोपालक" की रक्षा में चरागाह में चरने के लिये भेजे जाते थे।

कुल खेत एक ही समय में जोते बोये जाते थे। सिंचाई के लिये ग्राम पंचायत की ओर से नालियाँ या कूएँ खुदवाये जाते थे। गाँव के मुखिया की देख रेख में नियम के अनुसार खेतों में पानी बाँटा जाता था। किसान अपने अपने खेत के चारो ओर अलग अलग मेंड़ या घेरा न बना सकते थे। सिर्फ एक घेरा होता था, जिसके अन्दर गाँव के कुल खेत आ जाते थे। खेत प्रायः उतने ही हिस्सो मे बँटे रहते थे, जितने कि ग्राम में कुटुम्ब होते थे। हर एक कुटुम्ब, फसल कटने पर, अपने हिस्से की पैदावार ले लेता था। कुल खेतों पर पंचायत का अधिकार रहता था। कोई किसान अपने हिस्से का खेत किसी बाहरी के हाथ न तो बेच सकता था, न रेहन रख सकता था। कम से कम बिना ग्राम पंचायत की आज्ञा के वह ऐसा कदापि न कर सकता था। कोई मनुष्य बिना ग्राम पंचायत की आज्ञा लिये हुए अपना खेत किसी के नाम वसीयत न कर सकता था; यहाँ तक कि वह अपने खेत का बँटवारा अपने कुटुम्बवालों में भी न कर सकता था। इस सम्बन्ध के मामले ग्राम पचायत से तै होते थे। किसान की मृत्यु के बाद उसका बड़ा लड़का कुटुम्ब की देख रेख करता था। यदि कुटुम्ब की

संपत्ति का बँटवारा होता था, तो सब पुत्रों में खेत बराबर बराबर बाँट दिये जाते थे। स्त्रियों के आभूषण और वस्त्र उनकी अपनी सम्पत्ति माने जाते थे। लड़कियाँ माता की संपत्ति की अधिकारिणी होती थीं; पर वे खेतों में हिस्सा न पा सकती थीं।

कोई व्यक्ति गाँव के चरागाह या जंगल के किसी हिस्से को मोल लेकर अपने कब्जे में न कर सकता था। उन सब का समान अधिकार माना जाता था। अधिकार की इस समानता पर बड़ा जोर दिया जाता था। गाँव का सब काम पंचायत और मुखिया के द्वारा होता था। गाँववालों से कोई बेगार न ली जाती थी। जब कोई ऐसा काम आ जाता था, जिसमें सब गाँववालों की स्वीकृति की आवश्यकता होती थी, तब वे सब पंचायत या सभा में आकर एकत्र होते थे। पंचायत के लिये एक अलग स्थान नियत रहता था। पंचायत ही सभा-गृह, अतिथिति-शाला, सड़क, आराम, उपवन, कूप इत्यादि बनवाती थी। स्त्रियाँ भी सर्व साधारण के लाभ के कार्यों में सम्मिलित होती थीं।

गाँव का जीवन बहुत सीधा सादा था। गाँववाले न तो बहुत धनी होते थे, और न भूखे ही मरते थे। लोगों को खाने पीने की कमी न थी। उनकी सब आवश्यकताएँ अच्छी तरह से पूरी हो जाती थीं। सब से बड़ी बात यह थी कि कोई उनकी स्वतंत्रता में बाधा डालनेवाला न था। सारांश यह कि उस समय गाँव एक तरह के छोटे मोटे प्रजातंत्र राज्य थे। लोगों का प्रधान उद्यम खेती बारी था और उसी की उपज से वे चैन से रहते थे। गाँवों में जमींदार न होते थे। वहाँ अपराध भी बहुत कम होते थे। जो अपराध होते थे, वे गाँव के बाहर होते थे। मेगास्थिनीज़ ने लिखा

है कि सिंचाई का प्रबन्ध अच्छा होने के कारण अकाल नाम को भी न पड़ता था। पर जातकों में अकाल पड़ने के कई उल्लेख आये हैं।

नगरों की सांपत्तिक अवस्था—प्राचीन बौद्ध काल में नगरों की संख्या बहुत थोड़ी थी। बौद्ध ग्रंथों से पता चलता है कि उन दिनों बड़े बड़े नगरों की संख्या बीस से अधिक न थी। उनमे निम्नलिखित नगरों का उल्लेख आया है—

(१) **अयोज्भा** (अयोध्या)—यह नगर प्राचीन कोशल राज्य में सरयू नदी के तट पर था।

(२) **वाराणसी** (बनारस)—यह नगर गंगा के उत्तरी किनारे पर वरुणा और गंगा के संगम पर था। प्रधान नगर वरुणा और असी के बीच में था। पर जिस समय यहाँ एक स्वतंत्र राज्य की राजधानी थी, उस समय, कहा जाता है कि इसका घेरा बयासी मील तक फैला हुआ था। सारनाथ उस समय वाराणसी में ही सम्मिलित था।

(३) **चम्पा**—यह नगर चम्पा नदी के किनारे पर था। प्राचीन अंग देश की राजधानी यहीं थी। आजकल के भागलपुर से पचीस मील पूरब की ओर जो गाँव हैं, उन्हीं के स्थान पर प्राचीन चम्पा नगर बसा हुआ था।

(४) **कम्पिल्ल** (काम्पिल्य)—यह नगर गंगा के किनारे पर प्रयाग के उत्तर-पश्चिम की ओर था। पर इसका ठीक ठीक स्थान अभी निश्चित नहीं हुआ। उत्तरी पंचाल की राजधानी यहीं थी।

(५) **कोसाम्बी** (कौशांबी)—यह वत्स राजाओं की राजधानी थी और यमुना नदी के किनारे बनारस से २३० मील पर बसी हुई थी। प्राचीन बौद्ध काल में यह बड़े महत्व की नगरी

थी। पश्चिम और दक्षिण की ओर से कोशल और मगध को जो सड़कें जाती थीं, वे यहीं से होकर जाती थीं; अतएव यहाँ व्यापारी और यात्री बहुत आते थे। बुद्ध के समय में कौशांबी के आस पास चार संघाराम थे। बुद्ध भगवान् स्वयं यहाँ रहे थे।

(६) मधुरा (मथुरा)—यह जमुना के तट पर बसी हुई थी और प्राचीन शूरसेन राजाओं की राजधानी थी। बुद्ध के समय में मधुरा का राजा "अवन्ति-पुत्रो" नाम का था। कहा जाता है कि बुद्ध भगवान् स्वयं इस नगरी में पधारे थे।

(७) मिथिला—यह विदेह की राजधानी थी। आजकल के तिरहुत ज़िले में प्राचीन मिथिला नगरी थी। जातकों में लिखा है कि इसका घेरा लगभग पचास मील का था।

(८) राजगृह (वर्तमान राजगिर)—बुद्ध के समय में प्राचीन मगध की राजधानी यहीं थी। इस नगर के दो भाग थे। इसका प्राचीन भाग गिरिव्वज (गिरिव्रज) कहलाता था। गिरिव्रज बहुत प्राचीन नगर था और एक पहाड़ी पर बसा हुआ था। बाद को राजा बिंबिसार ने, जो बुद्ध भगवान् के समकालीन थे, इस प्राचीन नगर को उजाड़कर एक नये राजगृह की नींव डाली। नवीन राजगृह पहाड़ी के नीचे बसाया गया। बुद्ध के समय में यह नगर बहुत उन्नत था। तब तक पाटलिपुत्र की नींव नहीं पड़ी थी।

(९) रोरुक—यहाँ प्राचीन सौवीर या सुराष्ट्र प्रांत की राजधानी थी, जिससे "सूरत" नाम निकला है। प्राचीन बौद्ध काल में यह नगर समुद्री व्यापार का बहुत बड़ा केन्द्र था। मगध तथा भारत के अन्य प्रांतों से यहाँ झुंड के झुंड व्यापारी आते थे।

इसका ठीक ठीक स्थान अभी तक निश्चित नहीं हुआ है; पर यह प्रायः निश्चित सा है कि यह कच्छ की खाड़ी के किनारे पर कहीं था। जब इसका वैभव घटा, तब इसका स्थान भरुकच्छ (वर्तमान भडौच) और सुप्पारक (शूर्पारक) ने ले लिया।

(१०) सागल—प्राचीन समय में यहाँ मद्र राजाओं की राजधानी थी। नकुल और सहदेव की माता माद्री यहीं की थीं। बौद्ध यूनानी राजा मिलिंद की राजधानी भी यहीं थी। इसका ठीक ठीक स्थान तो अभी निश्चित नहीं हुआ, पर यह भारत के उत्तर पश्चिम में कहीं था।

(११) साकेत—यह कोशल देश का प्रधान नगर था। किसी समय यहाँ कोशल की राजधानी भी थी। प्रायः लोग साकेत और अयोध्या को एक ही समझते हैं। पर बुद्ध के समय में ये दोनों नगर अलग अलग विद्यमान थे। शायद ये दोनों पास ही पास थे। प्राचीन साकेत के पास ही वह अंजन वन था, जिसमें बुद्ध भगवान ने अपने बहुत से सिद्धांत सूत्र रूप से कहे थे। यह उन्नाव जिले में सई नदी के किनारे वर्तमान सुजानकोट के पास था।

(१२) सावत्थी (श्रावस्ती)—यह उत्तरी कोशल की राजधानी थी और बुद्ध के समय मे छः बड़े बड़े नगरों मे गिनी जाती थी। राप्ती नदी के किनारे का वर्तमान सहेत महेत ग्राम ही प्राचीन श्रावस्ती माना जाता है।

(१३) उज्जेनी (उज्जयिनी)—यहाँ अवन्ती देश की राजधानी थी। यहीं बुद्ध के एक प्रधान शिष्य कच्चान और अशोक के पुत्र महेन्द्र ने जन्म ग्रहण किया था। इसी के पास प्राचीन विदिशा (वर्त्तमान भिलसा) और माहिष्मती नगरी थी।

(१४) वेसाली (वैशाली)—यहाँ प्राचीन लिच्छवि राज-वंश की राजधानी थी। बुद्ध के समय में यहाँ वृजी लोग रहते थे, जिनसे अजातशत्रु का युद्ध हुआ था। प्राचीन बौद्ध काल में इसका बहुत अधिक महत्व था। पुरातत्त्व विभाग की खोजों से निश्चित हुआ है कि वैशाली वर्त्तमान मुजफ्फरपुर जिले का बसाढ़-नामक गाँव है।

(१५) तक्षशिला—यह बहुत प्राचीन नगर बौद्ध काल में भी वर्त्तमान था। यहाँ एक बहुत बड़ा विश्वविद्यालय था। इस प्राचीन नगर के खँड़हर अब तक मौजूद हैं। रावलपिंडी से बीस मील पर जो सरायकाला स्टेशन है, उससे थोड़ी ही दूर पर ३–४ मील के घेरे में वे सब फैले हुए हैं। प्राचीन काल में यह नगर धन और विद्या दोनों के लिये प्रसिद्ध था।

(१६) पाटलिपुत्र (पटना)—बुद्ध के समय में इस नगर की नींव भी न पड़ी थी। इसकी नींव अजातशत्रु के पोते उदयन ने रखी थी। बढ़ते बढ़ते यह नगर केवल मगध की ही नहीं बल्कि समस्त भारत की राजधानी बन गया था। मौर्य साम्राज्य की राज-धानी यहीं थी। यह सोन और गंगा नदियों के संगम पर बसा हुआ था। इसका दूसरा नाम कुसुमपुर या पुष्पपुर भी था।

जातकों तथा कौटिलीय अर्थशास्त्र से पता लगता है कि प्राचीन बौद्ध काल के नगर चारों ओर चहार-दीवारी से घिरे होते थे। नगर के चारों ओर चार फाटक रहते थे। उन फाटकों से चारों ओर को चार बड़े बड़े राजमार्ग जाते थे। नगर वीथियों (गलियों) और महल्लों में बँटा रहता था। एक एक महल्ले में एक एक पेशे के लोग रहते थे; और वहीं अपनी दूकान या कार-

खाना भी रखते थे। जुलाहों, सुनारों और रँगरेजों के महल्ले अलग अलग होते थे। इसी तरह और सब पेशेवाले भी अलग अलग महल्ले में रहते थे। जातकों से पता लगता है कि बाज़ारों में कपड़े, तेल, साग-भाजी, फल-फूल, सोने-चाँदी के गहने आदि सभी प्रकार के पदार्थ बिकते थे। कौटिलीय अर्थशास्त्र (अधि० २, प्रक० २४) में लिखा है कि प्रत्येक नगर में एक पण्यगृह (बाज़ार) रहता था। यह चौकोर होता था और इसके चारों ओर दूकानें रहती थीं। यह पक्का बना होता था।

अर्थशास्त्र के अनुसार नगर में एक संस्थाध्यक्ष (व्यापार-वाणिज्य का अध्यक्ष) रहता था, जो व्यापारों और व्यापारियों की देख भाल रखता था। यदि कोई व्यापारी पुराना माल बेचने के लिये नगर में लाता था, तो वह तभी बेचने पाता था, जब संस्थाध्यक्ष के सामने यह सिद्ध कर देता था कि माल चोरी आदि का नहीं है। संस्थाध्यक्ष इस बात की भी देख भाल रखता था कि व्यापारी नाप और तौल के बटखरे आदि ठीक ठीक रखते हैं या नहीं (अधि० ४, प्रक० ७७)। जो व्यापारी नाप और तौल में ग्राहकों को ठगता था, उसे दंड दिया जाता था। माल में मिलावट भी न हो सकती थी। मिलावट करने पर जुरमाना देना पड़ता था। संस्थाध्यक्ष यह भी नियम बनाता था कि व्यापारी कितना फी सदी मुनाफ़ा ले सकते हैं। यदि कोई व्यापारी इस नियम का भंग करता था, तो वह दंड पाता था। नगर के फाटक के बाहर एक शुल्कशाला (चुंगी-घर) रहती थी (अधि० २, प्रक० ३९)। जब व्यापारी बाहर से माल लेकर नगर के फाटक पर आते थे, तब शुल्काध्यक्ष (चुंगी के निरीक्षक) अपने कर्म-

चारियों की सहायता से उन सब का नाम धाम, वस्तु का नाम, आने का स्थान आदि लिख लेता था। तब माल पर मुहर लगाई जाती थी; और इसके बाद वे नगर में घुसने पाते थे। अलग अलग चीज़ों के लिये चुंगी की अलग अलग दर नियत थी।

विनयपिटक, जातक और कौटिलीय अर्थशास्त्र से पता लगता है कि नाना प्रकार के सुन्दर, सुखद और सुहावने उद्यान, वापी और तड़ाग नगरों की शोभा बढ़ाते थे। जातकों में "सत्त-भूमक-पासाद" (सप्तभूमिक प्रासाद) का कई बार उल्लेख आया है, जिससे पता लगता है कि उस समय सात सात मंज़िल के मकान भी होते थे। विनयपिटक से पता लगता है कि उस समय स्नानागार (हम्माम) भी बनाये जाते थे, जहाँ जाकर नागरिक लोग मालिश कराते थे और गरम तथा ठंढे जल से स्नान करते थे। सभव है कि तुर्कों ने हम्माम में नहाने की प्रथा यहीं से ली हो। स्नान के लिये जगह जगह बड़े बड़े तालाब भी रहते थे। नगर में जूएखाने या द्यूतगृह भी रहते थे। जूआ कदाचित् पाँसे से खेला जाता था। वेश्याओं के रहने के लिये एक अलग स्थान नियत था। वेश्याओं की देख रेख करनेवाला अफ़सर "गणिकाध्यक्ष" कहलाता था (अधि० २, प्रक० ४४)। नगर में शूना या बूचड़खाने भी होते थे। बूचड़खानों का अफ़सर "शूनाध्यक्ष" कहलाता था (अधि० २, प्रक० ४३)। नगर में हौलियाँ (पानागार) भी होती थीं, जिनमें जाकर नागरिक शराब पीते थे। हौलियाँ कितनी कितनी दूर पर होनी चाहिएँ, उनमें कैसा प्रबंध होना चाहिए और वे कितनी देर से कितनी देर तक खुली रहनी चाहिए, इन सब बातों के भी नियम थे। इस महकमे

का अफ़सर "सुराध्यक्ष" कहलाता था (अधि० २, प्रक० ४२)।

नगर का मजिस्ट्रेट या अध्यक्ष "नागरक" कहलाता था। उसके नीचे "गोप" और "स्थानिक" नाम के अफसर होते थे। वे नगर की देख भाल और प्रबंध करते थे। नागरकों आदि का काम अपने अपने नगर की जन-संख्या की जाँच करना, प्रत्येक घर का आय-व्यय तथा पालतू पशुओं की संख्या जानना, नगर की सफाई रखना आदि था। नगर की सफाई का बड़ा खयाल रक्खा जाता था। यदि कोई मनुष्य सड़क पर कूड़ा कर्कट फेंकता था, तीर्थस्थान, मंदिर, तालाब आदि के पास मलमूत्र का त्याग करता था या श्मशान के अतिरिक्त किसी दूसरे स्थान पर मुरदा जलाता था. तो उसे दण्ड दिया जाता था (अधि० २, प्रक० ५६)।

व्यापार और वाणिज्य—प्राचीन बौद्ध काल में शिल्प-कला और व्यापार बहुत उन्नत अवस्था में थे। उस समय के लोगों ने शिल्प और चित्रकारी में विशेष उन्नति की थी। जातकों से कम से कम अठारह तरह के व्यवसायों का पता लगता है। प्रत्येक व्यवसाय के लोग अपना अपना समाज या श्रेणी बनाकर रहते थे। इन समाजों के मुखिया श्रेणी-प्रमुख कहलाते थे। उस समय दूर दूर के देशों से व्यापार होता था। यहाँ के सौदागर चीन, फ़ारस, लंका तथा बैबिलोनिया तक जाते थे; और वहाँ के सौदागर व्यापार करने के लिये यहाँ आते थे। देश में व्यापार भी खूब होता था। रोज़गार करने के लिये सौदागरों का काफ़िला निकलाता था। काफिले का सरदार "सत्थवाह" (सार्थवाह) कहलाता था। सार्थवाह जैसा कहता था, व्यापारियों का समूह वैसा ही करता था। व्यापारी लोग बैल-गाड़ियों पर अपना माल

लादकर चलते थे, जिनमें दो बैल जुते रहते थे। नावों के द्वारा भी माल एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाया जाता था। बीच बीच मे जहाँ व्यापारियों का समूह किसी नये राज्य या प्रदेश की सीमा में घुसता था, वहाँ उसे एक प्रकार की चुंगी या कर देना पड़ता था। डाकुओं से उनकी रक्षा करने के लिये स्वेच्छा-सेवक पुलिस भी रहती थी। पुलिस का खर्च व्यापारियों को देना पड़ता था। इन सब बातों से मालूम होता है कि एक जगह से दूसरी जगह माल ले जाने में व्यापारियों को बड़ा खर्च पड़ता था।

रेशमी और महीन सूती कपड़े (जैसे मलमल आदि) कम्मल, लोहे के कवच, हथियार और छुरी वगैरह, सोने चाँदी के तारों के काम के कपड़े, सुगन्धित पदार्थ, औषधे, हाथी-दाँत और उससे बनी हुई चीजें, जवाहिरात और सोने के गहने आदि बहुतायत से बिकते थे। ये सब चीजें विदेशों में भी भेजी जाती थीं। पदार्थों के विनिमय की प्रथा धीरे धीरे उठती जा रही थी और सिक्कों का प्रचार अच्छी तरह से हो गया था। सब से साधारण सिक्का ताँबे का "कहापण" (कार्षापण) था। दूसरे प्रकार के सिक्के "निक्क" (निष्क) और "सुवण्ण" (सुवर्ण) थे। ये दोनों सिक्के सोने के थे। "कंस", "पाद", "माष" और "काकणिका" नाम के सिक्कों का भी चलन था। ये सिक्के कदाचित् ताँबे या काँसे के होते थे। "सिप्पिकानि" (कौड़ियों) का भी प्रचार था। विनय पिटक से पता चलता है कि पाँच "माष" एक "पाद" के बराबर होता था और एक "निष्क" में पाँच "सुवर्ण" होते थे। बौद्ध काल के बहुत से प्राचीन सिक्के मिले हैं, जो अंक-चिह्नित (Punch marked) कहलाते हैं। ऐसे सिक्के ढाले नहीं जाते थे। उन पर

बरमे या "पंच" से कुछ चिह्न कर दिये जाते थे। ये सिक्के बहुत अच्छे हैं और भारतवर्ष के सब से प्राचीन सिक्के समझे जाते हैं। इन सिक्कों का प्रचार मौर्य्य काल मे अर्थात् ईसा के पूर्व की तीन चार शताब्दियो में बहुत अधिक था। उस समय हुंडियों का भी चलन था। सौदागर एक दूसरे पर हुंडियाँ काटते थे। हुंडियो का उल्लेख जातकों में बहुत आता है। जातकों से पता लगता है कि चीजों की दर नियत न रहती थी। सौदागरों और खरीदारों मे खूब मोल भाव होने के बाद सौदा पटता था।

सूद खाना बुरा न समझा जाता था। जातकों और बौद्ध ग्रंथों में सूद की दर का कहीं उल्लेख नहीं है। सूद के लिये "बड्ढि" (वृद्धि) शब्द आया है। कौटिलीय अर्थशास्त्र (अधि० ३, प्रक० ६३) में मासिक सूद की दर सवा रुपए सैकड़े लिखी है। मनुस्मृति मे भी यही दर लिखी है और कहा गया है कि इससे अधिक लेनेवाला पाप का भागी है। लोग अपनी रकम या तो घर में रखते थे या जमीन में गाड़ देते थे या किसी मित्र के यहाँ जमा कर देते थे। जो धन जमीन मे गाड़ा जाता था, उसका ब्योरा सुवर्णपत्र या ताम्रपत्र पर लिखकर यादगार के लिये रख छोड़ते थे।

व्यापारिक मार्ग—जातकों और अन्य बौद्ध ग्रन्थों से उस समय के व्यापारिक मार्गों का भी पता लगता है। निम्नलिखित मार्गों से व्यापारी एक जगह से दूसरी जगह आते जाते थे।

(१) उत्तर से दक्षिण-पश्चिम को—यह मार्ग श्रावस्ती से प्रतिष्ठान (पैठान) को जाता था। इस पर साकेत, कौशाम्बी, विदिशा, गोनर्द, उज्जयिनी और माहिष्मती ये छः बड़े नगर पड़ते थे।

(२) उत्तर से दक्षिण पूर्व को—यह मार्ग श्रावस्ती से राज-

गृह को जाता था। यह मार्ग सीधा न था, बल्कि पहाड़ की तराई से होकर जाता था। इस पर कपिलवस्तु, कुसिनारा, पावा, हत्थि-गाम, भण्डगाम, वैशाली, पाटलिपुत्र और नालन्द पड़ते थे। यह मार्ग कदाचित् गया तक चला जाता था; और वहाँ जाकर एक दूसरी सड़क से मिलता था, जो कदाचित् समुद्र के किनारे पर बसे हुए ताम्रलिप्त (तामलूक) नगर से बनारस को जाती थी।

(३) **पूर्व से पश्चिम को**—पूर्व से पश्चिम का रास्ता प्रायः नदियों के द्वारा था। गंगा में सहजाति तक और यमुना में कौशाम्बी तक व्यापारियों की नावें चलती थीं। वहाँ से वे खुश्की के रास्ते सिन्ध और सौवीर (सूरत) तक जाते थे।

(४) **पूर्व से उत्तर-पश्चिम को**—एक मार्ग श्रावस्ती या विदेह से तक्षशिला होता हुआ सीधा गन्धार को जाता था। यह आगे जाकर उस सड़क से मिल जाता था, जो गन्धार से मध्य तथा पश्चिमी एशिया को जाती थी। इस मार्ग की एक शाखा बनारस भी जाती थी। यह मार्ग लगभग एक हजार मील लम्बा था। प्राचीन बौद्ध काल में यह मार्ग बहुत सुरक्षित रहता था। इस पर चोरी या डाके का कोई डर न था। जातकों से पता लगता है कि ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बालक इस पर बड़ी बड़ी यात्राएँ बिना किसी भय के अकेले करते थे; और विद्या पढ़ने के उद्देश्य से बहुत दूर दूर से तक्षशिला में आते थे।

इनके सिवा व्यापारियों का मगध से सौवीर (सूरत) को, भरुकच्छ (भड़ौच), बनारस और चम्पा से बरमा को और दक्षिण से बावेरु (बैबिलोन) को जाना भी लिखा है। चीन के साथ व्यापार का उल्लेख पहले पहल "मिलिन्द पन्हो" में मिलता है।

रेगिस्तानों में लोग रात को सफ़र करते थे और नक्षत्रों के सहारे रास्ता ठीक रखते थे। लंका का नाम नहीं आया है। ताम्रपर्णी द्वीप का उल्लेख आया है, जिससे लंका का तात्पर्य समझ पड़ता है। नदियों पर पुल न होते थे। लोग नावों पर नदी पार करते थे।

कौटिलीय अर्थशास्त्र (अधि० ७, प्रक० ११७) में भी वारिपथ (जल मार्ग) और स्थलपथ (स्थल मार्ग) का उल्लेख आया है। कौटिल्य ने जल मार्ग की अपेक्षा स्थल मार्ग को अच्छा कहा है। इसी तरह उनके मत से उत्तर की ओर जानेवाले मार्ग की अपेक्षा दक्षिण की ओर जानेवाला मार्ग अधिक अच्छा है। इससे मालूम होता है कि उन दिनो दक्षिण मे अधिक व्यापार होता था। कौटिल्य ने व्यापारिक मार्ग (Trade route) को "वणिक्पथ" कहा है।

समुद्री व्यापार—जातकों मे जहाजो, समुद्र-यात्रा और भारत-वासियो के अन्य देशों से संसर्ग के बारे मे बहुत कुछ उल्लेख है। "बावेरु जातक" में लिखा है कि उस प्राचीन समय मे भी भारतवर्ष और बावेरु (बैबिलोन) के बीच व्यापार होता था। हिदू सौदागर भारत से बावेरु देश को मोर बेचने जाया करते थे। जातको से यह भी प्रकट होता है कि ईसा के छः सौ वर्ष पूर्व गुजरात के सौदागर जहाजों के द्वारा व्यापार के लिये ईरान की खाड़ी तक जाते थे। जातको मे इसी प्रकार की और बहुत सी बातें मिलती हैं: पर "सुप्पारक जातक" मे इस विषय की एक बात बहुत महत्व की है। उसमें एक इतने बड़े जहाज़ का जिक्र है, जिसमें सात सौ सौदागर, अपने नौकरों सहित, बैठे थे। उस जहाज का अध्यक्ष एक अंधा मल्लाह था। वह भरुकच्छ (भड़ौच) से रवाना हुआ था। उसे बड़े बड़े तूफानो का सामना करना

पड़ा था। भारतीय जहाज़ कच्छ की खाड़ी की ओर से अरब, फिनीशिया और मिस्र भी जाया करते थे। काशी से भी गंगा के द्वारा बंगाल की खाड़ी में जहाज़ पहुँचते थे और वहाँ से लंका तथा बरमा जाते थे। राइज़ डेविड्स का कथन है कि ईसा के पाँच सौ वर्ष पहले यूनान में चावल, चन्दन और मोर हिंदुस्तानी नामों से विख्यात थे।

मौर्य वंश के राजाओं के समय और विशेष कर सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में यहाँ जहाज़ों का काम बहुत अधिक होता था। जब यूनानी लोगों ने भारत पर चढ़ाई की थी, तब उन्होंने हमारे जहाज़ों और नावों से ही काम लिया था। यहीं के जहाज़ों तथा बड़ी बड़ी नावों द्वारा सिकन्दर ने सिन्धु और अन्य नदियाँ पार की थीं और वहाँ से वह फारस की खाड़ी होता हुआ बैबिलोन पहुँचा था। यूनानी इतिहासकारों ने लिखा है कि सिकंदर के इस भारतीय बेड़े में २००० जहाज़ थे, जिन पर ८००० सिपाही थे। यह बेड़ा सिन्धु नदी के संगम पर भारतीय कारीगरों ने भारत की ही लकड़ी तथा कील-काँटों से बनाया था। एरियन ने लिखा है कि मैंने स्वयं भारतवर्ष में जहाज़ बनाने के बड़े बड़े कारखाने देखे हैं।

चन्द्रगुप्त की राज्य-व्यवस्था में एक नाविक विभाग (Board of Admiralty) भी था, जिसमें लड़ाकू जहाज़ों का महकमा (Naval Department) भी सम्मिलित था। इस विभाग के द्वारा जहाज़ों का प्रबंध होता था। कौटिलीय अर्थशास्त्र (अधि० २, प्रक० ४५) में जहाज़ों के प्रबंध का, उन पर लगे हुए कर का और उसके वसूल करने का पूरा पूरा हाल दिया है। उसी में

जहाज़ों के कर्मचारियों के नाम और काम भी लिखे हैं। नाविक विभाग का अफसर "नावध्यक्ष" कहलाता था। वह समुद्रों तथा नदियों मे चलनेवाले सब प्रकार के जहाज़ों और नावों की देख भाल करता था। किन किन लोगों से जहाज़ों और नावों द्वारा यात्रा करने में कर न लिया जाय, इसका विचार भी वही करता था। इन सात प्रकार के आदमियों से कर न लिया जाता था—ब्राह्मण, साधु, बालक, वृद्ध, रोगी, सरकारी दूत और गर्भवती स्त्री। कर वसूल करना, तूफान वगैरह के समय जहाजों की रक्षा करना और यात्रियों के सुभीते के लिये नियम बनाना भी नावध्यक्ष का ही काम था। तूफान से टूटे फूटे जहाज़ों की देख भाल तत्काल ही होती थी। जिस जहाज को तूफान से तनिक भी हानि पहुँचती थी, उससे माल का कर न लिया जाता था या उसका आधा कर माफ कर दिया जाता था। जहाज़ के कप्तान को "शासक" और जहाज़ खेनेवाले माझी को "नियामक" कहते थे। डाकू भी जहाजों के द्वारा डाका डालते थे। ऐसे जहाज़ों को "हिंस्त्रिका" कहते थे। ऐसे जहाज़ों को नष्ट करना भी "नावध्यक्ष" का ही काम था।

अशोक के समय में भी जहाज़ों की बड़ी उन्नति थी। इसी कारण अशोक के भेजे हुए धर्म-प्रचारक दूर दूर के सीरिया, मिस्र, साइरीनी, मेसिडोनिया और एपिरस नामक पाश्चात्य देशों में तथा लंका में बौद्ध धर्म का प्रचार करने और भारत की कीर्ति-पताका फहराने में समर्थ हुए थे।

व्यापारियों में सहयोग—प्राचीन बौद्ध काल में हर व्यापार और हर पेशे के लोग आपस में सहयोग करके समाज या श्रेणी

बनाते थे। उन दिनों बिना आपस में सहयोग किये व्यापारियों का काम भी न चल सकता था। चोर डाकुओं से वे अकेले अपनी रक्षा न कर सकते थे। चोर और डाकू दल बाँधकर चोरी करने और डाका डालने के लिये निकलते थे। उनके अत्याचारों से बचने के लिये व्यापारियों को भी समूह बनाकर यात्रा करनी पड़ती थी। डाकुओं के दलों का हाल जातकों में प्रायः मिलता है। "सत्तिगुम्ब जातक" में एक ऐसे गाँव का उल्लेख है, जिसमें पाँच सौ डाकू एक मुखिया के नीचे दल बाँधकर रहते थे। इस तरह के दलबन्द डाकुओं का मुकाबला व्यापारी और पेशेवाले तभी कर सकते थे, जब वे भी समाज या श्रेणी बना कर एक दूसरे की सहायता करते। ऐसे समाजों या श्रेणियों का उल्लेख जातकों में कई जगह आया है।

हर एक पेशेवाले के अलग समुदाय को "श्रेणी" कहते थे। श्रेणी का उल्लेख केवल बौद्ध ग्रन्थों में ही नहीं, बल्कि सूत्रों, स्मृतियों और प्राचीन शिलालेखों में भी आया है। प्रायः जितने प्रकार के व्यवसायी और व्यापारी थे, सब श्रेणी-बद्ध थे। "मूगपक्ख जातक" में अठारह श्रेणियों के नाम आये हैं। इससे मालूम होता है कि प्राचीन बौद्ध काल में साधारण तौर पर अठारह प्रकार के व्यवसाय और व्यापार होते थे। ये अठारह प्रकार के व्यवसाय कौन थे, इसका निश्चय करना संभव नहीं है। पर सब ग्रंथों में जितने प्रकार के व्यवसायों का उल्लेख आया है, उन सब का संग्रह करने से अठारह से अधिक व्यवसायों का पता लगता है। इस तरह से संग्रह किये हुए व्यवसायों के नाम इस प्रकार हैं—(१) वड्ढकि (वर्धकी) अर्थात् बढ़ई, जिनमें

हर प्रकार की गाड़ियाँ, पहिए, जहाज, नावें आदि बनानेवाले तथा हर प्रकार का काठ का काम करनेवाले कारीगर शामिल थे; (२) कम्मार (कर्मकार), जिनमें लोहे, चाँदी, सोने, ताँबे आदि हर प्रकार की धातु का काम करनेवाले कारीगर शामिल थे; (३) चर्मकार (चमड़े का काम करनेवाले); (४) रंगरेज; (५) हाथीदाँत का काम करनेवाले; (६) जौहरी; (७) मछुए; (८) कसाई; (९) संवाहक (मालिश करनेवाले) या नाई; (१०) माली; (११) मल्लाह; (१२) टोकरे बनानेवाले; (१३) चित्रकार; (१४) जुलाहे; (१५) कुम्हार; (१६) तेली; (१७) अन्न बेचनेवाले; (१८) किसान; (१९) संगतराश (पत्थर पर नकाशी करनेवाले); (२०) डाकू और लुटेरे; (२१) हाथीसवार; (२२) घुड़-सवार; (२३) रथी; (२४) धनुर्धारी; (२५) पाचक; (२६) धोबी; और (२७) बाँस की चीजें बनानेवाले। इनमें से प्रत्येक का समाज या श्रेणी अलग अलग थी।

ऊपर जो पेशे दिये गये हैं, उनमें से कुछ तो पुश्तैनी थे और कुछ हर एक जाति के लोग कर सकते थे। जो पेशे पुश्तैनी थे, उनके समाज या श्रेणियाँ औरों की अपेक्षा अधिक सुसंघटित थीं। हर एक श्रेणी का अगुआ "जेट्ठक" (ज्येष्ठक) कहलाता था। प्रायः एक श्रेणी के लोग एक ही जगह पर रहते थे; और वह स्थान, ग्राम या महल्ला उन्हीं के नाम से पुकारा जाता था। यथा—"दन्तकार वीथी" (हाथीदाँत का काम करनेवालों की गली); "वड्ढिकि गामो" (बढ़इयों का गाँव); "कम्मार गामो" (सुनारों का गाँव) आदि। कभी कभी ये गाँव बहुत बड़े होते थे और उनमें एक ही पेशे के कई हजार लोग बसते थे। जातकों

से सूचित होता है कि उस समय इन श्रेणियों का महत्व बहुत बढ़ा हुआ था। इन श्रेणियों के मुखियों को प्राय: राज्य में ऊँचा पद मिलता था और राजा तथा धनी लोग उनकी बड़ी प्रतिष्ठा करते थे। श्रेणी का अपने सदस्यों पर कितना अधिकार था, यह इसी बात से सूचित होता है कि वह उन व्यक्तियों के घरेलू या पति-पत्नी के झगड़ों का भी निबटारा करती थी। कोई मनुष्य अपनी श्रेणी या पचायत के विरुद्ध न जा सकता था।

कौटिलीय अर्थशास्त्र से श्रेणियों के बारे में बहुत सी बातें विदित होती हैं। अर्थशास्त्र (अधि० २, प्रक० २५) में लिखा है कि गणनाध्यक्ष (आय व्यय का लेखा रखनेवाले) को चाहिए कि वह "संघात" या श्रेणी के रीति रिवाज, व्यवहार और उनके संबंध की हर एक बात अपनी बही में दर्ज करे।

श्रेणी के आपस के मुकदमों में राज्य की ओर से खास रिआयत की जाती थी (अधि० ३, प्रक० ५७)। उन व्यारियों के साथ भी खास रिआयत की जाती थी, जो किसी श्रेणी के सभासद होते थे। जब कोई नया नगर बसाया जाता था, तब उसमे श्रेणियो के लिये एक अलग स्थान दिया जाता था। इससे पता लगता है कि उस समय श्रेणियों का कितना महत्त्व था (अधि० २, प्रक० २२)। राज्य की ओर से यह नियम था कि किसी गाँव में उस ग्राम की श्रेणी के सिवा और कोई बाहरी श्रेणी आकर व्यापार न कर सकती थी (अधि० २, प्रक० १९)। कौटिलीय अर्थशास्त्र (अधि० ९, प्रक० १३८) में श्रेणी-बल का भी उल्लेख है। जो सेना श्रेणियों में से भर्ती की जाती थी, वह "श्रेणी-बल" कहलाती थी। काम्भोज और सुराष्ट्र के कुछ क्षत्रियों की श्रेणियाँ

ऐसी थीं, जो व्यापार और शस्त्र दोनों से अपनी जीविका चलाती थीं; अर्थात् वे क्षत्रिय और वैश्य दोनों का कार्य करती थीं (अधि० ११, प्रक० १६०)। कौटिलीय अर्थशास्त्र के इन उल्लेखों से पता चलता है कि प्राचीन समय में सहयोग का प्रचार कितना अधिक था; और राजा तथा प्रजा दोनों में श्रेणी अथवा संघ की प्रतिष्ठा कितनी अधिक थी। यह भी सूचित होता है कि उन दिनों भारतवासी मिलकर काम करना अच्छी तरह जानते थे।

जातकों से पता लगता है कि उस समय व्यापारी लोग साझे में भी काम करते थे। "चुल्लसेट्ठि जातक" में लिखा है कि बनारस के सौ सौदागरों ने आपस में साझा करके एक जहाज का माल खरीदा था। "कूटवनिज जातक" में लिखा है कि दो सौदागर आपस में साझा करके ५०० गाड़ियों पर माल लादकर बनारस से बेचने के लिये रवाना हुए थे। "सुहनु जातक" में लिखा है कि उत्तर के घोड़े बेचनेवाले सौदागर एक साथ मिलकर रोजगार करते थे। "बावेरु जातक" में लिखा है कि यहाँ के सौदागर लोग एक साथ जाकर बावेरु में व्यापार करते थे और भारतवर्ष के विचित्र पक्षी बड़े दाम पर बेचते थे। "महावणिक जातक" में भी लिखा है कि कई सौदागर एक साथ मिलकर साझे में सौदा बेचते थे। कौटिलीय अर्थशास्त्र (अधि० ३, प्रक० ६६) में भी साझे में काम करने की प्रथा का वर्णन है। इस तरह के काम करने को "संभूय-समुत्थान" कहते थे।

तेरहवाँ अध्याय

प्राचीन बौद्ध काल का साहित्य

भाषा और अक्षर—गौतम बुद्ध ने किस भाषा में अपने धर्म का प्रचार किया होगा, इसका अनुमान हम अशोक के शिलालेखों से कर सकते हैं। उन शिलालेखों से हम यह भी अनुमान कर सकते हैं कि बुद्ध से अशोक के समय तक अर्थात् ई० पू० छठी शताब्दी से ई० पू० तीसरी शताब्दी तक भारतवर्ष की बोलचाल की भाषा कौन थी। अशोक के लेख निस्संदेह उसी भाषा में हैं, जिसे उसके समय में लोग बोलते और समझते थे। अशोक के लेखों से सूचित होता है कि प्राचीन बौद्ध काल की राष्ट्रीय भाषा संस्कृत कदापि न थी। संस्कृत तो केवल थोड़े से पढ़े लिखे लोग और ब्राह्मण ही समझते थे।

अशोक के शिलालेखों से विदित होता है कि प्राचीन बौद्ध काल में हिमालय से विन्ध्य पर्वत तक और सिन्धु से गंगा तक उत्तरी भारत की भाषा प्रायः एक ही थी। पर इन लेखों में प्रांत-भेद के अनुसार कुछ भेद भी थे। इन भेदों से पता लगता है कि उस समय प्रायः तीन प्रकार की भाषाएँ बोली जाती थीं। इन्हें हम पंजाबी या पश्चिमी भाषा, उज्जैनी या मध्य देश की भाषा और मागधी या पूर्वी भाषा कह सकते हैं।

पश्चिमी या पंजाबी भाषा अन्य भाषाओं की अपेक्षा संस्कृत से बहुत मिलती जुलती थी। उसमें "प्रियदर्शी", "श्रमन" आदि

शब्दों में "र" होता था; उसमें "श, ष, स" भी रहते थे; और उसके शब्दों के रूप संस्कृत शब्दों के रूपों से अधिक मिलते जुलते होते थे। उज्जैनी या मध्य देश की भाषा में "र" और "ब" दोनों होते थे। पर मागधी या पूर्वी भाषा में "र" के स्थान पर सदा "ल" बोला जाता था; जैसे,—राजा के स्थान पर लाजा। इन प्रान्तिक भेदों से सूचित होता है कि अशोक के समय में प्रान्तीय भाषाओं के साथ साथ एक ऐसी भाषा भी प्रचलित थी, जिसे सब प्रांत के शिक्षित समझ सकते थे। यही भाषा उस समय की राष्ट्रीय भाषा थी। अशोक के साम्राज्य का शासन कार्य इसी भाषा में होता था। गौतम बुद्ध के समय में भी कुछ इसी तरह की भाषा प्रचलित थी; क्योंकि ई० पू० ४८७ से (जब कि गौतम बुद्ध का निर्वाण हुआ) ई० पू० २३२ तक (जब कि अशोक की मृत्यु हुई) बोलने की भाषा में बहुत अधिक अन्तर नहीं हो सकता था। अतः उन दिनों इसी भाषा के भिन्न भिन्न रूप बोले जाते थे।

अब हम प्राचीन बौद्ध काल के अक्षरों के बारे मे कुछ लिखना चाहते हैं। भारतवर्ष के सब से प्राचीन अक्षर जो अब तक मिले हैं, अशोक के शिलालेखों के अक्षर हैं, जो ईसा के पूर्व तीसरी शताब्दी मे लिखे गये थे। ये शिला-लेख दो जुदा जुदा अक्षरों में हैं। एक तो आजकल की अरबी लिपि की तरह दाहिनी ओर से बाईं ओर को और दूसरे आधुनिक देवनागरी लिपि की तरह बाईं ओर से दाहिनी ओर को लिखे जाते थे। पहले प्रकार के अक्षर "खरोष्ठी" और दूसरे प्रकार के "ब्राह्मी" कहलाते थे। "खरोष्ठी" अक्षर प्राचीन एरमेइक (Aramaic) लिपि से निकले थे। ईसा पूर्व छठी और पाँचवीं शताब्दियों में

पंजाब और पश्चिमोत्तर सीमा पर फारस का अधिकार था; इसलिये खरोष्ठी लिपि का प्रचार कदाचित् पहले पहल वहीं हुआ होगा। पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त के मानसेहरा और शहबाजगढ़ी नामक दो स्थानों पर अशोक के चतुर्दश शिलालेख इसी लिपि में हैं। उसके बाक़ी और लेख प्राचीन ब्राह्मी लिपि में मिलते हैं। यही वह लिपि है, जिससे देवनागरी तथा उत्तरी और पश्चिमी भारत की वर्तमान लिपियाँ निकली हैं।

ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों के अलग अलग विचार हैं। किसी का मत है कि यह लिपि फिनीशयन लिपि से, किसी का मत है कि सेमेटिक लिपि से और किसी का मत है कि अरमनी या मिस्री लिपि से निकली है। केवल कनिंघम साहेब ने इसे भारत की प्राचीन चित्र-लिपि (Hieroglyphics) का विकृत रूप कहा है। कुछ वर्ष हुए, पं० श्यामशास्त्री ने "इंडियन एंटिकेरी" (भाग ३५) मे यह निश्चित किया था कि भारतवर्ष की प्राचीन ब्राह्मी लिपि में अक्षरों की आकृतियाँ तंत्रों से ली गई हैं। ब्राह्मी अक्षरो की उत्पत्ति चाहे जहाँ से हो, पर इसमें कोई संदेह नहीं कि प्राचीन बौद्ध काल में लिखने का रवाज काफ़ी था। बौद्ध ग्रंथो से यह बात पूरी तरह से सिद्ध होती है *।

---

* ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति के बारे में निम्न-लिखित ग्रंथ देखने योग्य हैं—

(१) राइज डेविड्स—"बुद्धिस्ट इंडिया"।

(२) पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा—"प्राचीन लिपि-माला"।

(३) पं० श्यामशास्त्री का लेख—"इंडियन एन्टिकेरी", ३५ वाँ भाग।

(४) ब्यूलर—"ओरिजिन आफ दि ब्राह्मी लिपि"।

(५) ब्यूलर—"इंडियन पेलियोग्राफ़ी"।

प्राचीन बौद्ध काल का पाली साहित्य—बुद्ध के निर्वाण के बाद बौद्ध संघ में मतभेद हो जाने के कारण मगध की राजधानी राजगृह में पाँच सौ भिक्षुओं की एक सभा हुई। यह सभा लगातार सात महीनों तक होती रही। इसमें बुद्ध भगवान् के विनय और धर्म सम्बन्धी उपदेश संगृहीत किये गये। इसके सौ वर्ष बाद, अर्थात् ई० पू० ३८७ में, एक दूसरी सभा वैशाली में हुई, जिसका मुख्य उद्देश्य उन दस प्रश्नों का निर्णय करना था, जिनके बारे में मतभेद हो गया था। इस सभा में बुद्ध भगवान् के सिद्धान्तों की पुनरावृत्ति की गई। इसके १३५ वर्ष बाद सम्राट् अशोक ने बौद्ध धर्म के ग्रन्थों अर्थात् "त्रिपिटक" का रूप अन्तिम बार निश्चित करने के लिये ई० पू० २४२ के लगभग पटने में एक तीसरी सभा की; और भिक्षुओं को विदेशों में भेजकर बौद्ध धर्म का प्रचार कराया। कहा जाता है कि अशोक ने लंका में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिये अपने पुत्र महेन्द्र को वहाँ के राजा तिष्य के पास भेजा। महेन्द्र अपने साथ बहुत से ऐसे भिक्षु भी लेता गया था, जिन्हें त्रिपिटक कण्ठाग्र थे। इस प्रकार लंका में वे त्रिपिटक पहुँचे, जो पटने की सभा में निश्चित हुए थे। इसके लगभग डेढ़ सौ वर्ष बाद, अर्थात् ई० पू० ८० के लगभग, ये पिटक लंका में लिपिबद्ध किये गये।

इन बातों से प्रकट है कि तीनों पिटक ई० पू० २४२ से बहुत पहले के हैं। वास्तव में विनयपिटक मे इस बात के भीतरी प्रमाण मिलते हैं कि इस पिटक के मुख्य मुख्य भाग वैशाली की सभा के पहले के अर्थात् ई० पू० ३८७ से भी पहले के हैं; क्योंकि विनयपिटक के मुख्य मुख्य भागों में उपर्युक्त दस प्रश्नों के

वाद विवाद का कोई उल्लेख नहीं है। इस प्रकार इन पिटकों से हमें गौतम बुद्ध के बाद की कुछ शताब्दियों की बातों का प्रामाणिक इतिहास मिलता है; क्योंकि तीनों पिटक बुद्ध के निर्वाण के बाद सौ या दो सौ वर्ष के अन्दर निश्चित और क्रम-बद्ध हुए थे।

ये तीनों पिटक "सुत्त-पिटक", "विनय-पिटक" और "अभिधम्म-पिटक" के नाम से प्रसिद्ध हैं। "सुत्त-पिटक" में जो बातें हैं, वे स्वयं गौतम बुद्ध की कही हुई मानी जाती हैं। इस पिटक के सब से प्राचीन भागों में उनके सिद्धान्त उन्हीं के शब्दों में कहे गये हैं। इसमें कहीं कहीं उनके किसी चेले की भी शिक्षा दी है; और उसमें यह प्रकट करनेवाले भी कुछ वाक्य मिलते हैं कि कहाँ बुद्ध के वाक्य हैं और कहाँ उनके शिष्य के हैं। पर समस्त सुत्तपिटक में बुद्ध के सिद्धान्त और उनकी आज्ञाएँ स्वयं उन्हीं के शब्दों में कही हुई मानी जाती हैं।

"विनय-पिटक" में भिक्षुओं और भिक्षुनियों के आचरण सम्बन्धी नियम बहुत विस्तार के साथ दिये गये हैं। जब भिक्षुओं और भिक्षुनियों की संख्या बढ़ने लगी, तब "विहार" अर्थात मठ में उनके उचित आचरण के लिये प्राय: सूक्ष्म से सूक्ष्म विषयों पर भी बड़े कड़े नियम बनाने की आवश्यकता हुई। अपना मत प्रकट करने के उपरान्त बुद्ध पचास वर्ष तक जीवित रहे; अत: इसमें सन्देह नहीं कि इनमें से बहुत से नियम उन्हीं के निश्चित किये हुए हैं। बहुत से नियम उनके निर्वाण के बाद के भी हैं, पर विनय-पिटक में वे सब उन्हीं के बनाये हुए कहे गये हैं।

"अभिधम्म-पिटक" में भिन्न भिन्न विषयों पर शास्त्रार्थ हैं; अर्थात् भिन्न भिन्न लोकों में जीवन की अवस्थाओं, शारीरिक गुणों,

तत्त्वों और अस्तित्व के कारणों आदि पर विचार किया गया है।

अब हम क्रम से (१) सुत्त-पिटक, (२) विनय-पिटक और (३) अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थों की सूची देते हैं।

(१) सुत्त-पिटक

सुत्तपिटक के निम्नलिखित पाँच "निकाय" या विभाग हैं—

(१) दीघ निकाय, अर्थात् बड़े ग्रन्थ, जिनमें ३४ सूत्र हैं।

(२) मज्झिम निकाय, अर्थात् मध्यम ग्रन्थ, जिनमें मध्यम विस्तार के १५२ सूत्र हैं।

(३) संयुक्त निकाय, अर्थात् संबद्ध ग्रन्थ, जिनमें एक दूसरे से सम्बद्ध पुरुषों या विषयों के १५६ सूत्रों का संग्रह है।

(४) अंगुत्तर निकाय, अर्थात् ऐसे ग्रन्थ जिनमें कई भाग हैं और प्रत्येक भाग का बराबर विस्तार होता गया है।

(५) खुद्द निकाय अर्थात् छोटे ग्रन्थ, जिनमे ये १५ ग्रन्थ हैं—

(१) "खुद्दकपाठ" अर्थात् छोटे छोटे वचन। (२) "धम्मपद" जिसमें धार्मिक आज्ञाओं का संग्रह है। (३) "उदान" जिसमें ८२ छोटे छोटे पद्य हैं। कहा जाता है कि इन्हे गौतम बुद्ध ने भिन्न भिन्न समयों मे बड़े भाव में भरकर कहा था। (४) "इतिवुत्तक" अर्थात् बुद्ध की कही हुई ११० बातें। (५) "सुत्त-निपात" जिसमे ७० उपदेश-प्रद पद्य हैं। (६) "विमानवत्थु" जिसमें स्वर्गीय विमानों की कथाएँ हैं। (७) "पेतवत्थु" जिसमें प्रेतों का विषय है। (८) "थेरगाथा" जिसमें भिक्षुओं के पद्य हैं। (९) "थेरी गाथा" जिसमें भिक्षुनियों के पद्य हैं। (१०) "जातक" जिसमें बुद्ध के पूर्व-जन्मों की लगभग ५५० कथाएँ हैं। (११) "निद्देस" जिसमें

सुत्तनिपात पर सारिपुत्त का भाष्य है। (१२) "परिसंभिदा" जिसमें अन्तर्ज्ञान का विषय है। (१३) "अपदान" जिसमें अर्हतों की कथाएँ हैं। (१४) "बुद्धवंश" जिसमें गौतम बुद्ध तथा उनके पहले के चौबिस बुद्धों के जीवन-चरित्र हैं। और (१५) "चरिया पिटक" जिसमें गौतम के पूर्व जन्मों के सुकर्मों का वर्णन हैं।

(२) विनय पिटक

विनय पिटक निम्न लिखित तीन भागों में विभक्त है—

(१) विभंग—डाक्टर ओल्डेनबर्ग और राइज डेविड्स साहब का मत है कि यह "पातिमोक्ख" का केवल विस्तृत पाठ है; अर्थात् "भाष्य सहित पातिमोक्ख" है। "पातिमोक्ख" में पापों और उसके दण्डों का सूत्र रूप में संग्रह है, जिसका पाठ प्रत्येक अमावास्या और पूर्णिमा को किया जाता था। लोग मानते हैं कि किया हुआ पाप स्वीकार करने पर भिक्षु उससे मुक्त हो जाता है।

(२) खन्दक—इसमे "महावग्ग" और "चुल्लवग्ग" हैं। "महावग्ग" में बुद्ध की कथा, उनका प्रथम उपदेश और राहुल की दीक्षा आदि का वर्णन है। "चुल्लवग्ग" में अनाथपिडिक तथा देवदत्त की कथाएँ और भिक्षुनी संघ की स्थापना आदि का वर्णन है।

(३) परिवार पाठ—यह विनय-पिटक के पूर्व भागों का बाद-वाला संस्करण और परिशिष्ट है। यह अशोक के समय में बना था। दीपवंश में लिखा है कि अशोक का पुत्र महेंद्र इसे लंका ले गया था।

(३) अभिधम्म पिटक

अभिधम्म पिटक में निम्नलिखित ग्रंथ सम्मिलित हैं—

(१) धम्मसंगनी—इसमें भिन्न भिन्न लोगों के जीवन का वर्णन है।

(२) विभंग—इसमें शास्त्रार्थ की १८ पुस्तकें हैं।

(३) कथावत्थु—इसमें विवाद के १००० विषय हैं।

(४) पुग्गल पन्नत्ति—इसमें शारीरिक गुणों का वर्णन है।

(५) धातुकथा—इसमें तत्त्वों का वर्णन है।

(६) यमक—इसमें एक दूसरे से भिन्न या मिलती हुई बातों का वर्णन है।

(७) पट्ठान—यह अस्तित्व के कारणों के विषय में है।

ऊपर संक्षेप में तीनों पिटकों के विषयों का वर्णन किया गया है। ये तीनों पिटक बुद्ध का जीवनचरित्र, उनके कार्य तथा बौद्ध कालीन भारतवर्ष का इतिहास जानने के लिये बहुत उपयोगी हैं। यद्यपि जिस समय ये तीनों पिटक निश्चित और संगृहीत किये गये. उस समय लोग लिखना जानते थे, तथापि उसके बाद सैकड़ों वर्षों तक वे केवल कण्ठाग्र रखकर रक्षित किये गये। दीपवंश (२०. २०-२१) में लिखा है—"तीनों पिटकों और उनके भाष्यों को भी प्राचीन समय के बुद्धिमान् भिक्षुओं ने केवल मुख द्वारा शिष्यों को सिखलाया।" अतः ई० पू० ८० के लगभग तीनों पिटक पहली बार लिपिबद्ध किये गये थे।

प्राचीन बौद्ध काल का संस्कृत साहित्य—संस्कृत साहित्य का सूत्र काल और प्राचीन बौद्ध काल प्रायः एक ही है। प्राचीन बौद्ध काल ई० पू० छठी शताब्दी से ई० पू० २०० तक माना जाता है। इसी तरह सूत्र काल भी ई० पू० ६०० या ७०० से ई० पू० २८० तक माना गया है। इस काल के पहले हिंदुओं के अपौरुषेय ग्रंथ अर्थात् वेद, ब्राह्मण. आरण्यक और उपनिषद् रचे जा चुके थे। ब्राह्मणों में अब तक लेखन-कला का

प्रचार नहीं हुआ था, जिससे ये सब ग्रंथ कई शताब्दियों तक केवल स्मरण शक्ति के द्वारा ही सुरक्षित रक्खे गये। पर ज्यों ज्यों ग्रंथों की संख्या तथा आकार बढ़ते गये, त्यों त्यों उन्हें सुरक्षित रखने की कठिनता भी बढ़ने लगी। इसलिये शास्त्रों और सब ग्रन्थों को संक्षिप्त से संक्षिप्त रूप मे लाने की आवश्यकता हुई। इन्हीं परम संक्षिप्त लेखों को सूत्र कहते हैं। इस काल में सूत्र-ग्रन्थ अधिकता से बने; इसलिये यह काल "सूत्र काल" कहलाता है।

सूत्र तीन प्रकार के हैं—श्रौत सूत्र, धर्म सूत्र, और गृह्य सूत्र। इनके साथ ही साथ या इनके पहले व्याकरण आदि के सूत्र बने, जिन्हें स्फुट सूत्र कहते हैं। कई विद्वानों का मत है कि पाणिनि इसी सूत्र काल मे हुए; पर कुछ लोगों का कहना है कि वे बुद्ध के पहले के हैं। श्रौत सूत्रों में प्रधान प्रधान यज्ञों की विधियों का वर्णन है। धर्म सूत्रों में सामाजिक और न्याय सम्बन्धी नियमों का वर्णन है। गृह्य सूत्रों में गृहस्थो के धार्मिक कर्तव्यों और घरेलू जीवन का वर्णन है। इन तीनो प्रकार के सूत्रों के मुख्य आधार वेद ही हैं। धर्मसूत्रों के बाद स्मृतियों का निर्माण हुआ। वर्तमान मनुस्मृति प्राचीन मानव धर्मसूत्र के आधार पर बनी है।

सूत्र काल के पहले तक संस्कृत भाषा का ही पूर्ण महत्त्व था। मालूम होता है कि उस समय संस्कृत के संसर्ग से धीरे धीरे प्राकृत भाषा भी उन्नति कर रही थी; पर उस समय तक उसने इतनी उन्नति नहीं की थी कि उसमें ग्रंथ लिखे जाते। यदि उस काल में कुछ प्राकृत ग्रंथ बने भी हों, तो वे कदाचित् ऐसे नीरस और शुष्क थे कि रक्षित नहीं रह सके। सूत्र काल ही में हम प्राकृत भाषा को साहित्य क्षेत्र में पहले पहल अवतीर्ण होते हुए

पाते हैं। ब्राह्मण लोग सूत्र काल तक उच्च विषयों में लगे रहे; इसलिये वे राजाओं के यश और युद्धों आदि का वर्णन करना तथा उनकी स्तुति के गीत गाना अपनी प्रतिष्ठा के प्रतिकूल समझते थे। यही कारण है कि राजनीतिक इतिहास रक्षित रखने का भार सूत लोगों पर पड़ा। कहा जाता है कि जब महर्षि वेद व्यास ने अपने शिष्यों में वेद बाँटे, तब पुराणों का विषय लोमहर्षण सूत को सौंपा। इससे जान पड़ता है कि जब इस विषय को क्षुद्र समझकर ब्राह्मणों ने इसका तिरस्कार किया, तब सूतों ने इसे अपनाया। ये सूत लोग संस्कृत में अधिक प्रवीण नहीं होते थे; इसलिये वे प्राकृत भाषा में ही अपनी रचना करते थे। अतएव किसी न किसी रूप मे पुराणों की रचना सूत्र काल में पहले पहल प्राकृत भाषा ही में हुई। राजा लोग भी अपनी तथा अपने पूर्व पुरुषों की वंशावली और इतिवृत्त इन्हीं सूतों से बनवाते थे। ये वंशावलियाँ और इतिवृत्त भी प्राकृत भाषा में ही रचे जाते थे। बाद को पुराणों और राज-वंशावलियों का एक साथ संस्कृत भाषा में उल्था हो गया। इसी से पुराणों में प्राचीन राज-वंशावलियाँ भी पाई जाती हैं। पारजिटर साहेब ने अपने "डाइनेस्टीज़ आफ दि कलि एज" (कलियुग के राजवंश) नामक ग्रंथ में सिद्ध किया है कि संस्कृत के प्राचीन पुराण प्राकृत पुराणों के आधार पर बने हैं। बहुत स्थानों पर तो प्राकृत के श्लोकों को ज्यों का त्यों उठाकर संस्कृत में उनका अनुवाद कर दिया है। यहाँ तक कि भविष्य पुराण में कहीं कहीं प्राकृत शब्द के स्थान पर वैसा ही संस्कृत शब्द लाने का प्रयत्न किया गया है, जिससे छन्दोभंग तथा व्याकरण की अशुद्धियाँ भी रह गई हैं। यदि उन स्थानों पर

प्राकृत शब्द रख दिये जायँ, तो ये अशुद्धियाँ दूर हो सकती हैं। बौद्ध निकाय ग्रन्थों से प्रकट होता है कि प्राचीन बौद्ध काल में पुराण सुनने की प्रथा उस समय थी, जब कि संस्कृत के पुराण ग्रंथ नहीं बने थे। इससे सिद्ध होता है कि पुराण ग्रंथ बहुत प्राचीन हैं और किसी न किसी रूप में वे सूत्र काल में विद्यमान थे।

पुराणों के सिवा रामायण और महाभारत भी किसी न किसी रूप में इसी प्राचीन बौद्ध काल या सूत्र काल में रचे गये थे; क्योंकि सूत्र ग्रंथों की संस्कृत और महाभारत तथा रामायण की संस्कृत आपस में बहुत कुछ मिलती जुलती है। ई० पू० द्वितीय शताब्दी के पातंजल महाभाष्य में महाभारत का उल्लेख आया है, जिससे सूचित होता है कि महाभारत ई० पू० द्वितीय शताब्दी के बाद का नहीं हो सकता। आश्वलायन गृह्य सूत्र में भी महाभारत का उल्लेख आया है, जिससे सूचित होता है कि महाभारत अपने प्राचीन रूप में सूत्र काल के बाद का नहीं है।

इसी काल में कौटिलीय अर्थशास्त्र, वात्स्यायन का कामसूत्र, भास के नाटक और पातंजल महाभाष्य आदि भी लिखे गये। बहुत सी विद्याओं और कलाओं का उल्लेख "ब्रह्मजाल सुत्त" और "दीघ निकाय" नामक बौद्ध ग्रंथों में है, जिससे पता लगता है कि इस काल में भिन्न भिन्न विद्याओं और कलाओं के संबंध में ग्रंथ अवश्य रचे गये थे।

चौदहवाँ अध्याय

प्राचीन बौद्ध काल की शिल्प-कला

प्राचीन बौद्ध काल की इमारतों और मूर्त्तियों आदि के जो नमूने अब तक मिले हैं, उनमें भारतीय शिल्प कला के हज़ार वर्ष से ऊपर का इतिहास भरा है। ये नमूने मानो दो हज़ार वर्ष के इतिहास के पृष्ठ हैं, जिनसे हम भारतीय शिल्प कला की उन्नति और अवनति का पता लगा सकते हैं। इस बीच में भारतवर्ष में तरह तरह के विचारों और दर्शन शास्त्रों का प्रचार हुआ। कई जातियों के लोगों ने उत्तर की ओर से भारतवर्ष पर आक्रमण किये। इन बाहरी आक्रमणों का फल यह हुआ कि देश में कई प्रकार के विचारों का प्रादुर्भाव हुआ। यहाँ असख्य राजघराने राज्य करके सदा के लिये निर्मूल हो गये। इन भिन्न भिन्न जातियों के लोगों के विचार, भाव, उद्देश्य, आदर्श और विश्वास शिल्प कला के प्राचीन उदाहरणों में अंकित है। अतएव मोटे तौर पर देखने से प्राचीन भारतीय शिल्प कला में कदाचित् अनैक्य और भिन्नता मालूम होगी; पर वास्तव मे उस शिल्प कला में किसी प्रकार का अनैक्य या भिन्नता नहीं है। जिस तरह हिन्दुओ के भिन्न भिन्न दर्शन शास्त्रों और धार्मिक भावों का एक मात्र आदर्श वेद और उपनिषद् के सिद्धान्त हैं, उसी तरह भिन्न भिन्न प्रकार की और भिन्न भिन्न समय की शिल्प कला में भी एक आदर्श भाव है। यही आदर्श भाव भारतीय

शिल्प कला में भी दिखाई देता है; और यही उस शिल्प कला की एकता सूचित करता है। भारतीय शिल्प कला के इस "आदर्श भाव" को अँगरेज़ी में "आइडियलिज्म" कहते हैं। हिन्दू-शिल्पकारों ने सदा आदर्श मूर्ति या चित्र बनाने का ही प्रयत्न किया है। शिल्प कला ही क्यों, सभी बातों में प्राचीन भारतीयों की प्रवृत्ति आदर्शता की ही ओर रही है। लौकिक जीवन और लौकिक बातों की ओर से वे प्रायः उदासीन ही रहे हैं।

इसी लिये भारतवर्ष की प्राचीन शिल्प कला का धर्म से भी सदा घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। प्राचीन भारत के चित्रकार तथा मूर्तिकार अपनी विद्या तथा कला कौशल का उपयोग संसार की साधारण वस्तुओं के सम्बन्ध में नहीं करते थे। उनका मुख्य उद्देश्य देवताओं के चित्र तथा मूर्तियाँ बनाना था। हमारे यहाँ मानव जीवन की घटनाओं के चित्र तथा मानव मूर्तियाँ निर्माण करना चित्रकार तथा मूर्तिकार का धर्म नहीं माना गया है। शुक्राचार्य ने "शुक्रनीति" में कहा है—

> अपि श्रेयस्करं नृणां देवबिम्बमलक्षणम्।
> सलक्षणं मर्त्यबिम्बं नहि श्रेयस्करं सदा॥

अर्थात्—"चित्रकार तथा मूर्तिकार के लिये यही श्रेयस्कर है कि वह सदैव देव-मूर्तियाँ बनावे। मनुष्यों की आकृतियाँ अथवा चित्र बनाना केवल बुरा ही नहीं, अपवित्र भी है। देवमूर्ति चाहे कितनी ही भद्दी क्यों न हो, वह सुन्दर से सुन्दर मानव मूर्ति से अच्छी है।" यही कारण है कि प्राचीन भारतवर्ष की जितनी मूर्तियाँ अभी तक मिली हैं, वे प्रायः सब की सब या तो किसी देवता या महापुरुष की है या धर्म-संबंधी अन्य घटनाओं के आधार पर बनाई गई हैं।

पर खेद है कि थोड़े से सिक्कों और भग्नावशेषों को छोड़ कर अभी तक कोई ऐसी मूर्ति या कारीगरी का नमूना नहीं मिला है, जो निश्चित रूप से अशोक के पहले का कहा जा सके। अतएव भारतवर्ष की प्राचीन शिल्प कला का प्रारंभ अशोक के समय से ही समझना चाहिए। हाँ, हाल में श्रीयुत काशीप्रसाद जी जायसवाल ने एक नई खोज की है, जिससे भारतीय पुरातत्त्व सम्बन्धी विचारों में बड़ा उलट फेर होने की सभावना है *। श्रीयुत जायसवाल ने अपनी खोज का विवरण "विहार ऐंड ओड़ीसा रिसर्च सोसाइटी" के मुखपत्र के मार्च १९१९ तथा दिसम्बर १९१९ वाले अंकों में छपवाया है। इस खोज का संबंध उन दो बड़ी मूर्तियों से है, जो कलकत्ते के "इन्डियन म्यूजियम" (अजायबघर) मे रक्खी हैं, और उस एक बड़ी मूर्ति से है, जो मथुरा के अजायबघर मे है। इन तीनो मूर्तियो पर प्राचीन ब्राह्मी अक्षरों में लेख खुदे हुए है। ये तीनों मूर्तियाँ अब तक यक्ष की मूर्तियाँ समझी जाती थीं; पर जायसवाल जी ने इन मूर्तियों के लेखो को पढ़कर बड़ी विद्वत्ता के साथ यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि कलकत्ते के अजायबघरवाली मूर्तियाँ शैशुनाग वंश के उदयिन् और नन्दिवर्द्धन इन दो महाराजाओं की है, जिनका इतिहास में नाम मात्र मिलता है। तीसरी मूर्ति के बारे में, जो मथुरा के अजायबघर में है, जायसवाल जी ने यह निश्चित किया है कि यह मूर्ति शैशुनाग वंश के प्रतापशाली सम्राट् बिम्बिसार के पुत्र महाराज अजातशत्रु की है। बौद्ध ग्रथो मे सूचित होता है कि

* सरस्वती, जुलाई १९२० में मेरा "भारतीय पुरातत्त्व मे नई खोज" नामक लेख देखिये।

जब अजातशत्रु गद्दी पर आया, तब बुद्ध भगवान् जीवित थे। पर साथ ही यहाँ यह भी कह देना उचित जान पड़ता है कि जायसवाल जी की इस खोज के बारे में अन्य विद्वानों में बहुत मत-भेद है।

अस्तु; मूर्ति या शिल्प कला के जो नमूने अब तक मिले हैं, वे निश्चित रूप से अशोक के पहले के नहीं कहे जा सकते। इसका कारण यह मालूम होता है कि अशोक के पहले घर तथा मूर्तियाँ काठ की बनाई जाती थीं। पहले पहल अशोक के समय में ही पत्थर की मूर्तियाँ और भवन बनने लगे। अतएव भारतीय मूर्तिकारी या शिल्प कला का आरंभ अशोक के समय से होता है। अशोक के पिता बिन्दुसार और पितामह चन्द्रगुप्त ने महल और मन्दिर आदि अवश्य बनवाये होंगे; किन्तु अब उनका कोई चिह्न बाकी नहीं है। कारण यही मालूम होता है कि अशोक के पूर्व इमारतें और मूर्तियाँ काठ की बनाई जाती थीं, जो अब बिलकुल नष्ट हो गई हैं।

मौर्य काल की शिल्प कला पूर्ण रूप से स्वदेशी नहीं है। उस पर प्राचीन ईरान की सभ्यता का भी थोड़ा बहुत प्रभाव पड़ा है। अशोक और प्राचीन ईरान के बादशाह दारा के शिला-स्तभों, शिलालेखों और इमारतों के खम्भों को ध्यानपूर्वक देखने से यही ज्ञात होता है। अशोक के शिलालेखों का ढंग भी वैसा ही है, जैसा ईसा के पाँच सौ वर्ष पहले "पर्सिपोलिस" और "नक्शएरुस्तम्" में बादशाह दारा के खुदवाये हुए शिलालेखों का है। प्राचीन ईरान के शिलास्तंभो के शिखर, जो अब तक वहाँ की प्राचीन राजधानी "पर्सिपोलिस" और "सूसा" में विद्यमान हैं, घण्टाकार होते थे; और उन पर एक दूसरे की ओर पीठ

करके बैठे हुए हाथी-घोड़ों, या सिंहों की मूर्तियाँ रहती थीं। ये दोनों बातें अशोक के शिलास्तंभों और भरहूत, साँची, मथुरा तथा बुद्ध गया के स्तूपों के परिवेष्टनों में मिलती हैं। मालूम होता है कि जब अशोक के समय में पहले पहल काठ या लकड़ी के स्थान पर पत्थर की इमारतें और मूर्तियाँ बनाई जाने लगीं, तब उन पर प्राचीन ईरान की मूर्तिकारी तथा स्थापत्य विद्या का बहुत कुछ प्रभाव पड़ा होगा। अशोक के सामने ईरान के शिलालेखों, शिला-स्तंभों, इमारतों और मूर्तियों के उदाहरण थे। उन्हीं को देखकर उसने अपने शिलालेख, शिलास्तंभ और महल आदि बनवाये होंगे।

प्रसिद्ध कला-कुशल हावेल साहेब का मत है कि अशोक के स्तंभ ईरान के स्तम्भों की नकल नहीं, बल्कि उन स्तम्भों की नकल हैं, जो प्राचीन वैदिक काल में यज्ञ-स्थानों के चारों ओर खड़े किये जाते थे। ये यज्ञ-स्तम्भ राष्ट्र के शिल्पकार बनाते थे। वैदिक काल से ही शिल्पकार लोग राष्ट्र या राज्य के सेवक गिने जाते थे और उनकी प्रतिष्ठा ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों से कम न थी। मौर्य काल में शिल्प कला की जो शैली प्रचलित थी, वह अवश्य प्राचीन वैदिक काल से चली आ रही थी। जो लोग यह कहते हैं कि मौर्य काल की शिल्प कला ईरान की शिल्प कला की नकल है, वे भ्रम में हैं। मौर्य काल की कारीगरी और प्राचीन ईरान की कारीगरी में जो समानता दिखलाई पड़ती है, उसका कारण यही है कि अति प्राचीन समय में अलग अलग होने के पहले आर्य और ईरानी बहुत दिनों तक एक साथ रह चुके थे; और जब दोनों अलग हुए, तब शिल्प कला की जो शैली प्राचीन समय से चली आ रही थी, वही दोनों में बहुत दिनों तक प्रच-

लित रही। हावेल साहेब के मत से अशोक के स्तम्भों के शिखर "घण्टाकार" नहीं बल्कि "अधोमुखी कमल" के आकार के हैं; और कमल के फूल भारतवर्ष में बहुत दिनों से शुभ समझे जाते हैं।

अशोक ने बहुत सी इमारतें, स्तूप, चैत्य, विहार और स्तंभ आदि बनवाये थे। कहा जाता है कि तीन वर्षों में उसने चौरासी सहस्र स्तूप निर्माण कराये थे। ईसवी पाँचवीं शताब्दी के आरंभ में जिस समय चीनी बौद्ध यात्री फ़ाहियान पाटलिपुत्र में आया था, उस समय भी अशोक का राजमहल खड़ा हुआ था; और लोगों का विश्वास था कि वह देव-दानवों के हाथ का बना हुआ था। अब उसकी ये सब इमारतें लुप्त हो गई हैं और उनके भग्नावशेष गंगा तथा सोन नदियों के पुराने पाट के नीचे दबे पड़े हैं। अशोक के समय के कुछ स्तूप मध्य भारत में साँची में और उसके आस पास हैं। अशोक ने गया के पास बराबर नाम की पहाड़ी में "आजीविक" संप्रदाय के तपस्वियों के लिये गुफाएँ बनवाई थीं, जिनकी दीवारें बहुत ही चिकनी और साफ़ सुथरी हैं।

अशोक के बनवाये हुए स्मारकों में पत्थर पर खुदे हुए उसके लेख सब से विचित्र और महत्व के हैं। कुल मिलाकर ये लेख तीस से अधिक हैं, जो चट्टानों, गुफाओं की दीवारों और स्तम्भों पर खुदे हुए मिलते हैं। इन्हीं लेखों से अशोक के इतिहास का सच्चा पता लगता है। ये लेख लगभग कुल भारतवर्ष में, हिमालय से मैसूर तक और बंगाल की खाड़ी से अरब सागर तक, फैले हुए हैं। ये लेख ऐसे स्थानों में खुदवाये गये थे, जहाँ लोगों का आवागमन अधिक होता था। ये निम्नलिखित आठ भागों में बाँटे जा सकते हैं—

(१) चतुर्दश शिलालेख—ये निम्नलिखित सात स्थानों मे पहाड़ों की चट्टानों पर खुदे हुए पाये जाते हैं—(१) शहबाज़गढ़ी, जो पेशावर से चालीस मील दूर उत्तर-पूर्व में है; (२) मानसेरा, जो पंजाब के हज़ारा जिले में है; (३) कालसी, जो मसूरी से पन्द्रह मील पश्चिम की ओर है; (४) सोपारा, जो बम्बई के पास थाना जिले में है; (५) गिरनार पहाड़ी, जो काठियावाड़ में जूनागढ़ के पास है; (६) धौली जो उड़ीसा के कटक जिले मे है; और (७) जौगढ़ जो मदरास के गंजम जिले में है।

(२) दो कलिंग शिलालेख—ये धौली और जौगढ़ के चतुर्दश शिलालेखों के परिशिष्ट रूप हैं और बाद को उनमें जोड़े गये थे।

(३) लघु शिलालेख—ये उत्तरी मैसूर के (१) सिद्धपुर, (२) जतिंग रामेश्वर और (३) ब्रह्मगिरि में; शाहाबाद ज़िले के (४) सहसराम में; जबलपुर ज़िले के (५) रूपनाथ में; जयपुर रियासत के (६) बैराट में; और निज़ाम की रियासत के (७) मास्की नामक स्थान में पाये जाते हैं।

(४) भाब्रू शिलालेख—ये जयपुर रियासत मे बैराट के पास एक पहाड़ी की चट्टान पर खुदा हुआ था और आजकल कलकत्ते मे रक्खा है।

(५) सप्त स्तंभलेख—ये निम्नलिखित छः स्तम्भों पर खुदे हुए हैं—दिल्ली के दो स्तम्भ, जिनमे से एक अंबाले के पास (१) टोपरा स्थान से और दूसरा (२) मेरठ से दिल्ली में लाया गया था; (३) इलाहाबाद का एक स्तम्भ, जो वहाँ के किले में है; (४) लौड़िया अरराज; (५) लौड़िया नन्दनगढ़; और (६) रामपुर के तीन स्तम्भ जो तिरहुत के चंपारन ज़िले में हैं।

(६) लघु स्तम्भलेख—ये सारनाथ, कौशांबी और साँची में पाये जाते है। कौशांबीवाला लघु स्तम्भलेख भी उसी स्तंभ पर खुदा है जो इलाहाबाद के किले में है और जो कदाचित् पहले कौशांबी में था।

(७) दो तराई स्तंभलेख—ये नैपाल की सरहद पर रुमिन्देई तथा निग्लीव नामक ग्रामों में हैं।

(८) तीन गुहालेख—ये गया के पास बराबर नाम की पहाड़ी में हैं।

अशोक के शिलालेखों, शिलास्तम्भों और उन पर गढ़ी हुई मूर्तियों मे उसके समय की भारतीय शिल्प कला का कुछ कुछ अनुमान हो सकता है। अशोक के समय की शिल्प कला का एक बड़ा अच्छा उदाहरण उसका एक शिलास्तंभ है। वह चपारन जिले के लौड़िया नन्दनगढ़ नामक ग्राम में खड़ा है। वह स्तंभ ३२ फुट ऊँचा है। उसका पत्थर बहुत ही चिकना है। ऊपर की ओर वह कम मोटा होता गया है। उसकी गोलाई नीचे आधार के पास ३५॥ इंच और शिखर के पास २२॥ इंच है। उसका शिखर अधोमुखी कमल के आकार का है और उस पर एक सिंह की मूर्ति है। इसी तरह का एक शिलास्तंभ सारनाथ (बनारस) मे भी है। वह इतना चिकना है कि मालूम होता है, अभी बनकर तैयार हुआ है। उसका भी शिखर अधोमुखी कमल के आकार का है। शिखर पर चार सिंह-मूर्तियाँ पीठ जोड़े हुए हैं। सिंह और शिखर के बीच के भाग में बैल, घोड़े, हाथी तथा सिंह की एक एक मूर्ति है। इन मूर्तियों के बीच के भाग में एक एक धर्मचक्र (पहिया) भी है,

जो सूचित करता है कि भगवान् बुद्ध ने सारनाथ ही में पहले पहल अपने धर्म का चक्र चलाया था और बौद्ध धर्म का प्रचार वहीं से आरम्भ हुआ था। सिंहों पर भी एक "धर्मचक्र" था, जो नष्ट हो गया है। उसके कुछ टुकड़े सारनाथ में, स्तंभ के पास ही, मिले थे। भारतीय पुरातत्व तथा शिल्प कला के विद्वानो का मत है कि किसी दूसरे देश मे पशुओं की ऐसी अच्छी, सुंदर, स्वाभाविक और सजीव प्राचीन मूर्ति मिलना कठिन है, जैसी सारनाथ के अशोक-स्तंभ पर है। इन मूर्तियों में प्राचीन ईरान की मूर्तिकारी की कुछ झलक अवश्य है; किन्तु भारतीय मूर्तिकारों ने इस विषय में विदेशियो से चाहे जो बाते ग्रहण की हों, पर उन्हे उन्होंने अपने भावो में ऐसा ढाल लिया था कि अब उसमें लोगों को विदेशी प्रभाव का पता मिलना कठिन हैं।

मौर्य काल के अन्य चार स्मारक चिह्न इन चार स्थानों में मिलते है-(१) भरहूत, (२) साँची और (३) अमरावती के स्तूप तथा (४) बुद्ध गया के प्राचीन ध्वंसावशेष। इन चारों का समय ई० पू० तीसरी शताब्दी से पहली शताब्दी तक माना गया है। साँची और भरहूत के स्तूपों के चारो ओर पत्थर का घेरा या परिवेष्टन है। बनावट से मालूम होता है कि उन पर संगतराश का काम नहीं, किन्तु बढ़ई का काम है। उन पर जो नक्काशी है, वह लकड़ी पर की नक्काशी से मिलती जुलती है। जान पड़ता है कि जब पत्थर की इमारतें तथा मूर्तियाँ बनने लगीं, तब जो काम पहले लकड़ी पर होता था, वही पत्थर पर होने लगा। यह बात भरहूत, साँची और गया के परिवेष्टनों तथा तोरणों पर की मूर्तियों और बेल बूटों से अच्छी तरह सिद्ध होती है।

भरहूत इलाहाबाद से कोई १२० मील है। वह नागौद राज्य में है। उसका पुराना नाम वरदावती है। सन् १८७३ ईसवी में जनरल कनिंघम नागौद राज्य से होकर निकले। वहाँ उन्हें प्राचीन भरहूत के खँडहरों का पता मिला। वे वहाँ गये। परीक्षा करने पर उन्हें विदित हुआ कि वहाँ एक बहुत पुराना और बड़ा भारी स्तूप था और कई एक विहार भी थे। दो तीन बार में उन्होंने स्तूप के आस पास की ज़मीन खुदवाई। खोदने से कितनी ही मूर्तियाँ, स्तंभ और टूटे फूटे तोरण आदि मिले। ब्राह्मी अक्षरों में खुदे हुए सैकड़ों शिलालेख भी प्राप्त हुए। साथ ही गौतम बुद्ध के चरित सबन्धी अनेक दृश्य भी खुदे हुए पाये गये। यहाँ के स्तूप का व्यास ६८ फुट और प्रदक्षिणा का मार्ग २१३ फुट था। उसमे चार प्रवेश-द्वार थे और सब मिलाकर अस्सी खंभे थे। बौद्ध जातकों मे जो कथाएँ हैं, वे सब चित्र या मूर्ति रूप में इन खंभो और तोरणों पर खुदी हुई थीं। खोदने से कितने ही यक्षों, यक्षिणियों, देवताओ और नागराजों आदि की बड़ी ही सुन्दर अक्षत मूर्तियाँ मिलीं। कनिंघम साहब ने ये सब वस्तुएँ कलकत्ते भेज दीं। वहाँ वे अजायबघर में रक्खी हैं। प्राचीन शिलालेखों और सिक्कों से जनरल कनिंघम ने यह सिद्ध किया कि भरहूत का स्तूप कम से कम ई० पू० २४० का है।

भूपाल राज्य में भिलसा गाँव के निकट कई स्तूप-समूह हैं। कनिंघम साहब ने पहले पहल इनका वृत्तान्त सन् १८५४ ई० मे प्रकाशित किया था। इन स्तूपों में सब से प्रधान साँची का एक बड़ा स्तूप है। यह स्तूप ५४ फुट ऊँचा है और आधार के ठीक ऊपर इसका व्यास १०६ फुट है। इसके चारो ओर जो

परिवेष्टन है, उसका घेरा पूरब से पच्छिम को १४४ फुट और उत्तर से दक्खिन को १५१ फुट है। यह परिवेष्टन गोलाकार है। इसके ८ फुट ऊँचे अठपहल खम्भे एक दूसरे से दो दो फुट की दूरी पर हैं। वे सिरे पर तथा बीच में भी मोटे मोटे पत्थरों से जुड़े हुए हैं। इन खंभों और पत्थरों पर बेल बूटों का इतना ज्यादा काम है कि उन बेल बूटों से वे बिलकुल ढक से गये हैं। साँची का यह स्तूप संभवतः अशोक के समय में बना था। उसके परिवेष्टन के प्रत्येक भाग पर जो लेख खुदे हैं, उनसे विदित होता है कि वे भिन्न भिन्न मनुष्यों के बनवाये हुए हैं। स्तूप का परिवेष्टन तथा उसके चारों फाटक या तोरण अशोक के बाद के हैं। उनका समय ई० पू० दूसरी शताब्दी माना जाता है। चारों तोरणों पर संगतराशी का बहुत उत्तम काम है। उन पर बुद्ध के जीवन की प्रधान प्रधान घटनाएँ खुदी हैं। इसके सिवा उन पर जातकों के दृश्य भी खुदे हैं। कहीं भक्तों का जलूस निकल रहा है, कहीं स्तूप की पूजा हो रही है, कहीं युद्ध हो रहा है और कहीं स्त्रियाँ तथा पुरुष खाते पीते और आनन्द करते हैं।

कृष्णा नदी के मुहाने के निकट उसके दक्षिणी किनारे पर अमरावती है। यहाँ बहुत दिनों तक दक्षिणी भारत के आन्ध्र राजाओं की राजधानी थी। यहाँ का स्तूप अब नहीं है। पर ह्वेन्-त्सांग जब यहाँ आया था, तब यह विद्यमान था। इस स्तूप के चारों ओर भी एक परिवेष्टन या घेरा था। इस परिवेष्टन पर भी बहुत उत्तम कारीगरी का काम है। उस पर भी बुद्ध के जीवन की घटनाएँ और जातक कथाओं के दृश्य खुदे हैं।

अमरावतीवाले स्तूप के परिवेष्टन का निर्माण काल ईसवी दूसरी शताब्दी माना जाता है। पर स्तूप उससे बहुत पुराना है।

बुद्धगया में भी पत्थर का एक प्राचीन परिवेष्टन या घेरा है। यह मौर्य काल का सब से प्राचीन परिवेष्टन माना जाता है। पहले यह उस बोधि वृक्ष के चारो ओर था, जिसके नीचे बुद्ध भगवान् ने बुद्धत्व प्राप्त किया था। डाक्टर फर्ग्युसन ने इस परिवेष्टन का समय २५० ई० पू० माना है। इस पर भी बहुत उत्तम कारीगरी है।

प्राचीन राजगृह (राजगिर) में जो पुरानी दीवारें और भग्नावशेष हैं, वे मौर्य काल के पूर्व के अर्थात् ई० पू० छठी शताब्दी के माने जाते हैं। कहा जाता है कि शैशुनाग वंश के राजा बिम्बिसार ने प्राचीन राजगृह उजाड़कर एक नवीन राजगृह बसाया था।

मौर्य काल की चित्रकारी का एक नमूना सरगुजा रियासत में रामगढ़ पहाड़ी की जोगीमारा नामक गुफा में है। यहाँ के चित्र प्राय: धुँधुले पड़ गये हैं; पर अब भी उनका अस्तित्व है। डाक्टर ब्लाक ने उनका समय ई० पू० तीसरी शताब्दी निश्चित किया है।

प्राचीन समय में जहाँ बड़े बड़े स्तूप होते थे, वहाँ भिक्षुओं के रहने के लिये विहार और पूजा के लिये चैत्य अथवा मन्दिर भी होते थे। विहार की बनावट वैसी ही होती थी, जैसी प्राय: हिन्दुओं के मकानों की होती है; अर्थात् बीच में एक आँगन रहता था और उसके चारो ओर भिक्षुओं के रहने के लिये कमरे बने रहते थे। बौद्ध विहारों में सब से पहला नालन्द का प्रसिद्ध विहार है, जिसे ह्वेनत्सांग ने सातवीं शताब्दी में देखा था।

बौद्ध चैत्यों या मन्दिरों के बारे में विशेष बात यह है कि वे

ऊँची ऊँची चट्टानों में काटकर बनाये जाते थे। बिहार में चैत्य की एक गुफा है। कहा जाता है कि यही राजगृह की वह सप्तपर्णि गुफा है, जिसमें बुद्ध के निर्वाण के बाद बौद्धों की पहली महा-सभा हुई थी। गया से १६ मील उत्तर अनेक गुफाओं का एक समूह है। उनमें सब से मनोरंजक गुफा "लोमश ऋषि की गुफा" के नाम से प्रसिद्ध है। उसकी छत्त नुकीली वृत्ताकार है और उसके मुँह पर सादे पत्थर का काम है। ये सब चैत्य ई० पू० तीसरी शताब्दी के खुदे हुए कहे जाते हैं। पश्चिमी घाट में चार पाँच चैत्य की गुफाएँ हैं। उनमें से भाजा, कोन्दाने, पीतलखोरा, बेदसा और नासिक की चैत्य गुफाएँ मुख्य हैं। पहले चार स्थानों कीगुफाएँ ई० पू० तीसरी शताब्दी की और अन्तिम स्थान की चैत्य गुफा ई० पू० दूसरी शताब्दी की मानी जाती है।

प्राचीन बौद्ध काल की शिल्प कला के नमूनों को देखने से पता लगता है कि उस समय भारतवर्ष सुख और समृद्धि से पूर्ण था। लोग स्वतंत्र, सुखी और चिन्ता-रहित थे। मौर्य काल की मूर्तिकारी में उस समय का चित्र झलक रहा है। बौद्ध काल में और विशेष करके अशोक के समय में बौद्ध धर्म के प्रभाव से समाज के भिन्न भिन्न अंग धीरे धीरे एक हो रहे थे। इस अवस्था का चित्र भरहूत और साँची के स्तूपों के चारो ओर के परिवेष्टनों और तोरणों में साफ दिखाई देता है। उस समय मूर्तिकार को मूर्ति-कारी के उन कठिन नियमों में जकड़बन्द नहीं होना पड़ता था, जो आगे चलकर गुप्त काल में प्रचलित हो गये थे। उस समय की मूर्तियों में एक प्रकार की सजीवता, सादापन और प्राकृतिकता है, जो बाद की मूर्तियों में नहीं मिलती।

प्राचीन बौद्ध काल की मूर्तिकारी में एक विशेष बात ध्यान देने योग्य है। उस काल की बनी हुई बुद्ध भगवान् की मूर्ति कहीं नहीं मिलती। इसका एक मात्र कारण यही है कि पूर्वकालीन बौद्धों ने बुद्ध के "निर्वाण" को यथार्थ रूप में माना था। जिसका निर्वाण हो चुका था, उसकी प्रतिमा भला वे क्यों बनाते? शनैः शनैः जब महायान संप्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ, तब गौतम बुद्ध देवता रूप में पूजे जाने लगे और उनकी मूर्तियाँ बनने लगीं। प्राचीन बौद्ध काल में बुद्ध भगवान् का अस्तित्व कुछ चिह्नों से सूचित किया जाता था; जैसे "बोधि वृक्ष"(पीपल का पेड़), "धर्म-चक्र" अथवा "स्तूप" आदि। इनमें से प्रत्येक चिह्न बुद्ध के जीवन की किसी न किसी प्रधान घटना का सूचक है। पीपल का वृक्ष यह सूचित करता है कि बुद्ध ने इसी पेड़ के नीचे बैठकर बुद्ध पद प्राप्त किया था। इसी तरह चक्र या पहिया बुद्ध के धर्म-प्रचार के आरम्भ का सूचक है और स्तूप उनके निर्वाण (मृत्यु) का चिह्न है। इन चिह्नों से वे स्थान सूचित किये जाते हैं, जहाँ ये प्रधान घटनाएँ हुई थीं।

मौर्य काल की मूर्तियों में पुरुषों की वस्त्र-सामग्री एक धोती मात्र थी। शरीर का ऊपरी भाग बिलकुल नग्न रहता था। इस काल की मूर्तियों में अँगरखा या कुरता कहीं नहीं मिलता। सिर पर एक मुँड़ासा या पगड़ी रहती थी। पुरुषों और विशेष करके स्त्रियों की मूर्तियाँ गहनों से लदी हुई मिलती हैं। इस काल की मूर्तियों के सिर लम्बे, चेहरे गोल और भरे हुए, आँखें बड़ी बड़ी, ओंठ मोटे और कान प्रायः लम्बे हैं। पुरुषों की पगड़ी या मुँड़ासा इतना अधिक उभड़ा हुआ है कि उसके कारण शरीर के

अंदाज़ से सिर बड़ा मालूम होता है। स्त्रियों की मूर्तियों में भी केवल नीचे का भाग वस्त्र से ढका हुआ मिलता है। ऊपर का भाग, पुरुषों की तरह, बिलकुल नग्न रहता है। पुरुषों और स्त्रियों की मूर्तियों में जो सब से बड़ा अन्तर है, वह केवल यही है कि स्त्रियों के गहने और सिर के वस्त्र अधिक बहुमूल्य तथा सुन्दर मालूम होते हैं।

—:०:—

बौद्ध-कालीन भारत

द्वितीय खण्ड

(मौर्य-साम्राज्य के अस्त से गुप्त साम्राज्य के उदय तक)

पहला अध्याय

राजनीतिक इतिहास

मौर्य काल के बाद देशी राजवंश

शुंग वंश

शुंग वंश की स्थापना—पहले खंड के सातवें अध्याय के अन्त में लिखा जा चुका है कि सेनापति पुष्यमित्र ने ई० पू० १८४ के लगभग अपने स्वामी बृहद्रथ मौर्य को मारकर मौर्य साम्राज्य अपने अधिकार में कर लिया था। उसने एक नवीन राजवंश की नींव डाली, जो इतिहास में शुंग कहलाता है।

शुंग राजाओं का राज्य-विस्तार—शुंग राजाओं के राज्य में मौर्य साम्राज्य के बीचवाले कुल प्रांत शामिल थे। मालूम होता है कि आजकल के बिहार, तिरहुत और संयुक्त प्रांत में शुंग वंश का राज्य फैला हुआ था। पंजाब संभवतः उनके राज्य के बाहर था। मौर्य राजाओं की तरह उनकी राजधानी भी पाटलि-पुत्र ही थी।

मिलिन्द (मिनेन्डर) का आक्रमण—काबुल और पंजाब दोनों उन दिनों मिनेन्डर नामक एक यूनानी राजा के अधीन थे। उसने ई० पू० १५५ के लगभग पुष्यमित्र के राज्य पर हमला करके सिन्धु नदी के मुहानेवाला देश, सुराष्ट्र (काठियावाड़), पश्चिमी किनारे का कुछ प्रान्त तथा मथुरा अपने राज्य में मिला

लिया। उसने राजपूताने में चित्तौर के पास मध्यमिका (आज-कल के "नागरी" नामक स्थान) पर तथा अवध के दक्खिन में साकेत नामक स्थान पर भी हमला किया। वह पाटलिपुत्र राज-धानी पर भी हमला करने को तैयार था। बड़े भयंकर युद्ध के बाद वह परास्त किया गया और लाचार होकर उसे जीते हुए प्रदेशों को छोड़कर पीछे हट जाना पड़ा। तभी से सन् १५०२ ई० तक भारतवर्ष पर किसी युरोपीय का हमला नहीं हुआ। १५०२ ई० में वास्को डि गामा ने कालीकट में प्रवेश किया था।

खारवेल का हमला—ई० पू० १५५ के लगभग या उससे कुछ पहले कलिंग के राजा खारवेल ने भी मगध पर आक्रमण किया। "खारवेल के शिलालेख" * से पता लगता है कि उसने पुष्यमित्र को युद्ध में परास्त किया; और कदाचित् मगध राज्य की पूर्वी सीमा को अपने राज्य में मिला लिया। पर यह विजय कदाचित् स्थायी न थी।

पुष्यमित्र का अश्वमेध यज्ञ—पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र ने भी इसी समय के लगभग विदर्भ (बरार) के राजा पर विजय प्राप्त की। कालिदास के "मालविकाग्निमित्र" नाटक में इसी अग्निमित्र का वर्णन है। अस्तु; इन सब विजयों के कारण पुष्यमित्र अपने को उत्तरी भारत का चक्रवर्ती सम्राट् समझने लगा। अतएव इन विजयों के स्मरणार्थ उसने अश्वमेध यज्ञ किया। अश्वमेध यज्ञ के लिये जो घोड़ा छोड़ा गया था, उसकी रक्षा का भार पुष्यमित्र

---

* खारवेल का शिलालेख कटक से १९ मील दूर उदयगिरि पहाड़ी की हाथी-गुम्फा नामक गुफा में एक चट्टान पर खुदा हुआ है।

के पोते वसुमित्र को दिया गया। बुन्देलखण्ड और राजपूताने के बीच जो सिंधु नदी है, उसके किनारे पर अश्व की रक्षा करते हुए वसुमित्र की मुठभेड़ यवनों की एक सेना से हुई। ये यवन लोग कदाचित् मिनैंडर की उस सेना में के बचे हुए थे, जिसने राजपूताने में मध्यमिका (नागरी) को घेरा था। इस प्रकार समस्त शत्रुओं को परास्त करने के उपरान्त पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ प्रारंभ किया। इस यज्ञ में कदाचित् महाभाष्यकार पतंजलि ऋषि भी उपस्थित थे। अपने महाभाष्य में उन्होंने इस यज्ञ का इस तरह पर उल्लेख किया है, मानों यह यज्ञ उनके समय में ही हुआ हो *। इस अश्वमेध यज्ञ से यह सूचित होता है कि अशोक के समय में जो ब्राह्मण-धर्म तथा ब्राह्मणों का प्रभाव हीन अवस्था को प्राप्त हो चुका था, उसने फिर पलटा खाया और सिर उठाना शुरू किया।

बौद्धों पर पुष्यमित्र के अत्याचार—बौद्ध ग्रंथों से सूचित होता है कि पुष्यमित्र ब्राह्मण धर्म का पुनरुद्धार केवल शान्तिपूर्ण उपायों से करने में ही संतुष्ट न था। कहा जाता है कि उसने बौद्धों पर बड़े भयानक अत्याचार किये। उसने मगध से पंजाब में जालंधर तक अनेक संघाराम जलवा दिये और अनेक भिक्षुओं को मरवा डाला। जो भिक्षु उसकी तलवार से बच गये, वे दूसरे राज्यों में भाग गये। कदाचित् बौद्ध ग्रंथकारों का यह वर्णन अतिशयोक्ति-पूर्ण हो, पर इसमें कुछ सार अवश्य है।

* पतंजलि ने इस यज्ञ का उल्लेख इस प्रकार किया है—"इह पुष्यमित्र याजयामः" (अर्थात् "यहाँ हम पुष्यमित्र का यज्ञ कराते हैं")। Indian Antiquary; 1872; p. 300.

पुष्यमित्र के वंशज—बहुत दिनों तक राज्य करने के बाद ई० पू० १४८ के लगभग पुष्यमित्र का देहान्त हुआ। उसके बाद उसका पुत्र अग्निमित्र गद्दी पर बैठा। अपने पिता के समय में वह शुंग राज्य के दक्षिणी प्रान्तों पर शासन करता था। उसने थोड़े ही दिनों तक राज्य किया। इसके बाद उसका भाई सुज्येष्ठ राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। सुज्येष्ठ के बाद अग्निमित्र का पुत्र वसुमित्र राज-सिंहासन पर बैठा। वसुमित्र के बाद शुंग वंश का कोई राजा ऐसा नहीं हुआ, जिसका उल्लेख यहाँ किया जाय। मालूम होता है कि शुंग वंश के अन्तिम राजाओं के समय देश में अशान्ति फैली हुई थी। इस वंश का अन्तिम राजा देवभूति या देवभूमि था। कहा जाता है कि वह बड़ा दुश्चरित्र और व्यभिचारी था। उसका मंत्री काण्व वंश का वसुदेव नामक एक ब्राह्मण था। उसने अपने स्वामी को मारकर राज्य का अधिकार ले लिया। अनुमान होता है कि शुंग वंश के अन्तिम राजा नाम मात्र के राजा थे। वे अपने ब्राह्मण मंत्रियों के हाथ की कठपुतली थे। वास्तव में राज्याधिकार ब्राह्मण मंत्रियों के हाथ मे ही था।

काण्व वंश

वसुदेव और उसके उत्तराधिकारी—शुंग वंश के अंतिम राजा देवभूति या देवभूमि को मारकर मन्त्री वसुदेव ने ई० पू० ७२ में काण्व राज वंश की स्थापना की। वसुदेव के बाद इस राजवंश में तीन राजा और हुए। कुल मिलाकर इस राजवंश ने केवल ४५ वर्षों तक राज्य किया। इससे मालूम होता है कि काण्व राजाओं का राज्य-काल बहुत अशान्ति-मय था। इन राजाओं के बारे में कुछ विशेष बात ज्ञात नहीं है। केवल अंतिम

राजा सुशर्मन् कारव के बारे में यह कहा जाता है कि वह आंध्र या शातवाहन वंश के किसी राजा के हाथ से ई० पू० २७ में मारा गया। उस समय आन्ध्रों का राज्य दक्षिण में पूर्वी समुद्र से पश्चिमी समुद्र तक फैला हुआ था। पुराणों के अनुसार आन्ध्र वंश की स्थापना कारव वंश के बाद हुई; अतएव पुराणों के मत से अन्तिम कारव-राजा का मारनेवाला आन्ध्र वंश का प्रथम राजा सिमुक था। पर वास्तव में स्वतन्त्र आन्ध्र वंश की स्थापना अशोक के बाद ही ई० पू० २२० के लगभग हुई होगी। अतएव सुशर्मन् कारव का मारनेवाला सिमुक नहीं, बल्कि कोई और आन्ध्र राजा रहा होगा। वह आन्ध्र राजा कौन था, यह निश्चित रूप से कहना असंभव है। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि सुशर्मन् का मारनेवाला कुन्तल शातकर्णि, शात शातकर्णि और पुलुमायि प्रथम इन तीनों आन्ध्र राजाओं में से कोई एक रहा होगा; क्योंकि ई० पू० २७ इन्हीं तीनों आन्ध्र राजाओ मे से किसी एक राजा के राज्य काल में पड़ता है।

आन्ध्र वंश

आन्ध्रों का सब से प्राचीन उल्लेख—चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में आन्ध्र लोग गोदावरी और कृष्णा नदियों के बीचवाले प्रांत में पूर्व की ओर रहते थे। उनकी सैनिक शक्ति बहुत बढ़ी चढ़ी थी। वह केवल चन्द्रगुप्त मौर्य की सैनिक शक्ति से उतर कर थी। उस समय आन्ध्र देश में तीस बड़े बड़े नगर और अनेक ग्राम थे। नगरों के चारों ओर चहार-दीवारियाँ रहती थीं। उनकी सेना में एक लाख पैदल, दो हजार सवार और एक हजार

हाथी थे *। उनकी राजधानी कृष्णा नदी के किनारे पर श्री-काकुलम थी। उस समय यह जाति स्वतन्त्र थी। इस बात का ठीक पता नहीं है कि किस समय आन्ध्र लोग मौर्य साम्राज्य की अधीनता स्वीकृत करने के लिये विवश किये गये। अशोक के राज्य-काल में आन्ध्र राज्य मौर्य साम्राज्य के अंतर्गत करद राज्यों में गिना जाता था †। अशोक की मृत्यु के बाद अवसर पाकर साम्राज्य के दूरवर्ती प्रान्त स्वतंत्र हो गये। आन्ध्रों ने भी उसी अवसर एक बड़ा भारी स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया।

सिमुक और कृष्ण—इस स्वतन्त्र राज्य की स्थापना सिमुक नामक आन्ध्र राजा ने ई० पू० २२० के लगभग की। इस नवीन राज्य की शक्ति दिन पर दिन बढ़ने लगी; यहाँ तक कि वंश के दूसरे राजा कृष्ण के राज्य काल में ही इसका विस्तार पूर्वी घाट से पश्चिमी घाट में नासिक तक हो गया। इसके बाद आन्ध्र राजाओं का नाम नहीं सुनाई पड़ता। उनमें से केवल एक राजा ने सुशर्मन् काण्व को मारकर ई० पू० २७ के लगभग मगध को अपने राज्य में मिला लिया।

हाल शातवाहन—इस राजवंश का हाल शातवाहन नामक राजा अपनी विद्या और साहित्य सेवा के लिये प्रसिद्ध है। उसके समय में प्राकृत भाषा बहुत उन्नत अवस्था में थी। उसने प्राकृत भाषा और प्राकृत कविता की बड़ी उन्नति की। उसने स्वयं प्राचीन महाराष्ट्री भाषा में ७०० पद्य लिखे थे, जो "सप्त शतक" के नाम से प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि पैशाची भाषा में "बृहत्कथा"

* Pliny; Book VI; 21, 22, 23,
† अशोक का त्रयोदश शिलालेख।

और "कातन्त्र" नामक संस्कृत व्याकरण ये दोनों ग्रन्थ भी उसी के समय में लिखे गये थे।

आन्ध्र राज्य का अधःपतन—विष्णु पुराण के अनुसार इस वंश में तीस राजा हुए और उन सब ने कुल मिलाकर ४५६ वर्ष तक राज्य किया। इस वंश का अंतिम राजा पुलुमायि तृतीय था। इस राजवंश का अधःपतन किन कारणों से हुआ, इसका कोई पता नहीं है। केवल इतना कहा जा सकता है कि ईसवी सन् की तृतीय शताब्दी में इस राजवंश का अधःपतन हुआ। पर इस शताब्दी का इतिहास ऐसे अन्धकार में पड़ा है कि उसमें होनेवाली घटनाओं के बारे में कुछ लिखना असंभव है।

मौर्य काल के बाद विदेशी राजवंश

अशोक की मृत्यु के बाद मौर्य साम्राज्य छिन्न भिन्न हो गया। उसके दूरवर्ती प्रान्त स्वतन्त्र होकर अलग अलग राज्य बन गये। पश्चिमोत्तर सीमा विदेशियों के आक्रमण से सुरक्षित न रह सकी। एक के बाद दूसरी विदेशी जातियाँ इन सीमाओं को पार कर भारतवर्ष में आने लगीं। इन विदेशी जातियों के नाम क्रम से यवन (यूनानी), शक (सीथियन), पार्थिव (पार्थियन) और कुषण हैं। इन जातियों ने भारतवर्ष पर आक्रमण करके यहाँ अपने अपने राजवंश स्थापित किये, जिनका संक्षिप्त इतिहास क्रम से नीचे दिया जाता है।

यवन (यूनानी) राजवंश

सिकन्दर और सेल्यूकस के आक्रमण—सिकन्दर पहला यूनानी था, जिसने भारतभूमि पर आक्रमण किया। जब ई० पू०

३२६ में वह भारतवर्ष से वापस गया, तब उसके अधीन भारतवर्ष के तीन प्रान्त थे—सिन्धु नदी के पश्चिम का देश परोपनिसदै, पंजाब और सिन्ध। पर दस ही वर्ष के अन्दर ये तीनों प्रान्त यूनानी सत्ता से निकलकर फिर से स्वाधीन हो गये। सिकन्दर के अनन्तर सीरिया देश के सेल्यूकस नामक यूनानी राजा ने ई० पू० ३०५ में फिर से भारत के उन भागों पर आक्रमण करना चाहा; पर बली चन्द्रगुप्त मौर्य के सामने उसका बस न चल सका। अन्त में काबुल, कन्धार और हिरात ये तीन प्रान्त थता अपनी बेटी एथीना चन्द्रगुप्त को देकर उसे सन्धि कर लेनी पड़ी। ये प्रान्त चन्द्रगुप्त, बिन्दुसार और अशोक इन तीन मौर्य राजाओं के अधीन रहे। यूनानी इतिहास-लेखकों के इतिहासों से पता चलता है कि सेल्यूकस का राज्य भूमध्य सागर से हिन्दूकुश तक था। उसका देहान्त ई० पू० २६२ या २६१ में हुआ।

एन्टिओकस थीअस—सेल्यूकस के बाद उसका पोता एन्टिओकस थीअस उसका उत्तराधिकारी हुआ। वह बहुत ही दुराचारी और कमजोर बादशाह था। उसके समय में सेल्यूकस के स्थापित किये हुए साम्राज्य से बैक्ट्रिया और पार्थिया ये दो बड़े बड़े प्रान्त स्वतन्त्र हो गये। बैक्ट्रिया का प्रान्त अफ़गानिस्तान के उत्तर में ओक्सस (अमू) नदी और हिन्दूकुश पर्वत के बीच में था। इसे आजकल बलख़ कहते हैं। पार्थिया का प्रान्त फ़ारस के रेगिस्तान के उस ओर कैस्पियन सागर के दक्षिण-पूर्व में था। उस समय बलख़ का प्रान्त बहुत सभ्य था और उसमें लगभग एक सहस्र बड़े बड़े नगर थे।

डिओडोटस प्रथम—बैट्रिक्या में सिल्यूकस के साम्राज्य के

विरुद्ध स्वतन्त्रता के लिये जो बलवा हुआ, उसका अगुआ वहाँ का यूनानी गवर्नर डिओडोटस था। बैक्ट्रिया को स्वतंत्र करने के बाद वह स्वयं वहाँ का राजा बन बैठा। उसने थोड़े ही दिनों तक राज्य किया। उसके बाद उसका बेटा डिओडोटस द्वितीय ई० पू० २४५ के लगभग राजगद्दी पर बैठा।

यूथिडेमस—इसके विरुद्ध एक दूसरे वंश के यूथिडेमस नामक यूनानी ने बलवा करके ई० पू० २३० के लगभग राज्य का अधिकार अपने हाथ में कर लिया। यूथिडेमस और एन्टिओकस थीअस के बीच बहुत दिनों तक युद्ध हुआ। अन्त में ई० पू० ३०८ के लगभग दोनों में सन्धि हो गई और एन्टिओकस थीअस ने बैक्ट्रिया की स्वतंत्रता स्वीकृत कर ली। उसने यूथिडेमस को अपनी लड़की भी ब्याह दी।

काबुल पर एन्टिओकस थीअस का हमला—इसके बाद एन्टिओकस थीअस ने हिन्दूकुश पार करके ई० पू० २०६ में काबुल के राजा सुभागसेन पर हमला किया। पर यह एक आक्रमण मात्र था। इसका कोई स्थायी परिणाम नहीं हुआ।

भारत में डेमेट्रिअस का अधिकार—यूथिडेमस के बाद उसका बेटा डेमेट्रिअस बैक्ट्रिया का बादशाह हुआ। उसने ई० पू० १९० के लगभग हमला करके काबुल, पंजाब और सिंध को अपने राज्य में मिला लिया। पर बैक्ट्रिया से लगातार दूर रहने के कारण बलख पर से उसका कब्ज़ा ढीला पड़ गया। इस लिये यूक्रेटाइडीज़ नामक एक यूनानी ने ई० पू० १७५ के लगभग बलवा करके बैक्ट्रिया पर अधिकार कर लिया। उसने भारतवर्ष में डेमेट्रियस से भी युद्ध किया और काबुल, सिंध तथा उत्तरी पंजाब पर अधिकार कर लिया।

यूक्रेटाइडीज़ के उत्तराधिकारी—यूक्रेटाइडीज़ के बाद उसके तथा यूथिडेमस के वंश के बहुत से छोटे छोटे यूनानी राजा हुए, जिन्होंने बैक्ट्रिया, काबुल, पंजाब और सिंध को आपस में बाँट लिया। सिक्कों से इस तरह के कम से कम ४० यूनानी राजाओं के नाम मिलते हैं। उनमें से उल्लेख योग्य केवल तीन ही हैं—एक मिलिंद (मिनैंडर), दूसरा एंटिएल्काइडस और तीसरा हर्मेअस।

मिलिन्द (मिनैण्डर)—ऊपर लिखा जा चुका है कि मिलिन्द ने, ई०पू० १५५ के लगभग, पुष्यमित्र के राज्य पर हमला करके सुराष्ट्र (काठियावाड़), मथुरा तथा सिंधु नदी के मुहानेवाला प्रान्त अपने राज्य में मिला लिया था। उसने ई० पू० १६० से १४० तक काबुल और पंजाब पर राज्य किया। वह बौद्ध धर्मावलंबी था। यही एक ऐसा यूनानी राजा है, जिसका नाम भारतवर्ष के प्राचीन साहित्य में मिलता है। "मिलिन्दपन्हो" पाली साहित्य का एक बहुत ही उत्तम रत्न है। उसमें मिलिन्द बौद्ध भिक्षु नागसेन से शंकाएँ तथा प्रश्न करता है और नागसेन उन शंकाओं का समाधान करता है। पंजाब में इस राजा की राजधानी शाकल या सागल थी। आजकल का स्यालकोट ही कदाचित् प्राचीन शाकल है।

एन्टिएल्काइडस—इस राजा का नाम ग्वालियर रियासत में भेलसा के पास बेसनगर के एक शिलालेख में मिला है। यह शिलालेख एक स्तंभ पर खुदा है। इस से पता लगता है कि यह स्तंभ श्रीकृष्ण (वासुदेव) भगवान् के प्रीत्यर्थ स्थापित किया गया था। यह स्तंभ तक्षशिला-निवासी, डीओन के पुत्र, हेलिओ-डोरस की आज्ञा से बनाया गया था। इस हेलिओडोरस को

एन्टिएल्काइडस ने अपनी राजधानी तक्षशिला से विदिशा के राजा काशीपुत्र भागभद्र के पास इसी काम के लिये भेजा था। यह शिलालेख बड़े महत्व का है। इससे एक बात तो यह सूचित होती है कि उस समय विदिशा (भेलसा) के राजा और तक्षशिला के यवन-राज के बीच राजनीतिक सम्बन्ध था। दूसरे यह कि उस प्राचीन समय में कुछ यवनों ने हिंदू धर्म ग्रहण कर लिया था। इस शिलालेख में एंटिएल्काइडस "भागवत" (विष्णु का भक्त) कहा गया है। इस शिलालेख का समय ई० पू० १४० और १३० के बीच माना जाता है*।

हर्मेअस—यह अन्तिम यूनानी राजा था, जिसने पंजाब और सीमा प्रान्त पर राज्य किया। इसी के समय में काबुल और कंधार पर कुषणों का आक्रमण हुआ और भारतवर्ष से यूनानी राजाओं का राज्य सदा के लिये उठ गया। इसके राज्य का अन्त कदाचित् ई० पू० २५ में हुआ था।

भारतवर्ष पर यूनानी सभ्यता का प्रभाव—पश्चिमोत्तर सीमा तथा पंजाब पर यूनानी राजाओं का शासन डेमेट्रिअस से हर्मेअस तक अर्थात् लगातार लगभग २५० वर्षों तक रहा। साधारण तौर पर युरोपीय विद्वानों का यह मत है कि इस बीच में भारतवर्ष पर यूनानी सभ्यता का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। कुछ युरोपियन विद्वान् यह भी कहते हैं कि अप्रत्यक्ष रीति पर मौर्य साम्राज्य सिकंदर के आक्रमण का ही परिणाम है। एक विद्वान् ने तो यहाँ तक कह डाला है कि चंद्रगुप्त ने सेल्यूकस

* जरनल आफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी; १९०९–१०.

की अधीनता स्वीकृत कर ली थी। पर प्रसिद्ध इतिहासज्ञ पर-लोकवासी विन्सेन्ट स्मिथ ने पूरी तरह से इस मत का खण्डन कर दिया है। उनका मत है कि भारतवर्ष पर यूनानी सभ्यता का जो प्रभाव पड़ा, वह न पड़ने के समान था। इस संबंध में उन्होंने जो कुछ लिखा है, उस का सारांश यहाँ दिया जाता है *।

"कुछ लेखकों का विचार है कि मौर्य साम्राज्य पर सिकदर के आक्रमण का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा; पर यह ठीक नहीं है। भारतवर्ष में सिकंदर केवल उन्नीस महीने रहा। ये उन्नीस महीने भी सिर्फ लड़ाई झगड़े और भयानक मारकाट में बीते। भारत-वर्ष मे अपना साम्राज्य खड़ा करने का जो कुछ उसका विचार रहा हो, पर वह उसकी मृत्यु के बाद बिलकुल निष्फल हो गया। उसकी मृत्यु के दो वर्ष के अन्दर ही वे सब यूनानी निकाल बाहर किये गये, जिन्हें सिकन्दर पश्चिमोत्तर प्रान्त तथा पंजाब पर यूनानी शासन स्थिर रखने के लिये छोड़ गया था। सिकंदर के आक्रमण का और उसके प्रभाव का यदि कोई चिह्न बाकी है, तो वह केवल थोड़े से सिक्कों में है, जिन्हे पश्चिमोत्तर प्रांत के सौभूति नामक भारतीय राजा ने गढ़वाया था। ये सिक्के यूनानी सिक्कों की नकल हैं।"

सिकन्दर की मृत्यु के बीस वर्ष बाद सेल्यूकस ने सिकंदर के धावे का अनुकरण किया। पर सेल्यूकस की सेना चन्द्रगुप्त की सेना के मुकाबले मे न ठहर सकी। सेल्यूकस को लाचार हो-कर पीछे हटना पड़ा। चन्द्रगुप्त के साथ उसी की शर्तों के मुता-

---

* V. Smith's Early History of India; pp 225-29

बल्कि उसे सन्धि कर लेनी पड़ी। उलटे उसे लेने के देने पड़ गये। भारतवर्ष पर विजय पाना तो दूर रहा, उसे सिन्धु नदी के पश्चिम में एरिआना (आर्याना) का बहुत सा हिस्सा चन्द्रगुप्त को दे देना पड़ा। चन्द्रगुप्त को उससे काबुल, कन्धार और हिरात ये तीन प्रान्त मिले। सेल्यूकस ने अपनी बेटी एथीना भी चन्द्रगुप्त को भेंट की।

बिन्दुसार और अशोक के समय में भी भारतवर्ष पर यूनानी सभ्यता का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। यूनानी बादशाहों के साथ इन मौर्य सम्राटों का बराबरी का बरताव था। यूनानी सभ्यता की कोई बात सीखने के बदले अशोक इन यूनानी बादशाहों के राज्यों मे अपने धर्म का प्रचार करने के लिये सदा उत्सुक रहता था। उसने सीरिया, मिस्र, साइरीनी, मेसिडोनिया और एपिरस नामक पाँच यूनानी राज्यों में धर्म का प्रचार करने के लिये उपदेशक भेजे थे।

इसके बाद डेमेट्रिअस, यूक्रेटाइडीज़ और मिनैन्डर के जो हमले भारतवर्ष पर हुए, उनका भी कोई प्रभाव भारतीय सभ्यता पर नहीं पड़ा। उनसे कुछ सीखने की जगह भारतीय ग्रन्थकारों ने अपने ग्रन्थों में उनके बारे में म्लेच्छ आदि अपमानसूचक शब्द लिखे हैं। मिनैन्डर ने तो अपना धर्म छोड़कर भारतीय बौद्ध धर्म भी ग्रहण कर लिया था। इसी प्रकार इन्टिएल्काइडस ने वैष्णव धर्म ग्रहण किया था।

पंजाब में यूनानी बादशाहो के केवल सिक्के ही रह गये हैं। भारतीय सभ्यता पर उनका प्रभाव पड़ने के बदले उन्हीं पर भारतीय सभ्यता का ऐसा प्रभाव पड़ा कि उनमें से कुछ बौद्ध

तथा हिन्दू धर्मावलम्बी हो गये और यहाँ की भाषा, रीति-रिवाज तथा धर्म ग्रहण करके भारतीयों के सामने पराजित हुए। एक तरह से भारतवासियों ने ही उन्हें अपना बना लिया। भवन-निर्माण विद्या, शिल्प कला, नीति, नाट्य कला आदि में भी भारतवासियों ने यूनानियों से कुछ नहीं सीखा। पंजाब में २५० वर्षों तक यूनानी शासन रहा; पर यूनानी भाषा का एक भी शिलालेख पंजाब या पश्चिमोत्तर प्रांत में आज तक न मिला। यूनानी साहित्य का भी कोई प्रभाव भारतीय साहित्य में नहीं मिलता। यदि भारतीय शिल्प कला पर यूनानियों का कुछ प्रभाव पड़ा भी हो, तो भारतीयों ने उसे अपने रंग में इतना रँग लिया कि उसका पता अब कठिनता से लगता है।"

शक (सीथियन)

शकों का आगमन—प्राचीन समय में शक (सीथियन) लोग सर दरिया के किनारे उत्तर की ओर एक जगह से दूसरी जगह भोजन और जीविका की खोज में घूमा करते थे। मध्य एशिया की यूची नाम की एक ख़ाना-बदोश जाति ने शकों को ई० पू० १६० के लगभग वहाँ से निकाल बाहर किया। वहाँ से हटकर शकों ने बैक्ट्रिया (बलख़) देश अपने अधिकार में कर लिया। किन्तु यूची लोगों ने वहाँ भी उनका पिण्ड न छोड़ा। यूचियों से हारकर वे पूर्व और दक्षिण की ओर भाग निकले। उनके एक दल ने अफ़ग़ानिस्तान के दक्षिण में आकर अपना राज्य स्थापित किया। उनके नाम पर उस प्रान्त का नाम शकस्थान (सीस्तान) पड़ गया। दूसरे दल ने काबुल और ख़ैबर से हो

कर तक्षशिला में अपना राज्य कायम किया। तीसरा दल पंजाब से होता हुआ यमुना तक आ पहुँचा और सौ वर्षों तक मथुरा में राज्य करता रहा। और चौथा दल हाला पर्वत से होता हुआ सिन्ध और सुराष्ट्र (काठियावाड़) में पहुँचकर बहुत दिनों तक राज्य करता रहा।

उत्तरी क्षत्रप—तक्षशिला (उत्तर-पश्चिमी पंजाब) और मथुरा के शक राजाओं को इतिहासज्ञ लोग उत्तरी क्षत्रप कहते हैं। यद्यपि "क्षत्रप" शब्द संस्कृत का सा प्रतीत होता है, तथापि वास्तव में यह पुराने ईरानी "क्षथ्रपावन" शब्द का संस्कृत रूप है। इसका अर्थ "पृथ्वी का रक्षक" है। इस शब्द के "खतप" (खत्तप) "छत्रप" और "छत्रव" आदि प्राकृत रूप भी मिलते हैं। उत्तरी क्षत्रप लोग पार्थिव (पार्थियन) राजाओं को अपना सम्राट् या अधीश्वर मानते थे; और इसी लिये वे "क्षत्रप" (अर्थात् सम्राट् के सूबेदार) कहलाते थे। उत्तरी क्षत्रपों का पार्थिव राजाओं से बहुत घनिष्ट सम्बन्ध था। भारतवर्ष के पार्थिव राजा और उत्तरी क्षत्रप प्रायः एक ही हैं। उन्हें अलग करना असंभव है। उत्तरी क्षत्रपों में शक और पार्थिव दोनों जातियों के राजा पाये जाते हैं। अतएव पार्थिव राजवंश का वर्णन करते समय ही उनके बारे में भी लिखा जायगा।

पश्चिमी क्षत्रप—जो शक राजा पश्चिमी भारत में राज्य करते थे, वे पश्चिमी क्षत्रप कहलाते थे। मालूम होता है कि ईसवी प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध में ये लोग सिन्ध और गुजरात से होते हुए पश्चिमी भारत में आये थे। सम्भवतः उस समय ये उत्तर-पश्चिमी भारत के कुशाण राजाओं के सूबेदार थे। पर

अन्त में इनका प्रभाव यहाँ तक बढ़ा कि मालवा, गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, सिन्ध, उत्तरी कोंकण और राजपूताने तक इनका अधिकार हो गया*। पश्चिमी क्षत्रपों के नामों के बाद प्रायः "वर्मन" और "दत्त" लगा हुआ मिलता है; इस से पता लगता है कि वे हिन्दू हो गये थे और पौराणिक धर्म मानने लगे थे। ब्राह्मण धर्म और संस्कृत भाषा के उद्धार में इन लोगों ने बहुत सहायता दी थी। इन में से मुख्य मुख्य क्षत्रपों का हाल नीचे दिया जाता है।

भूमक—पश्चिमी भारत का पहला क्षत्रप भूमक था। यह क्षहरात वंश का था। इसके केवल सिक्के मिलते हैं, जिनसे पता चलता है कि यह ईसवी प्रथम शताब्दी के अन्त या दूसरी शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ था। यद्यपि अब तक इसके समय का कोई लेख नहीं मिला, तथापि इसके उत्तराधिकारी नहपान के समय के लेख से अनुमान होता है कि भूमक का राज्य सन ११९ ई० के पूर्व था।

नहपान—यह भूमक का उत्तराधिकारी था। इसका राज्य गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, मालवा और नासिक तक के दक्षिणी प्रदेशों में था। इसके समय के लेख सन ११९ ई० से १२४ ई० तक के ही मिले हैं। इससे यह निश्चय करना कठिन है कि इसने कितने वर्षों तक राज्य किया। पर अनुमान होता है कि सन् १२४ ई० के बाद इसका राज्य थोड़े समय तक ही रहा होगा; क्योंकि इसी समय के लगभग आन्ध्र वंशी राजा शात-

* एपिग्राफिया इंडिका, खंड ८, पृ० ३६.

कर्णि ने उसको हराकर उसके राज्य पर अधिकार जमा लिया था और उसके सिक्कों पर अपनी छाप लगवा दी थी।

चष्टन—नहपान के समय में क्षत्रपों की जो शक्ति नष्ट हो गई थी, वह चष्टन ने फिर से स्थापित की। यूनानी भूगोलज्ञ टालेमी ने अपनी पुस्तक में चष्टन का उल्लेख किया है। यह पुस्तक उसने सन् १३० ई० के लगभग लिखी थी। इसमे लिखा है कि उस समय पैठन में आन्ध्र वंशी राजा वासिष्ठीपुत्र श्रीपुलुमायि की राजधानी थे। इससे प्रकट होता है कि चष्टन और उक्त पुलुमायि समकालीन थे। चष्टन ने अपना नया राजवंश स्थापित किया था। इसकी राजधानी उज्जैन थी। इसके वंश में लगातार बहुत से क्षत्रप हुए, जो गुप्त राजाओं के समय तक किसी न किसी तरह राज्य करते रहे।

रुद्रदामन्—यह चष्टन का पौत्र था। चष्टन के वंश मे यह महाप्रतापी राजा हुआ। इसके समय का एक शिलालेख * जूनागढ़ में मिला है जिसका समय शक संवत् ७२ (ई० स० १५०) है। यह शिलालेख गिरनार पर्वत की उसी चट्टान के पीछे खुदा हुआ है, जिस पर अशोक ने अपना लेख खुदवाया था। रुद्रदामन् का शिलालेख शुद्ध संस्कृत में है। इसके पहले के जितने शिलालेख मिले हैं, वे सब प्राकृत या प्राकृत-मिश्रित संस्कृत में हैं। इस शिलालेख से पता चलता है कि रुद्रदामन् ने अपने पराक्रम से ही महाक्षत्रप की उपाधि प्राप्त करके, आकर (पूर्वी मालवा), अवन्ति (पश्चिमी मालवा), अनूप, आनर्त (उत्तरी काठियावाड़), सुराष्ट्र

---

* एपिग्राफिया इंडिका; खं० ८; पृ० ३६.

(दक्षिणी काठियावाड़), श्वभ्र (उत्तरी गुजरात), मरु (मारवाड़), कच्छ, सिन्धु (सिंध), सौवीर (मुलतान), कुकुर (पूर्वी राजपूताना), अपरान्त (उत्तरी कोंकण) और निषाद (भीलों का देश) आदि देशों पर अधिकार कर लिया था। इसने एक बार यौधेय लोगों को और दो बार आन्ध्रों के राजा पुलुमायि द्वितीय को हराया था। पुलुमायि द्वितीय का विवाह रुद्रदामन् की कन्या से हुआ था। इसकी राजधानी भी उज्जैन ही थी। इसने अपने राज्य के भिन्न भिन्न प्रान्तों में सूबेदार नियत कर रक्खे थे। रुद्रदामन् ने अपने आनर्त और सुराष्ट्र के सूबेदार सुविशाख द्वारा सुदर्शन झील का जीर्णोद्धार कराया था। इसी घटना की यादगार में रुद्रदामन् ने जूनागढ़वाला शिलालेख खुदवाया था। झील जूनागढ़ में गिरनार पर्वत के निकट थी। पहले पहल इसे मौर्यवंशी राजा चन्द्रगुप्त के सूबेदार वैश्य पुष्यगुप्त ने बनवाया था। उक्त चन्द्रगुप्त के पौत्र सम्राट् अशोक के समय ईरानी तुषास्फ ने इसमें से नहरें निकाली थीं। परन्तु महाक्षत्रप रुद्रदामन् के समय इसका बाँध टूट गया। उस समय सुविशाख ने इसका जीर्णोद्धार कराया। इसी घटना की यादगार में उक्त लेख गिरनार पर्वत की चट्टान के पीछे खुदवाया गया था। अन्त में इसका बाँध फिर टूट गया। तब गुप्त वंशी राजा स्कन्दगुप्त ने ई० स० ४५८ में इसकी मरम्मत कराई।

क्षत्रपों का अधःपतन—ईसवी तीसरी शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही गुप्त राजाओं का प्रभाव बढ़ रहा था और आसपास के राजा उनकी अधीनता स्वीकृत करते जाते थे। इलाहाबाद के समुद्रगुप्तवाले लेख से पता लगता है कि शक लोगों ने भी समुद्रगुप्त का अधिपत्य स्वीकृत कर लिया था। ई० सन् ३८० में समुद्र-

गुप्त का पुत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य गद्दी पर बैठा। उसने ई० सन् ३८८ के लगभग रहे सहे शकों के राज्य भी छीनकर अपने राज्य में मिला लिये और इस प्रकार भारतवर्ष में शक राज्य सदा के लिये समाप्त हो गया।

पार्थिव (पार्थियन) राजवंश

पार्थिव लोग कौन थे—पार्थिव लोग प्राचीन पार्थिया के रहनेवाले थे। पार्थिवों का प्रान्त फारस के रेगिस्तान के उस ओर कैस्पियन सागर के दक्षिण-पूर्व में था। पार्थिवों को "पह्लव" भी कहते हैं। पह्लव शब्द कदाचित् "पार्थिव" का बिगड़ा हुआ रूप है। कुछ विद्वानों का मत है कि दक्षिणी भारत का "पल्लव" राजवंश इन्हीं पार्थिवों या पह्लवों की एक शाखा है*। सेल्यूकस के समय में पार्थिया प्रान्त उसके साम्राज्य में शामिल था। पर सेल्यूकस के बाद उसके पोते एन्टिओकस थीअस के समय में अर्थात् ई० पू० २४८ के लगभग यह प्रान्त यूनानी शासन से बिलकुल स्वतंत्र हो गया। इस आन्दोलन का अगुआ अर्सकेस था, जिसने फारस के अर्सकाइडन राजवंश की स्थापना की थी। धीरे धीरे पार्थिवों का प्रभुत्व फारस में भी फैल गया। किन्तु भारतवर्ष पर पार्थिवों का प्रभाव कदाचित् इसके एक सौ वर्ष बाद हुआ। भारतवर्ष के मुख्य मुख्य पार्थिव (पार्थियन) राजाओं का हाल नीचे दिया जाता है।

मिथ्रडेटस प्रथम—यह पहला पार्थिव राजा है, जिसने अपना राज्य सिन्धु नदी तक या कदाचित् उसके इस पार भी फैलाया।

* Fleet—Dynasties of the Kanarese Districts. 2nd Edition p. 316. (Bombay Gazetteer, Vol I. Part II)

शताब्दी के तीसरे पाद में वर्तमान था। यही बात गोंडोफ़र्निस के लेख से भी प्रमाणित होती है *। जो किसी अज्ञात संवत् के १०३ रे वर्ष में लिखा गया था। यह अज्ञात संवत् भी यही एज़ेस का संवत् होगा। इसके लेख के अनुसार इसी एज़ेस के १०३ रे साल में गोंडोफ़र्निस को राज्य करते हुए २६ वर्ष हो चुके थे। गोंडोफ़र्निस का काल अन्य प्रमाणों से १९—४५ ईसवी तक सिद्ध हुआ है। यदि गोंडोफ़र्निस का राज्यरोहण काल सन् १९ ई० माना जाय, तो उसका २६वाँ वर्ष सन् ४५ ई० होता है। अब सन् ४५ ई० यदि एज़ेस का १०३ रा वर्ष माना जाय, तो एज़ेस संवत् का प्रारम्भ १०३-४५ = ५८ ई० पू० होता है। बाद में यही संवत् मालव संवत् तथा विक्रम संवत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

एज़ेस प्रथम के बाद उसका बेटा एज़िलिसेस और उसके बाद उसका पोता एज़ेस द्वितीय राजगद्दी पर बैठा। एज़ेस द्वितीय का राज्य काल सन् १९ ई० में समाप्त हुआ।

गोंडोफ़र्निस—एज़ेस द्वितीय के बाद सन् १९ ई० में राज्य गोंडोफ़र्निस के हाथ में आया। इसने काबुल, कन्धार और सिंध पर पूरा पूरा अधिकार जमा लिया और आप पार्थियों के साम्राज्य से पूर्ण स्वाधीन हो गया। जैसा कि ऊपर लिखा गया है, इसने कम से कम ४५ ई० तक अवश्य राज्य किया। इसकी मृत्यु के बाद शीघ्र ही भारतवर्ष में पार्थियों के शासन का अन्त हो गया। गोंडो-फ़र्निस के बाद ही भारतवर्ष पर कुषणों का आक्रमण हुआ।

---

* गोंडोफ़र्निस का तख्त बहाई वाला शिलालेख। यह पेशावर के पास तख्त बहाई से प्राप्त हुआ था। (जरनल रायल एशि० सो० १९०३. पृ. ४०.)

कुषण राजवंश

कुषणों का पूर्व इतिहास—चीनी इतिहास-लेखकों के लेखों से पता लगता है कि यूची नाम की एक खाना-बदोश जाति शुरू शुरू में उत्तर-पश्चिमी चीन के आस पास रहती थी। ई० पू० १६५ के लगभग ह्वेगनू नाम की एक दूसरी खाना-बदोश जाति से इस जाति का घोर युद्ध हुआ। इस युद्ध में यूची लोग परास्त हुए और पश्चिम की ओर नई भूमि की खोज मे भागे। मार्ग मे वूसूं नाम की दूसरी खाना-बदोश जाति से उनका मुकाबला हुआ। वूसूं लोग यूचियों से हार गये। इसके पश्चात् यूचियों ने और थोड़ा पश्चिम मे बढ़कर शक लोगों पर आक्रमण किया और उन्हे दक्षिण की ओर भगा दिया। भागे हुए शक लोग अफ़गानिस्तान और पंजाब में घुसे। पर भगानेवाले यूची लोग भी अपनी जीती हुई भूमि पर जमने न पाये। वूसूं लोगो ने अपनी पहली हार का बदला लेने के लिये यूचियो पर आक्रमण किया और बड़ी वीरता से उन्हें वहाँ से मार भगाया। यूची लोग आगे बढ़कर ओक्स (अमू) नदी की तराई तथा बैक्ट्रिया (बलख) में जा घुसे। वहाँ उन लोगों ने खाना-बदोशी छोड़ दी और पाँच शाखाओ मे विभक्त होकर वहीं बस गये। उनकी एक शाखा या गरोह का नाम कुषण था, जिसका सरदार कुजूल कैडफाइसिज था। वह कैडफ़ाइसिज प्रथम के नाम से भी विख्यात है। उसने अपने प्रभाव से यूचियों की पाँचो शाखाओं को एक कर दिया। तभी से कुल यूची जाति कुषण कहलाने लगी।

कैडफ़ाइसिज़ प्रथम—कुल यूची जाति को एक में संघटित करने के बाद कैडफाइसिज प्रथम ने पार्थिया, काबुल और कंधार

जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। इस प्रकार उसका राज्य फ़ारस की सीमा से अफ़गानिस्तान तक फैल गया। चीनी इतिहास-लेखकों के लेखों से पता लगता है कि कैडफाइसिज़ प्रथम का राज्य केवल काबुल की घाटी तक था। कैडफाइसिज़ प्रथम के जो सिक्के मिले हैं, वे अधिकतर काबुल की घाटी में ही मिले हैं। उनकी बनावट आदि से ही मालूम होता है कि वे काबुल की घाटी में बनाये गये थे। उसके सिक्के अन्तिम यूनानी राजा हर्मेअस के सिक्कों की भद्दी नकल हैं। उसके कुछ सिक्कों में हर्मेअस और कैडफ़ाइसिज़ प्रथम दोनों के नाम मिलते हैं। उनमें एक ओर यूनानी अक्षरों में हर्मेअस का नाम तथा दूसरी ओर खरोष्ठी अक्षरों में "कुजुलकसस" लिखा है। इससे यह सिद्ध होता है कि वह हर्मेअस के बाद अर्थात् लगभग ई० पू० २५ के बाद हुआ। वह अस्सी वर्षों तक जीवित रहा; अतएव वह गोंडोफर्निस का समकालीन रहा होगा। गोंडोफर्निस का राज्य काल १९ ई० से ४५ ई० तक था। कैडफाइसिज़ प्रथम ने काबुल और कन्धार का अधिकार इसी गोंडोफर्निस के हाथ से छीना होगा। अतएव मोटे तौर पर कैडफाइसिज़ का राज्य काल लगभग २५ ई० पू० से लगभग ५० ई० पू० तक माना जाता है। उसके बाद उसका पुत्र वीम कैडफाइसिज़ उसका उत्तराधिकारी हुआ, जिसे कैडफाइसिज़ द्वितीय भी कहते हैं।

कैडफ़ाइसिज़ द्वितीय—यह बड़ा ही पराक्रमी था। इसने चीन की शाहज़ादी से विवाह करने का पैगाम भेजा। चीनियों ने इसके दूतों को अपमानित करके निकाल दिया। इस पर इसने ७०,००० सैनिकों को लेकर चीन पर चढ़ाई की। पर अन्त

में हारकर इसे चीन की अधीनता स्वीकृत करनी पड़ी। इसने एक एक करके पंजाब के कई यूनानी और शक राजाओं को जीत लिया; यहाँ तक कि बनारस तक का संपूर्ण उत्तरी भारत भी इसके अधीन हो गया। संभव है, इसका राज्य दक्षिण की ओर नर्बदा नदी तक रहा हो। मालूम होता है कि मालवा और पश्चिमी भारत के शक क्षत्रप इसे अपना अधीश्वर मानते थे। इसके सिक्के पूर्व की ओर बनारस तक और दक्षिण की ओर नर्बदा तक प्राय: कुल उत्तरी भारत में पाये गये हैं। यह पहला राजा था, जिसने सोने के सिक्के प्रचलित किये। इसके पहले के जितने सिक्के मिले हैं, वे सब प्राय: चाँदी या ताँबे के हैं। पर कैडफाइसिज द्वितीय के समय से बाद के सोने के सिक्के बहुत अधिक संख्या में पाये गये हैं। इसका कारण यह है कि उस समय हिन्दुस्तान का बहुत सा रेशम, मसाला, जवाहिरात आदि सौदागरी का माल रोम जाता था; और उसके बदले में वहाँ से बहुत सा सोना आता था। कैडफाइसिज द्वितीय के सिक्कों पर हाथ में त्रिशूल लिये हुए शिव की मूर्ति है, जिससे पता लगता है कि यह शिव का परम भक्त था। इसका पिता कैडफाइसिज प्रथम ८० वर्ष की अवस्था में मरा था। इससे कैडफ़ाइसिज़ द्वितीय अवश्य ही अधिक उम्र में गद्दी पर बैठा होगा। इसी लिये संभवत: उसने ३० वर्ष से अधिक राज्य भी न किया होगा। इसने काबुल की घाटी से आगे बढ़कर पंजाब अवश्य ६४ ई० के पहले ही जीत लिया होगा; क्योंकि पेशावर जिले में पंजतार नामक स्थान के पास जो शिलालेख* मिला है, वह इसी के समय का है। यह शिलालेख किसी

---

* Fleet—J. R. A. S., 1914. P. 372.

अज्ञात संवत् के १२२वें वर्ष का है। यह अज्ञात संवत् भी वही है, जो गोंडोफर्निस के तख्त्-बहाईवाले शिलालेख में है। उक्त पंजतारवाला शिलालेख "महाराज गुषन" (कुषण) के राज्य काल में खुदवाया गया था। इस "महाराज गुषन" का कोई नाम नहीं दिया गया है। पर संभवतः यह कैडफाइसिज़ द्वितीय रहा होगा। अतएव इस शिलालेख के आधार पर यह निश्चित होता है कि कैडफाइसिज़ द्वितीय ने १२२–५८ = ६४ ई० के पहले ही पंजाब जीत लिया था। तक्षशिला की खुदाई के समय सर जान मार्शल को मिट्टी के एक घड़े में चाँदी के २१ सिक्के मिले थे *। इनमें गोंडोफर्निस तथा वीम कैडफाइसिज़ दोनों के सिक्के थे। ऊपर कह आये हैं कि गोन्डोफर्निस ४५ ई० में राजगद्दी पर था और कैडफाइसिज़ प्रथम उसका समकालीन था। अतएव कैडफाइसिज़ द्वितीय का राज्य काल ४५ ई० के बाद निश्चित होता है। तक्षशिला से भगवान् बुद्ध के अस्थिशेष के साथ जो खरोष्ठी लेख प्राप्त हुआ था और जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है, उससे भी यही सिद्ध होता है। यह लेख एज़ेस प्रथम के १३६ वें वर्ष में लिखा गया था। एज़ेस का संवत् वही है, जो विक्रम संवत् के नाम से प्रसिद्ध है और जो ई० पू० ५८ से प्रारंभ होता है। यह लेख "महाराज राजातिराज देवपुत्र कुषाण" के राज्य काल का है और इसमें उसका उल्लेख भी है। १३६ में से ५८ निकाल देने पर ७८ ई० निकलता है; और यही वीम कैडफाइसिज़ के राज्य काल का अन्तिम वर्ष माना गया है। यह मत उन लोगों का है, जो यह

---

* Cambridge History of India, Vol I P 583.

कहते कि हैं उसके उत्तराधिकारी कनिष्क ने ७८ ई० में राज्य करना प्रारभ किया; और उसी ने अपना राज्य स्थापित करने की यादगार में सन् ७८ ई० से शक संवत् प्रचलित किया। अतएव मोटे तौर पर कैडफ़ाइसिज़ द्वितीय का राज्य काल ४५ ई० से ७८ ई० तक माना जाता है। मथुरा के अजायब घर में किसी कुषण वंशी राजा की एक क़द्दे-आदम मूर्ति रक्खी है। यह मूर्ति सिंहासन पर पैर लटकाये बैठी है। पैरों के बीच पादपीठ में एक शिलालेख है जिसके आधार पर श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल ने बहुत ही विद्वत्तापूर्ण युक्तियों से यह सिद्ध किया है कि यह मूर्ति वीम कैडफाइसिज़ की है *। उसी अजायब घर में कनिष्क की भी एक कद्दे आदम खड़ी हुई मूर्ति है, जिस पर उसका नाम खुदा है।

कनिष्क—कैडफाइसिज़ द्वितीय के बाद कनिष्क का नाम आता है। यह कैडफ़ाइसिज़ द्वितीय का नहीं, बल्कि वाझेष्क नामक किसी दूसरे कुषण राजा का पुत्र था। मालूम होता है कि यह उस वंश का नहीं था, जिस वश के कैडफ़ाइसिज़ नाम के राजा थे। अनुमान होता है कि उसका सम्बन्ध किसी दूसरे कुषण वंश से होगा। इस बात का कोई पता नहीं लगता कि राज्य का अधिकार कैडफाइसिज़ के हाथ से कनिष्क के हाथ में किस तरह गया। शक संवत्, जिसका प्रारंभ ७८ ई० से होता है, इसी कनिष्क का चलाया हुआ माना जाता है।

कनिष्क काल—कुषण राजाओं के शिलालेख ३ से ९९ वर्ष तक के पाये जाते हैं। इनमें से कनिष्क के लेख ३ से ४१ वर्ष

* Journal of the Behar and Orissa Research Society, March 1920, pp. 12–22.

तक के, वासिष्क के लेख २४ से २८ वर्ष तक के, हुविष्क के लेख ३३ से ६० वर्ष तक के और वासुदेव के लेख ७४ से ९८ वर्ष तक के हैं। इससे मालूम होता है कि या तो कनिष्क ने अपना नया संवत् चलाया, या पहले से चले आये हुए संवत् के सैंकड़े छोड़ दिये; क्योंकि कनिष्क के पूर्व किसी संवत् चलानेवाले राजा का तीन ही साल के लिये राज्य होना असंभव है। इसी लिये कनिष्क के काल-निर्णय के विषय में निम्नलिखित पाँच मत प्रचलित हैं।

(१) पहला मत यह है कि कनिष्क ने विक्रम संवत् चलाया। इस मत के पोषक मुख्यतः डाक्टर फ्लीट और केनेडी हैं। इनके मत से कनिष्क ई० पू० ५७ में गद्दी पर बैठा और उसी ने विक्रम संवत् चलाया। बाद में मालवा के लोगों ने इसे अपनाया और उनमें यह विक्रम के नाम से प्रचलित हुआ। डाक्टर फ्लीट के मत का मुख्य आधार एक बौद्ध दन्त-कथा है। इस दन्त-कथा के अनुसार बुद्ध के निर्वाण के ४०० वर्ष बाद कनिष्क राजा हुआ; अर्थात् वह ईसा के पूर्व प्रथम शताब्दी में वर्तमान था। जब कनिष्क ईसा के पूर्व प्रथम शताब्दी में माना गया और साथ ही यह भी माना गया कि उसने एक सवत् भी चलाया, तब जो संवत् ईसा के पूर्व प्रथम शताब्दी में प्रचलित हुआ, उससे सहज ही उसका सम्बन्ध जोड़ दिया गया। इसी लिये डाक्टर फ्लीट और उनके अनुयायी कनिष्क को ही विक्रम सवत् का प्रवर्तक मानने लगे। इसी की पुष्टि में केनेडी साहब कहते हैं कि चीन से जो रेशम युरोप में जाता था, वह वहाँ से कश्मीर, कश्मीर से काबुल, काबुल से फारस, और फिर फारस की खाड़ी से होकर युरोप में पहुँचता था। यह व्यापार

ई० पू० प्रथम शताब्दी में आरम्भ हुआ और इसी व्यापार के लिये कनिष्क ने सोने के सिक्के चलाये। इन सिक्कों पर केवल यूनानी अक्षर हैं। इसी से केनेडी साहब का अनुमान है कि ये सिक्के केवल व्यापार के लिये ढलवाये गये थे; क्योंकि पूर्वोक्त सब प्रदेशों के व्यापारी यूनानी भाषा जानते थे। इसी लिये कहा जाता है कि कनिष्क ई० पू० प्रथम शताब्दी में वर्तमान था और उसी ने विक्रम संवत् प्रचलित किया। पर डाक्टर फ्लीट का आधार केवल दन्त-कथा है। यह दन्त-कथा उन चीनी ऐतिहासिक लेखों के विरुद्ध है, जिनका उल्लेख कैडफाइसिज़ प्रथम तथा कैडफाइसिज़ द्वितीय के वर्णन में किया जा चुका है।

(२) दूसरा मत कनिंघम साहब का है। इस मत के अनुसार सेल्यूकस के संवत् से ४०० वर्ष छोड़कर कनिष्क तथा अन्य कुषण राजाओं के समय में काल-गणना की जाती थी। सेल्यूकस ई० पू० ३१२ में सिंहासन पर बैठा। अतः ४०३ में से ३१२ घटाकर ९१ ई० कनिष्क का राज्यारोहण काल मानना चाहिए।

(३) तीसरा मत विन्सेन्ट स्मिथ साहब का है। उनका कहना है कि लौकिक काल अथवा सप्तर्षि काल के ३००० वर्ष छोड़कर कुषण राजाओं के लेखों में काल-गणना की गई है। लौकिक काल का आरंभ ई० पू० २८७५ से होता है। अर्थात् कनिष्क का राज्य काल ३००३–२८७५ = १२८ ई० आता है। विन्सेन्ट स्मिथ ने सिक्कों के आधार पर यह भी लिखा है कि कनिष्क रोम के सम्राट् हेड्रिअन और मार्कस ओरेलिअस का समकालीन था; अतएव वह सन् १२० या १२५ ई० में राजगद्दी पर बैठा था। मार्शल साहब ने भी तक्षशिला की खुदाई में मिले

हुए सिक्कों और लेख के आधार पर निश्चय किया है कि कनिष्क ईसवी दूसरी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुआ। तक्षशिला में भगवान् बुद्ध के अस्थिशेष के साथ जो लेख मिला है, उसमें जिस "महाराज राजातिराज देवपुत्र कुषाण" का उल्लेख है, मार्शल साहब के मत से वह कैडफ़ाइसिज़ प्रथम ही है। क्योंकि पहले ही राजा का नाम न लिखा जाना संभव है। दूसरे या बाद के राजाओं के लिये अपने अपने नाम लिखना आवश्यक ही है. जिससे वे प्रथम राजा से भिन्न समझे जा सकें। अब यदि एज़ेस के १३६वें वर्ष में अर्थात् ७९ ई० में कैडफ़ाइसिज़ प्रथम राजा था और उसके पुत्र वीम कैडफ़ाइसिज़ क बाद यदि कनिष्क आया, तो कनिष्क का काल अवश्य ही ईसवी दूसरी शताब्दी का पूर्वार्द्ध ठहरता है।

(४) चौथा मत श्रीयुत देवदत्त रामकृष्ण भांडारकर का है। इस मत से शक संवत् मे से २०० निकालकर कुषण राजाओं के लेखों की काल-गणना की जानी चाहिए। इस मत के अनुसार कनिष्क २७८ ई० में राजा हुआ। भाण्डारकर के मत का मुख्य आधार मथुरा का एक शिलालेख है, जो २९९ वें साल में किसी महाराज राजातिराज के काल मे लिखा गया था। महाराज और राजातिराज ये दोनों उपाधियाँ एज़ेस प्रथम से वासुदेव कुषण तक के राजाओं की थीं। पर इनमें से कोई राजा मथुरा का स्वामी न था। जिनका राज्य मथुरा में था और जो "महाराज, राजातिराज" कहलाते थे, ऐसे चार ही राजा ज्ञात हैं—कनिष्क, वासिष्क, हुविष्क और वासुदेव। अलबेरूनी के लेखों से पता चलता है कि कनिष्क आदि राजा शाही नामक

कुल के थे। इन कुषण राजाओं के नाम भी शिलालेखों में "शाही शाहानुशाही" शब्दों सहित पाये जाते हैं। "देव पुत्रस्य, राजातिराजस्य, शाहेः" आदि इन्हीं राजाओं के नामों के साथ लगे हुए हैं। "देवपुत्र शाहि शाहानुशाहि" राजा के साथ समुद्रगुप्त की सन्धि होने का उल्लेख इलाहाबाद के स्तंभ पर भी है। इससे यह सिद्ध हो सकता है कि समुद्रगुप्त के समय में भी कुषण वंश के राजा वर्तमान थे। समुद्रगुप्त के पश्चात् इन राजाओं का नाम कहीं नहीं पाया जाता। समुद्रगुप्त के समय में कुषण वंश का अंतिम राजा वासुदेव राज्य करता रहा होगा। मथुरा के पूर्वोक्त लेख के अक्षर भी वासुदेव के अन्यत्र पाये हुए लेखों के अक्षरों से मिलते हैं। शक सं० ३०० के लगभग समुद्रगुप्त की मृत्यु हुई। इससे भाण्डारकर महाशय का यह अनुमान है कि मथुरा का लेख भी शक सं० २९९ में ही लिखा गया होगा; और उस समय वासुदेव का राज्य रहा होगा। यदि यह सच हो, तो वासुदेव के अन्य लेख, जो ७४ से ९८ वर्ष तक के पाये जाते हैं, अवश्य ही शक सं० २७४ से २९८ तक लिखे गये होंगे। अर्थात् कनिष्क शक सं० २०० (२७८ ई०) में गद्दी पर बैठा होगा।

(५) पाँचवाँ मत यह है कि कनिष्क ने शक संवत् प्रचलित किया। इस मत के अनुसार कनिष्क ७८ ई० में सिंहासन पर बैठा; और तभी से शक संवत् प्रचलित हुआ। शक क्षत्रपों में इसका प्रचार अधिक था; इससे कनिष्क का संवत् "शक संवत्" के नाम से विख्यात हुआ। इस मत के प्रधान पोषक श्रीयुक्त ओल्डेनबर्ग, टामस और राखालदास बैनर्जी हैं। कैडफाइसिज़ द्वितीय के वर्णन में इस मत का पूरी तरह से उल्लेख किया गया है;

और यही मत अन्य सब मतों से अधिक सयुक्तिक जँचता है। कनिष्क के लेख ४१ वें वर्ष तक के मिलते हैं। इससे पता लगता है कि उसने कम से कम ४१ वर्ष तक अवश्य राज्य किया। अतएव कनिष्क का राज्य काल सन् ७९ से १२० ई० तक निश्चित होता है।

कनिष्क का राज्य-विस्तार—कनिष्क के समय के लेखों और सिक्कों से तथा उसके सम्बन्ध की कथाओं से सूचित होता है कि उसका राज्य उत्तर-पश्चिमी भारत में विन्ध्य पर्वत तक था। उसके सिक्के पूरब मे बनारस और गाज़ीपुर तक पाये गये हैं। कनिष्क ने अपने राज्य के प्रारम्भ में कश्मीर और सिन्ध को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। कश्मीर में उसने बहुत से बौद्ध मन्दिर और मठ बनवाये। उसने कदाचित् पाटलिपुत्र पर भी आक्रमण किया था। कहा जाता है कि वह वहाँ से प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान्, कवि और दार्शनिक अश्वघोष को अपने साथ ले गया। उसकी राजधानी पुरुषपुर या पेशावर थी। वहाँ उसने बहुत से बौद्ध स्तूप और विहार निर्माण कराये। इनमे से बहुत से स्तूप और विहार पुरातत्व विभाग की ओर से खुदवाये गये है और उनमें से बहुत सी अलभ्य ऐतिहासिक वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं। कनिष्क ने चीनी तुर्किस्तान के काशग़र, यार-क़न्द और खुतन नामक प्रान्तों को भी जीतकर अपने राज्य मे मिला लिया। वहाँ से वह कुछ चीनी राजकुमारों को भी ओल में ले आया था। इस प्रकार उसका राज्य चीनी तुर्किस्तान से दक्षिण में नर्मदा नदी तक था। काबुल, कश्मीर, उत्तरी हिंदुस्तान आदि प्रायः सभी उसके राज्य के अन्तर्गत थे। कहा जाता है कि उसने पार्थिया पर भी आक्रमण किया था।

कनिष्क का धर्म—कनिष्क ने अपने जीवन के उत्तर भाग में बौद्ध धर्म ग्रहण किया। बौद्ध ग्रन्थों में उसकी बड़ी प्रशंसा की है और वह "द्वितीय अशोक" कहा गया है। उसने बौद्ध धर्म का बहुत प्रचार किया। पर कनिष्क के सिक्कों से पता चलता है कि वह बौद्ध, हिन्दू, यूनानी और पारसी सभी धर्मों का आदर करता था। उसके सिक्कों पर हीलिओस (सूर्य), सलीनी (चन्द्र), और हेराक्लीज़ नामक यूनानी देवताओं, माओ (चन्द्र), अग्नि, अथो, मीरो आदि पारसी देवताओं तथा शिव और बुद्ध की मूर्तियाँ पाई जाती हैं। संभव है, कनिष्क बौद्ध धर्म में आने के बाद भी अन्य धर्मों के देवताओं को मानता रहा हो। कनिष्क ने बौद्ध धर्म कब ग्रहण किया, यह निश्चय करना असंभव है; पर यह घटना अवश्य उस समय हुई होगी, जब वह राजगद्दी पर कुछ वर्षों तक रह चुका होगा। कनिष्क और उसके उत्तराधिकारी हुविष्क के सिक्कों से पता चलता है कि उन दिनों बौद्ध धर्म में बड़ा परिवर्तन हो गया था और उस पर अन्य धर्मों तथा संप्रदायों का बहुत प्रभाव पड़ने लगा था। यह प्रभाव बौद्ध धर्म के महायान पन्थ में पूरी तरह से दिखलाई पड़ता है। कनिष्क के समय लोगों में इसी महायान पन्थ का प्रचार था।

कनिष्क के समय की बौद्ध महासभा—बौद्ध धर्म के इतिहास में कनिष्क का राज्य काल विशेषतः इसलिये प्रसिद्ध है कि उसके संरक्षण में बौद्ध धर्म की चौथी महासभा हुई थी। इसके पहले तीन महासभाएँ भिन्न भिन्न समयों में हो चुकी थीं, जिनका हाल आगे (परिशिष्ट (क) में) दिया जायगा। इस महासभा का हाल तिब्बती, चीनी और मंगोल ग्रन्थकारों के लेखों से विदित

होता है। लंका के बौद्ध ग्रन्थों में इसका हवाला तक नहीं है। कहा जाता है कि कनिष्क अपने राज-कार्य से समय मिलने पर एक भिक्षु से बौद्ध ग्रन्थ पढ़ा करता था। उन ग्रन्थों में उसने भिन्न भिन्न बौद्ध संप्रदायों के परस्पर विरोधी सिद्धान्त देखकर अपने गुरु, पार्श्व से प्रस्ताव किया कि बौद्ध धर्म के टकसाली सिद्धान्तों का संग्रह करके यदि उन पर प्रामाणिक भाष्य लिखा जाय, तो बहुत अच्छा हो। पार्श्व ने यह बात मान ली और बौद्ध धर्म के विद्वानों की एक बड़ी सभा करने का प्रबन्ध किया गया। पर प्रतीत होता है कि वास्तव में केवल हीनयान पन्थ के सर्वास्ति-वादिन् सम्प्रदाय के विद्वान् इसमें थे। यह महासभा कश्मीर की राजधानी में की गई। इसके सभापति वसुमित्र और उपसभा-पति अश्वघोष चुने गये। इसमे ५०० विद्वान् उपस्थित थे। इन विद्वानों ने प्राचीन समय के समस्त बौद्ध ग्रन्थों को अच्छी तरह देख भालकर बड़े परिश्रम से त्रिपिटक पर प्रामाणिक महा-भाष्य रचे। जब महासभा का कार्य समाप्त हुआ, तब जो महा-भाष्य उसमें रचे गये थे, वे ताम्रपत्र पर नकल करके एक ऐसे स्तूप में रक्खे गये, जो कनिष्क की आज्ञा से केवल इसी लिये बनाया गया था। संभव है, ये बहुमूल्य ग्रन्थ अब भी श्रीनगर के पास किसी स्तूप के नीचे पड़े हों और भाग्यवश कभी मिल जायँ।

कनिष्क की मृत्यु—कहा जाता है कि जब कनिष्क अन्तिम बार उत्तर की ओर अपनी सेना के साथ धावा कर रहा था, तब उसके सेनापतियों ने आपस में षड्यन्त्र रचकर उसे मार डाला; क्योंकि वे युद्धों में उसके साथ बाहर रहते रहते ऊब गये थे। जिस समय हिन्दुस्तान के बाहर दूर दूर के देश जीतने में लगा था, उस

समय भारतवर्ष के राज्य-शासन का सूत्र पहले उसके प्रथम पुत्र वासिष्क और तत्पश्चात् उसके द्वितीय पुत्र हुविष्क के हाथ में था। यह बात कनिष्क, वासिष्क और हुविष्क के शिलालेखों से सिद्ध होती है। कनिष्क के लेख ३ से ४१ वर्ष तक के, वासिष्क के लेख २४ से २९ वर्ष तक के और हुविष्क के लेख ३३ से ६० वर्ष तक के मिलते हैं। जिस समय वे अपने पिता की अनुपस्थिति मे प्रतिनिधि के तौर पर शासन करते थे, उस समय भी वे "महाराज राजातिराज देवपुत्र शाहि" आदि राजकीय उपाधियाँ लगा सकते थे। मालूम होता है कि वासिष्क की मृत्यु कनिष्क के पहले ही हुई; क्योंकि उसके शिलालेख केवल २४ से २९ वर्ष तक के मिलते हैं। अतएव सिद्ध होता है कि कनिष्क के बाद हुविष्क ही गद्दी पर बैठा; क्योंकि उसके लेख ३३ से ६० वर्ष तक के मिलते हैं। इसके सिवा वासिष्क का कोई सिक्का अब तक नहीं मिला; पर हुविष्क के नाम से बहुत सिक्के मिले हैं, जो उसने कनिष्क के बाद ही राज्याधिकार ग्रहण करने पर चलाये होंगे।

वासिष्क—इसका एक महत्वपूर्ण लेख मथुरा के अजायब घर में है। यह लेख पत्थर के एक यूप (यज्ञ-स्तंभ) पर है, जो मथुरा के पास ईसापुर में मिला था। पत्थर का यह स्तंभ कोई २० फुट ऊँचा है। इस स्तंभ पर विशुद्ध संस्कृत में एक लेख है, जिस से पता लगता है कि यह यूप "महाराज राजातिराज देवपुत्र शाहि वासिष्क" के २४ वें राज्य-वर्ष में स्थापित किया गया था। इस से सूचित होता है कि वासिष्क का राज्य-काल कनिष्क के राज्य-काल के अन्तर्गत था। इस के राज्य-काल का एक खण्डित शिलालेख साँची में तथा एक और लेख मथुरा में मिला है।

हुविष्क—कनिष्क के पश्चात् उसका पुत्र हुविष्क या हुष्क कुषण साम्राज्य का अधिपति हुआ। उसके शासन की घटनाओं के बारे में कुछ अधिक ज्ञात नहीं है। मालूम होता है कि कनिष्क के बाद उसने साम्राज्य को सुरक्षित रक्खा। उसने कश्मीर मे अपने नाम से "हुष्कपुर" नामक नगर भी बसाया, जिसके स्थान पर आजकल उष्कूर नामक छोटा ग्राम बसा हुआ है। यहाँ पर एक प्राचीन स्तूप के भग्नावशेष अब तक पाये जाते हैं। जब ह्वेनत्सांग कश्मीर गया था, तब इसी हुष्कपुर के विहार में ठहरा था। मथुरा में एक बौद्ध विहार भी उसी के नाम से था। उसके सिक्के कनिष्क के सिक्को से भी अधिक संख्या में और अधिक प्रकार के पाये गये है। उसके सिक्कों पर यूनानी, ईरानी और भारतीय तीनों देवताओं के चित्र मिलते हैं। पर उसका एक भी सिक्का ऐसा नहीं मिला, जिस पर बुद्ध की मूर्ति या उन का नाम हो। उसके आठ शिलालेख ३३ से ६० वर्ष तक के पाये गये है। अतएव इसने कदाचित् १२० से १४० ई० तक राज्य किया।

वासुदेव और कुषण साम्राज्य का अन्त—हुविष्क के बाद वासुदेव राजगद्दी पर बैठा। इसके समय में कुषणो का साम्राज्य छिन्न भिन्न होने लगा था। भारतवर्ष मे कुषण साम्राज्य का अंत किस तरह हुआ, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। पर इसमे सन्देह नहीं कि हुविष्क अन्तिम सम्राट् था, जिसने कुषणो के साम्राज्य को पूरी तरह से सुरक्षित रक्खा। कुषण साम्राज्य के अधःपतन का पता विशेष कर सिक्कों से चलता है। वासुदेव के पश्चात् उसके उत्तराधिकारियों के सिक्के धीरे धीरे ईरानी ढंग के होने लगे, जिससे पता लगता है कि वासुदेव के बाद उसके उत्त-

राधिकारियों के समय में ईरान के सस्सानियन बादशाहों ने हिन्दुस्तान पर हमला करके कदाचित् अपना राज्य यहाँ स्थापित किया। कुछ सस्सानियन सिक्के भी पाये गये हैं, जो वासुदेव के सिक्कों से बिलकुल मिलते जुलते हैं। इसके पश्चात् छोटे छोटे कुषण राजा काबुल और उसके आस पास के प्रान्तों में बहुत दिनो तक राज्य करते रहे; पर पाँचवीं शताब्दी मे हूणों ने हमला करके उन्हें बिलकुल नेस्त-नाबूद कर दिया। वासुदेव के नाम से सूचित होता है कि कुषण राजा बाद को पूरे हिन्दू हो गये थे; यहाँ तक कि वे अपना नाम भी हिन्दू ढंग का रखने लगे थे। यद्यपि वासुदेव के नाम से सूचित होता है कि वह कदाचित् वैष्णव था, पर उसके सिक्कों पर नन्दी सहित शिव की मूर्ति है। उसके शिलालेख ७४ से ९८ वर्ष तक के पाये गए हैं; अतएव हुविष्क के बाद मोटे तौर पर उसने ४० वर्षों तक राज्य किया। इस हिसाब से उसका राज्य-काल १४०—१८० ई० होता है।

ईसा की तीसरी शताब्दी अंधकारमय—इस बात का एक भी चिह्न नहीं है कि वासुदेव की मृत्यु के बाद कोई सम्राट् या बड़ा राजा रहा हो। मालूम होता है कि कुषण साम्राज्य का अधः-पतन होते ही उत्तरी भारत छोटे छोटे स्वतन्त्र राज्यों में बँट गया। इसी समय आन्ध्र राजाओं का भी अधःपतन हुआ। विष्णु पुराण मे अभीर, गर्दभिल, शक, यवन, बाह्लीक आदि विदेशी राजवंशो के नाम मिलते हैं, जो आन्ध्रों के बाद राज्याधिकारी हुए थे। ये राजवंश अधिकतर एक दूसरे के समकालीन थे। इनमे से कोई राजवंश ऐसा न था जो अन्य वंशों पर प्रभुत्व या दबाव रख सकता। अस्तु; ईसवी तृतीय शताब्दी मे जितने राज-

वंश हुए, उनके बारे में किसी बात का ठीक पता नहीं है। इसी लिये कुषण साम्राज्य के अन्त और गुप्त साम्राज्य के उदय के बीच का समय अर्थात् मोटे तौर पर ईसवी तीसरी शताब्दी भारतवर्ष के इतिहास का अन्धकार युग कहलाता है। चौथी शताब्दी के प्रारम्भ में फिर प्रकाश होता है और गुप्त साम्राज्य के उदय से भारतवर्ष की घटनाओं का सिलसिलेवार इतिहास मिलने लगता है।
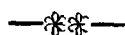
दूसरा अध्याय

प्रजातन्त्र या गण राज्य

हम पहले खण्ड के आठवें अध्याय में कह आये हैं कि प्राचीन बौद्ध काल के प्रजातन्त्र राज्य, चाणक्य की कुटिल नीति से, धीरे धीरे मौर्य साम्राज्य में मिला लिये गये और उनका स्वाधीन अस्तित्व सदा के लिये नष्ट हो गया। पर जिस सहयोग के भाव की बदौलत इन सब प्रजातन्त्र राज्यों का प्रादुर्भाव हुआ था, वह उत्तरी भारत की स्वाधीनता-प्रेमी जातियों में इतना बद्ध-मूल था कि किसी सम्राट् या मन्त्री की कुटिल नीति से लुप्त न हो सकता था। अतएव मौर्य साम्राज्य का पतन होते ही नये नये प्रजातन्त्र राज्य सिर उठाने लगे। सिक्कों से पता लगता है कि मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद एक ही शताब्दी के अन्दर यौधेय, मालव, वृष्णि, आर्जुनायन, औदुम्बर, कुणिन्द, शिबि आदि कई प्रजातन्त्र राज्यों का प्रादुर्भाव हो गया। सिक्कों और शिलालेखों के आधार पर इन प्रजातंत्र राज्यों का विवरण यहाँ दिया जाता है। पर यह कह देना उचित जान पड़ता है कि प्राचीन प्रजातन्त्र राज्यों के लिये कौटिलीय अर्थशास्त्र तथा बौद्ध ग्रन्थों में "संघ" शब्द आया है। पर जब बुद्ध भगवान् ने अपने भिक्षुओं के समुदाय का नाम "संघ" रक्खा, तब इस शब्द का राजनीतिक अर्थ जाता रहा। बाद को प्रजातन्त्र राज्यों के लिये संघ के बदले गण शब्द का व्यवहार होने लगा; और इसी लिये सिक्कों में

"मालव-गण" "यौधेय-गण" आदि प्रयोग मिलते हैं। मौर्य काल के बाद के मुख्य गण राज्यों का विवरण यहाँ दिया जाता है।

यौधेय गण—पाणिनि के ५-३-११४ और ५-३-११७ सूत्रों से पता लगता है कि पाणिनि के समय में यौधेय लोगों का "आयुधजीवि संघ" था; अर्थात् वे शस्त्र के बल से जीविका निर्वाह करते थे। उनका विशेष वृत्तान्त केवल सिक्कों और शिलालेखों से मिलता है। उनका प्राचीन से प्राचीन सिक्का लगभग ई० पू० १०० का है *। उनके सब से प्राचीन सिक्कों पर केवल "यौधेयन" (अर्थात् "यौधेयों का") लिखा मिलता है। बाद को उनके सिक्कों पर "यौधेयगणस्य जय" लिखा जाने लगा। यौधेयों की शक्ति का पता रुद्रदामन् के गिरनारवाले शिलालेख से लगता है †। उसमें यौधेयों के बारे में लिखा है— "सर्वक्षत्राविष्कृतवीरशब्दजातोत्सेकाविधेयानां यौधेयानाम" अर्थात् "यौधेय सब क्षत्रियों में वीरता प्रकट करके उचित अभिमान के भागी हुए हैं"। रुद्रदामन् यौधेयों का शत्रु था; अतएव शत्रु के मुख से प्रशंसित होना वास्तविक शक्ति का सूचक है। उक्त शिलालेख में लिखा है कि रुद्रदामन् ने यौधेयों को समूल नष्ट कर दिया था। पर सिक्कों और शिलालेखों से पता लगता है कि वे इस धक्के से किसी तरह सँभल गये और ईसवी चौथी शताब्दी तक बने रहे। यौधेयों का नाम समुद्रगुप्त के इलाहाबाद-वाले शिलालेख में भी आया है। उससे सूचित होता है कि वे समुद्रगुप्त को कर देते थे और उसे अपना सम्राट् मानते थे।

---

* Rapson's Indian Coins, p. 15.
† Epigraphia Indica VIII., pp. 44-47.

यौधेयों का राज्य कहाँ तक फैला हुआ था, इसका पता उन के शासनों और शिलालेखों से लगता है। उनका एक शिलालेख भरतपुर रियासत के विजयगढ़ नामक स्थान में और उनके नाम की मिट्टी की मुहरें लुधियाना जिले के सोनैत नामक स्थान में पाई गई हैं। उनके सिक्के प्रायः पूर्वी पंजाब तथा सतलज और जमुना के बीचवाले प्रदेश में पाये जाते हैं। अतएव उनका राज्य मोटे तौर पर सतलज के दोनों किनारों से पूरब की ओर यमुना नदी तक और दक्षिण की ओर राजपूताने तक था। यौधेय लोग अपने मुखिया या प्रधान को "महाराज" और "महासेनापति" कहते थे। "महाराज" या "महासेनापति" लोगों के द्वारा चुना जाता था।

मालव गण—पाणिनि के समय में मालव लोगों का भी "आयुध-जीवि संघ" था; अर्थात् वे पंजाब मे सिपहगिरी करते थे*। पाणिनि के समय के मालवगण कदाचित् उन मालवों के पूर्व पुरुष थे, जिन्हें सिकन्दर ने जीता था। जयपुर रियासत के "नागर" नामक नगर के पास एक प्राचीन स्थान पर मालवों के करीब छः हजार सिक्के मिले हैं। उन सिक्कों पर "मालवाहृण जय", "मालवानां जय" और "मालव गणस्य जय" लिखा है। कुछ सिक्को पर "मपय", "मजुप." "मगजस" आदि शब्द भी लिखे हैं, जो कदाचित् मालव गण के सरदारों या मुखियों के नाम हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि जिन मालवों ने ये सिक्के चलाये थे, वे वही मालव हैं या नहीं, जिनका उल्लेख पाणिनि ने अष्टाध्यायी में किया है।

इन सिक्कों की प्राचीनता के बारे में पुरातत्व-पण्डितों में मत-

* Indian Antiquary 1913, p. 200.

भेद है। कारलाइल और कनिंघम साहेब का मत है कि ये सिक्के लगभग ई० पू० २५० के हैं; पर स्मिथ और रैप्सन का मत है कि ये ई० पू० १५० के पहले के नहीं हैं*। अंतिम मत ठीक मालूम होता है; क्योंकि उनमें से किसी सिक्के पर अशोक के समय का लेख नहीं है।

ईसवी प्रथम शताब्दी में मालव लोगों की मुठभेड़ क्षत्रप नहपान के सेनापति और दामाद उषवदात से हुई, जिसमें कदाचित् मालव लोग हार गये। उषवदात ने अपने नासिकवाले शिलालेख मे इस विजय का उल्लेख बड़े अभिमान के साथ किया है।

बाद के शिलालेखों मे मालव गण के सम्बन्ध में कुछ ऐसे वाक्य आये हैं, जो विक्रम संवत् की तिथियाँ सूचित करते हैं। वे वाक्य इस प्रकार हैं—

(१) मालवानां गणस्थित्या इ०

(२) मालवगणस्थितिवशात् इ०

(३) श्रीमालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसंज्ञिते इ०।

डाक्टर टामस और डाक्टर भंडारकर के मत से उक्त वाक्यों के "गण" शब्द का अर्थ समूह है; और उनका कहना है कि विक्रम सम्वत् इन्हीं मालवो का चलाया हुआ है। मालवों ने जब अपना स्वतन्त्र गण-राज्य स्थापित किया, तब उसकी यादगार

---

* Cunningham's Archaeological Survey Report. VI. p. 182 and Smith's Catalogue of Coins in the Indian Museum. p 162

† Luder's List of Brahmi Descriptions in Epigraphia Indica Vol. X. Appendix, No, 1131.

में उन्होंने यह विक्रम सम्वत् भी चलाया *। पर डाक्टर फ्लीट † और श्रीयुत भांडारकर ‡ का मत है कि उक्त वाक्यों से केवल यह सूचित होता है कि यह संवत् मालवों में प्रचलित था। इन वाक्यों से यह किसी तरह नहीं सूचित होता कि उन्होंने यह संवत् अपना स्वतन्त्र गण राज्य स्थापित करने के समय चलाया था। पर यह संवत् उनमें प्रचलित था, इसलिये इसका नाम मालव संवत् पड़ गया। मालव लोग चंबल और बेतवा नदियों के बीचवाले प्रदेश में रहते थे।

मालवों का राजनीतिक महत्व और स्वाधीन राज्य ईसवी चौथी शताब्दी तक बना रहा। अन्त में वे समुद्रगुप्त से पराजित हुए और गुप्त साम्राज्य मे उन्होंने भी वही स्थान ग्रहण किया, जो यौधेयों ने किया था।

आर्जुनायन—आर्जुनायनो के थोड़े से सिक्के पाये गये हैं। उन पर "आर्जुनायनान" लिखा है। इन सिक्कों का समय ई० पू० प्रथम शताब्दी माना जाता है +। आर्जुनायनों का उल्लेख समुद्रगुप्त के इलाहाबादवाले शिलालेख में भी आया है। वे लोग भी समुद्रगुप्त से परास्त हुए थे; और उन्होंने भी यौधेयो तथा मालवो की तरह गुप्त साम्राज्य की अधीनता स्वीकृत की थी। आर्जुनायनों के सिक्के कहाँ मिले थे, इसका कहीं कोई उल्लेख नहीं है।

---

* Indian Antiquary, 1913 p. 199.

† J. R A. S. 1914 pp. 413, 745, 1010,
Ibid 1915, pp. 138, 502

‡ Indian Antiquary 1913 p. 162.

+ Rapson's Indian Coins. p. 11.

पर समुद्रगुप्त के शिलालेख में आर्जुनायनों का नाम मालवों और यौधेयों के बीच में आया है *। इससे पता लगता है कि उनका राज्य भरतपुर और नागर के बीच में रहा होगा।

औदुम्बर—औदुम्बरों का उल्लेख पाणिनीय व्याकरण में भी आया है। उनके बहुत से सिक्के पाये गये हैं, जो निम्नलिखित तीन भागों में बाँटे जा सकते हैं—

(क) वे सिक्के, जिन पर केवल "औदुम्बर" शब्द लिखा है।

(ख) वे सिक्के, जिन पर राजा के नाम के साथ "औदुम्बर" लिखा है।

(ग) वे सिक्के, जिन पर केवल राजा का नाम लिखा है।

श्रीयुत राखालदास बैनर्जी तथा रैप्सन साहेब ने लेख के आधार पर इन सिक्कों का समय ई० पू० प्रथम शताब्दी माना है†। ये सिक्के उत्तरी पंजाब में पठानकोट, काँगड़ा और होशियारपुर जिलों में तथा ज्वालामुखी के पास पाये गये थे। अतएव औदुम्बरों का राज्य उत्तर और पश्चिम की ओर रावी तक तथा दक्षिण और पूर्व की ओर काँगड़े तथा कुल्लू तक फैला हुआ था।

कुणिन्द—कुणिन्दों का उल्लेख महाभारत और विष्णु पुराण में है। पर उनके बारे में जो कुछ पता लगता है, वह केवल सिक्कों से लगता है। उनके कुछ सिक्कों पर केवल "कुणिन्द" लिखा है; पर कुछ सिक्कों में "कुणिन्द" के साथ साथ राजा का नाम भी मिलता है। जिन सिक्कों पर केवल "कुणिन्द" लिखा है,

---

* "मालवार्जुनायनयौधेयमद्रक" इ० (समुद्रगुप्त का शिलालेख)

† J. A. S. B. 1914, p. 249; Rapson's Indian Coins, p. 11.

वे दूसरे सिक्कों की अपेक्षा प्राचीन माने जाते हैं। उनके दूसरे सिक्कों का समय कनिंघम के मत से ई० पू० १५० * तथा रैप्सन के मत से ई० पू० १०० † है। अतएव उनके प्राचीन से प्राचीन सिक्कों का समय ई० पू० दूसरी शताब्दी माना जाता है। उनका राज्य मोटे तौर पर गंगा और यमुना के उत्तरी दोआब में हिमालय पर्वत की घाटी में फैला हुआ था; अर्थात् उनके राज्य की पूर्वी सीमा गंगा, दक्षिणी और पश्चिमी सीमा हस्तिनापुर, सहारनपुर और अम्बाला, उत्तरी और पूर्वी सीमा हिमालय की तराई तथा उत्तरी और पश्चिमी सीमा अम्बाले से हिमालय की तराई तक थी। विष्णु पुराण में "कुलिन्दोपत्यका" शब्द आया है, जिससे सूचित होता है कि "कुणिन्द" या "कुलिन्द" लोग हिमालय की तराई में रहते थे।

वृष्णि—सिर्फ एक सिक्के में वृष्णि गण का नाम आया है। उस सिक्के पर जो लेख है, उसे कनिंघम साहब ने इस प्रकार पढ़ा है—"वृष्णिराजज्ञा गणस्य भुबरस्य"‡। पर बर्गी और रैप्सन ने वह लेख इस प्रकार पढ़ा है—"वृष्णिराजज्ञा गणस्य त्रतरस्य" +। रैप्सन के मत से "राजज्ञ" शब्द का वही अर्थ है, जो "क्षत्रिय" शब्द का है। अतएव यह सिक्का "वृष्णि" नाम के क्षत्रिय गण का है। वृष्णि गण का उल्लेख बाण-कृत "हर्षचरित"

* Archaeological Survey Report, XIV. p. 134.

† Rapson's Indian Coins. p. 12.

‡ Cunningham's Coins of Ancient Indian. p. 70.

+ J. R. A. S. 1900, pp. 416, 420.

में भी आया है। कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी "वृष्णि संघ"* का उल्लेख है; पर वहाँ कौटिल्य का तात्पर्य उन प्राचीन वृष्णियों से है, जिनके वंश में श्रीकृष्ण भगवान् हुए थे। वृष्णियों का राज्य काल ई० पू० प्रथम या द्वितीय शताब्दी माना जाता है।

शिबि—चित्तौर से ११ मील उत्तर "तम्बावति नागरि" नामक एक प्राचीन नगर का ध्वंसावशेष है। इस नगर के पास कुछ बहुत ही प्राचीन सिक्के पाये गये हैं। उनमे से कुछ सिक्के "शिबि" लोगों के हैं। उन सिक्कों पर यह लेख खुदा हुआ है—"मझमिकाय सिबिजनपदस" अर्थात् "मध्यमिका के सिबि जानपदों का"। जानपद का अर्थ गण या जनसमूह भी है। सिक्कों से पता चलता है कि शिबि लोग "मध्यमिका" के थे। पतंजलि के महाभाष्य मे मध्यमिका नगरी का उल्लेख है। "तम्बावति नागरि" ही कदाचित् प्राचीन "मध्यमिका" है। "शिबि" लोगों के सब से प्राचीन सिक्के ई० पू० प्रथम या द्वितीय शताब्दी के हैं †।

ऊपर जिन गण राज्यों का उल्लेख किया गया है, वे अपने समय में बड़े शक्ति-सम्पन्न थे। उस समय के राजनीतिक समाज में उनकी बड़ी धाक थी। देश का बहुत सा भाग उनके शासन में था। यौधेय लोगों ने अपनी प्रबल राजनीतिक शक्ति के कारण बहुत प्रसिद्धि प्राप्त कर ली थी। वे पंजाब के एक बहुत बड़े हिस्से पर राज्य करते थे। इसी तरह मालव गण का भी बड़ा महत्त्व

---

* अर्थशास्त्र, पृ० १२.

† Rapson's Indian Coins. p. 12; Archaeological Survey Report. VI. pp 200-207.

था। यह उनके महत्त्व का ही परिणाम है कि वे जिस प्रान्त में जाकर बसे, वह प्रान्त ही उनके नाम से "मालवा" कहलाने लगा। दोनों गण राज्यों ने विदेशी शक क्षत्रपों से युद्ध किया था। मालवों ने नहपान की सेना का और यौधेयों ने रुद्रदामन् की सेना का पूरा पूरा मुकाबला किया था। पर दोनों ही पराजित हो गये। कदाचित् अन्य गण राज्यों को भी विदेशियों का सामना करना पड़ा था; और उनकी भी वही हालत हुई, जो यौधेयों तथा मालवों की हुई थी। इन गण राज्यों के अधःपतन और नाश का एक कारण गुप्त साम्राज्य का उदय भी था। मौर्य साम्राज्य के पहले से ही हर एक सम्राट्, राजनीतिज्ञ और साम्राज्यवादी का यही उद्देश्य था कि ये प्रजातन्त्र या गण राज्य सदा के लिये निर्मूल हो जायँ। चन्द्रगुप्त मौर्य अपने कुटिल मन्त्री चाणक्य की सहायता से इन प्रजातन्त्र राज्यों को छिन्न भिन्न करने में बहुत कुछ सफल हुआ था। गुप्त वंश के सम्राट् भी इसी सिद्धान्त पर चलते थे। समुद्र-गुप्त के इलाहाबादवाले शिलालेख से पता लगता है कि उस प्रतापी सम्राट् ने "यौधेय", "मालव" और "आर्जुनायन" इन तीन गणों को जीतकर अपने साम्राज्य में मिला लिया था। इस प्रकार बाहर से विदेशियों के आक्रमण के कारण तथा अन्दर से साम्राज्य के उदय और वृद्धि के कारण प्राचीन भारत के इन प्रजा-तन्त्रों या गण राज्यों का सदा के लिये लोप हो गया।

—:※:—
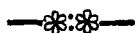
तीसरा अध्याय

धार्मिक दशा

बौद्ध धर्म की स्थिति—अशोक की मृत्यु से कनिष्क के समय तक अर्थात् मोटे तौर पर तीन शताब्दियों तक बौद्ध धर्म उत्तर की ओर बराबर बढ़ता गया। कहा जाता है कि अशोक के बाद शुंग राजाओं ने बौद्धों पर बड़े बड़े अत्याचार किये; पर फिर भी बौद्ध धर्म बराबर उन्नति ही करता रहा। वह केवल हिन्दुस्तान के अन्दर ही न रहा, बल्कि उस की सीमा पार करके बलख और चीन तक भी फैल गया।

बौद्धों पर पुष्यमित्र का अत्याचार—यह कहना असंभव है कि शुंग वंश के राजा पुष्यमित्र ने बौद्धों पर कितना अत्याचार किया। तारानाथ ने तिब्बती भाषा में बौद्ध धर्म का जो इतिहास ग्रन्थ लिखा है, उससे पता लगता है कि पुष्यमित्र नामक शुंग वंशी राजा ने मध्य देश से जालन्धर तक अनेक मठ जलवा दिये और न जाने कितने बौद्ध विद्वानों तथा भिक्षुओं को मरवा डाला। "दिव्यावदान" में लिखा है कि पुष्यमित्र ने बौद्ध धर्म को निर्मूल करने की इच्छा से पाटलिपुत्र का "कुक्कुटाराम" नामक विहार बिलकुल बरबाद कर दिया और शाकल (कदाचित् स्यालकोट) के आस पासवाले प्रांत में जो भिक्षु रहते थे, उन्हें मरवा डाला। संभव है, बौद्ध ग्रंथकारों का यह वर्णन अत्युक्तियुक्त हो; पर इसमें कुछ सार भी अवश्य है।

पश्चिमोत्तर भारत में बौद्ध धर्म—ई० पू० प्रथम और द्वितीय शताब्दी में मध्य देश में बौद्ध धर्म की चाहे जो दशा रही हो, पर पश्चिमोत्तर भारत के यवन या यूनानी राजाओं के राज्यों में उसका खूब प्रचार हो रहा था। प्रसिद्ध यूनानी राजा मिनैंडर (मिलिन्द) बौद्ध धर्म का अनुयायी था। स्थविर नागसेन ने उसे अपने उपदेशों से बौद्ध धर्म में दीक्षित किया था। यही एक ऐसा यूनानी राजा है, जिसका नाम भारतवर्ष के प्राचीन साहित्य में मिलता है। "मिलिन्द पन्हो" नामक पाली ग्रन्थ में मिलिन्द अपने गुरु स्थविर नागसेन से शंकाएँ तथा प्रश्न करता है; और नागसेन उन शंकाओं का समाधान करता है।

बौद्ध धर्म के अठारह संप्रदाय—बुद्ध के जीवन काल से ही बौद्ध धर्म में बराबर मत-भेद उठते और भिन्न भिन्न संप्रदाय निकलते रहे हैं। उन संप्रदायों के मतभेद दूर करने के लिये समय समय पर बौद्ध भिक्षुओं की महासभाएँ होती रही हैं। अशोक के समय में भी इसी तरह की एक महासभा हुई थी। उस के बाद बौद्ध धर्म फिर धीरे धीरे अनेक संप्रदायों में बँटने लगा। यहाँ तक कि कनिष्क के पहले बौद्ध धर्म में निश्चित रूप से अठारह संप्रदाय हो गये थे। कदाचित् इन अठारहो संप्रदायों को एक करने और उनके मतभेद दूर करने के लिये ही कनिष्क के समय में बौद्ध धर्म की चौथी महासभा हुई थी।

कनिष्क के समय की बौद्ध महासभा—बौद्ध धर्म के इतिहास में कनिष्क के राज्य-काल से एक नया ही युग प्रारंभ होता है। उसका राज्य काशगर, यारकन्द, खुतन, काबुल, कन्धार, सिंध, पश्चिमोत्तर भारत, कश्मीर और मध्य देश में फैला हुआ

था। चीन और तिब्बत के बौद्ध ग्रंथों में उसकी बहुत प्रशंसा है और उसकी तुलना अशोक से की गई है। उसने बौद्ध धर्म के प्रचार में बहुत सहायता दी थी। उसके समय में बौद्ध धर्म की चौथी महासभा हुई। इस सभा के सम्बन्ध में बौद्ध ग्रंथों में परस्पर विरोधी बातें पाई जाती हैं। तारानाथ कृत बौद्ध धर्म के इतिहास से पता लगता है कि अठारहो सम्प्रदायों के बीच जो झगड़ा हो रहा था, वह इस महासभा में तै हुआ। बौद्ध धर्म के अठारहो सम्प्रदाय मान्य हुए; विनयपिटक लिपि-बद्ध किया गया; और सूत्र-पिटक तथा अभिधर्म-पिटक के जो भाग तब तक लिपि-बद्ध नहीं हुए थे, वे भी लिपि-बद्ध किये गये। एक दूसरे तिब्बती ग्रन्थ से पता लगता है कि कनिष्क ने भिन्न भिन्न सम्प्रदायों के पारस्परिक विरोध का अन्त करने के लिये अपने गुरु पार्श्व से एक बौद्ध महासभा करने का प्रस्ताव किया। पार्श्व ने यह प्रस्ताव स्वीकृत कर लिया; और इसके अनुसार बौद्ध धर्म के विद्वानों की एक बड़ी सभा करने का प्रबन्ध किया। कनिष्क ने इसके लिये कश्मीर की राजधानी श्रीनगर में एक बड़ा विहार बनवाया। इस महा-सभा में पाँच सौ विद्वान उपस्थित थे। इसके सभापति वसुमित्र चुने गये। इन विद्वानों ने समस्त बौद्ध ग्रन्थों को बड़े परिश्रम से अच्छी तरह देख भालकर सब सम्प्रदायों के मत के अनुसार सूत्र-पिटक, विनय-पिटक और अभिधर्म-पिटक पर संस्कृत भाषा के एक एक लाख श्लोकों में महाभाष्य रचे। ये महा-भाष्य क्रम से "उपदेश", "विनय-विभाषा-शास्त्र" और "अभि-धर्म-विभाषा-शास्त्र" कहलाते हैं। मालूम होता है कि इस महा-सभा में कुछ ऐसे सिद्धान्त निश्चित हुए थे, जो सब सम्प्रदायों

को मान्य थे। इस महासभा में सब से मार्के की बात यह हुई कि अठारहो सम्प्रदायों के बीच का पुराना झगड़ा सदा के लिये तै हो गया। पर इसके साथ ही कुछ नये नये सम्प्रदाय भी सिर उठाने लगे। इस तरह का एक सम्प्रदाय "महायान" था। यह पहले ही से अपनी प्रारंभिक अवस्था मे विद्यमान था। पर उस समय इसका प्रचार शीघ्रता से होने लगा था।

महायान संप्रदाय की उत्पत्ति—आरम्भ में बुद्ध का धर्म एक प्रकार का संन्यास-मार्ग था। "सुत्तनिपात" के "खग्गविसाणसुत्त" में लिखा है कि जिस भिक्षु ने पूर्ण अर्हतावस्था प्राप्त कर ली हो, वह कोई काम न करे; केवल गेंड़े के समान वन में निवास करे। "महावग्ग" (५-१-२७) में लिखा है—"जो भिक्षु निर्वाण पद तक पहुँच चुका हो, उसके लिये न तो कोई काम ही अवशिष्ट रह जाता है और न उसे किया हुआ कर्म ही भोगना पड़ता है।" यह संन्यास मार्ग नहीं तो और क्या है? उपनिषद् के संन्यास-मार्ग से इसका पूरा मेल मिलता है। पर अशोक के समय में बौद्ध धर्म की यह हालत बदल गई थी। बौद्ध भिक्षुओं ने अपना संन्यास मार्ग और एकान्त वास छोड़ दिया था और वे धर्म-प्रचार तथा परोपकार के लिये पूर्व में चीन तक और पश्चिम में यूनान तक फैल गये थे। जब उन्होंने शुष्क संन्यास-मार्ग का आचरण छोड़कर परोपकार के कामो में सम्मिलित होना आरम्भ किया, तब नये और पुराने मत में झगड़ा पैदा हो गया। पुराने मत के लोग अपने मत को "थेरवाद" (वृद्ध पंथ) कहने लगे; और नवीन मत-वादी अपने पंथ का "महायान" नाम रखकर पुराने पंथ को "हीनयान" (हीन पंथ) कहने लगे।

महायान और भक्ति-मार्ग—बुद्ध के मूल उपदेशों में आत्मा या ब्रह्म का अस्तित्व नहीं माना गया था। अतएव स्वयं बुद्ध की उपस्थिति में भक्ति के द्वारा परमात्मा की प्राप्ति करने का उपदेश नहीं किया जा सकता था। जब तक बुद्ध भगवान् की भव्य मूर्ति और उनका पावन चरित्र लोगों के सामने प्रत्यक्ष रीति से उपस्थित था, तब तक भक्ति मार्ग के उपदेश की कोई आवश्यकता ही न थी। पर बुद्ध के बाद जब भिक्षु लोग सामान्य जनों में इसका प्रचार करने लगे, तब उन्होंने देखा कि सब लोग गृहस्थी छोड़कर भिक्षु नहीं बन सकते; और न उनकी समझ में शुष्क तथा निरीश्वर संन्यास-मार्ग ही आ सकता है। इसलिये एक ऐसे सरल और प्रत्यक्ष मार्ग की आवश्यकता हुई, जो सब के हृदयों को आकर्षित कर सके। यह मार्ग सिवा भक्ति-मार्ग के और क्या हो सकता था! इस मार्ग के अनुसार स्वय बुद्ध भगवान् ही परमात्मा समझे जाने लगे। बुद्ध के साथ ही साथ बहुत से बोधिसत्वो की भी कल्पना की गई। बोधिसत्व वे हैं, जो भविष्य जन्म मे बुद्ध पद के अधिकारी हो सकते है। अर्थात् बुद्ध होने से पहले अनेक बार बोधिसत्व रूप में जन्म लेना पड़ता है। नये महायान संप्रदाय में बुद्ध और बोधिसत्वों की पूजा होने लगी। बौद्ध पण्डितों ने बुद्ध ही को स्वयंभू तथा अनादि अनन्त परमेश्वर का रूप दे दिया। वे कहने लगे कि बुद्ध का निर्वाण तो उन्हीं की लीला है; वास्तव में बुद्ध का कभी नाश नहीं होता; वे सदैव अमर रहते हैं। इसी प्रकार बौद्ध ग्रन्थों में यह प्रतिपादन किया जाने लगा कि "बुद्ध भगवान् समस्त संसार के पिता और नर-नारी उनकी सन्तान हैं; वे सब को समान दृष्टि से देखते हैं;

धर्म की व्यवस्था बिगड़ने पर वे केवल धर्म की रक्षा के लिये समय समय पर बुद्ध के रूप में प्रकट हुआ करते हैं; और देवादिदेव बुद्ध की भक्ति करने से, उनके स्तूप की पूजा करने से, अथवा उन्हें भक्ति-पूर्वक दो चार पुष्प समर्पण कर देने से मनुष्य को सद्गति प्राप्त हो सकती है" * । मिलिन्द पन्हो (३–७–२) में यह भी लिखा है–"किसी मनुष्य की सारी उम्र दुराचरणों मे क्यों न बीती हो, परन्तु मृत्यु के समय यदि वह बुद्ध की शरण में जाय, तो उसे अवश्य स्वर्ग की प्राप्ति होगी।" उसी ग्रन्थ (६–२–४) में नागसेन ने मिलिन्द से कहा है—"गृहस्थाश्रम में रहते हुए भक्ति के द्वारा निर्वाण पद पा लेना असंभव नहीं है।" बस यही भक्ति-मार्ग महायान की मुख्य विशेषता है।

महायान पर भगवद्गीता का प्रभाव—बुद्ध भगवान् का प्राचीन मत शुद्ध संन्यास-मार्ग था। इस संन्यास-मार्ग में भक्ति-मार्ग की उत्पत्ति आप ही आप, बिना किसी बाहरी प्रभाव के हो गई हो, यह समझ में नहीं आ सकता। अतएव सिद्ध होता है कि इस पर अवश्य कोई बाहरी प्रभाव पड़ा। बौद्ध ग्रन्थों से भी यही सूचित होता है। तिब्बती भाषा के तारानाथ वाले बौद्ध धर्म के इतिहास से पता लगता है कि प्राचीन बौद्ध धर्म में महायान के नाम से जो नया सुधार हुआ, उसके आदि कारण कृष्ण और गणेश थे। तारानाथ के ग्रन्थ में लिखा है—"महायान पन्थ के मुख्य संस्थापक नागार्जुन का गुरु राहुलभद्र नामक बौद्ध पहले

* देखिये सद्धर्मपुण्डरीक (२, ७७–६८; ५, २२; १५, ५-२२) तथा मिलिन्द पन्हो (३-७-७.)

ब्राह्मण था। उस ब्राह्मण को महायान की कल्पना श्रीकृष्ण तथा गणेश जी की कृपा से प्राप्त हुई थी।" इसका यही अर्थ है कि यद्यपि प्राचीन बौद्ध धर्म केवल संन्यास-प्रधान था, पर उसमें से भक्ति-प्रधान तथा कर्म-प्रधान महायान पन्थ की उत्पत्ति भगवान् श्रीकृष्ण की भगवद्गीता के प्रभाव से हुई; अर्थात् महायान बौद्ध धर्म पर भगवद्गीता का बहुत प्रभाव पड़ा; और उसका भक्ति-मार्ग इसी भगवद्गीता का परिणाम है * ।

महायान संप्रदाय पर विदेशियों का प्रभाव—जब तक बौद्ध धर्म भारतवर्ष की सीमा के अन्दर रहा, तब तक वह अपने शुद्ध रूप में बना रहा। पर अशोक के समय में जब से वह भारतवर्ष की सीमा पार करके दूसरे देशों में गया, तभी से उसके प्राचीन रूप में परिवर्तन होने लगा। अशोक के समय मे उसके धर्म-प्रचारकों ने सीरिया, मिस्र, साइरीनी, यूनान, एपिरस, गान्धार, काम्बोज और लंका में जाकर अपने धर्म का प्रचार किया। यह स्पष्ट है कि गौतम बुद्ध के जो उपदेश या सिद्धान्त भारतवर्ष के अन्दर रहनेवाले लोगों के हृदयों पर प्रभाव डाल सकते थे, वे उसी रूप में हिन्दुस्तान के बाहर रहनेवाली यूनानी आदि जातियों के हृदयों पर पूरी तरह से प्रभाव न डाल सकते थे। इसलिये प्रत्येक देश की परिस्थिति के अनुसार बौद्ध धर्म में परिवर्तन करने की आवश्यकता हुई। अशोक के बाद मौर्य साम्राज्य का अधःपतन होते ही भारतवर्ष पर यूनानियों, शकों, पार्थियों और

* देखिये Dr. Kern's Manual of Indian Budhism; P. 122,; और तिलक कृत गीता रहस्य; पृष्ठ ४६८–६९.

कुषणों के आक्रमण हुए। इनमें से बहुत से विदेशियों ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया। ये विदेशी अपने साथ भिन्न भिन्न आचार-विचार, रीति-रवाज और पूजा की विधि भारतवर्ष में लाये थे। इन विदेशियों के धर्म, विश्वास और रीति-रवाज का बौद्ध धर्म पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उस की प्राचीन शुद्धता और सरलता जाती रही। जिस समय बौद्ध धर्म दिग्विजय के लिये बाहर निकला और विदेशियों के साथ उसका सम्पर्क हुआ, उसी समय उसमें परिवर्तन का बीज बोया गया। परिवर्तन का यही बीज धीरे धीरे महायान संप्रदाय के रूप में परिणत हुआ। इस परिवर्तन का एक प्रमाण बौद्ध काल की शिल्प कला में मिलता है। स्वयं बुद्ध भगवान् की प्राचीन बौद्ध काल अथवा मौर्य काल की मूर्ति कहीं चित्रित नहीं मिलती। इसका एकमात्र कारण यही है कि पूर्वकालीन बौद्धों ने बुद्ध के "निर्वाण" को यथार्थ रूप में माना था। तब निर्वाण-प्राप्त देह की प्रतिमा भला वे क्यों बनाते! प्राचीन बौद्ध काल मे बुद्ध भगवान् का अस्तित्व कुछ चिह्नों से सूचित किया जाता था; जैसे "बोधि-वृक्ष", "धर्मचक्र" अथवा "स्तूप"। पर जब धीरे धीरे महायान संप्रदाय का जोर बढ़ा, तब गौतम बुद्ध देवता रूप में पूजे जाने लगे और उनकी मूर्तियाँ बनने लगीं।

हीनयान और महायान में भेद—हीनयान और महायान सम्प्रदायों मे निम्नलिखित मुख्य भेद हैं—

(१) हीनयान संप्रदाय के ग्रन्थ पाली भाषा मे और महायान संप्रदाय के ग्रन्थ संस्कृत भाषा में हैं।

(२) हीनयान संप्रदाय में बुद्ध भगवान् के सिद्धान्त और

उपदेश अधिकतर शुद्ध रूप में हैं; पर महायान संप्रदाय में वे परिवर्तित रूप में हैं; अर्थात् उनमें भक्ति मार्ग की प्रबलता दिखाई देती है।

(३) हीनयान संप्रदाय का अधिक प्रचार दक्षिण में और विशेषतः लंका तथा बरमा में था; पर महायान संप्रदाय का प्रचार प्रायः उत्तर के देशों में और नैपाल तथा चीन में था।

(४) हीनयान संप्रदाय मे गौतम बुद्ध देवता के रूप में नही पूजे जाते थे; इसलिये अति प्राचीन बौद्ध काल में उनकी मूर्तियाँ नही बनाई जाती थीं। पर महायान संप्रदाय में बुद्ध देवता के रूप में पूजे जाने लगे; इसलिये कुषणों के राज्य-काल में उनकी मूर्तियाँ बनने लगीं।

(५) हीनयान संप्रदाय एक तरह का संन्यास या ज्ञान-मार्ग था; पर महायान संप्रदाय एक तरह का भक्ति-मार्ग था; अर्थात् हीनयान संप्रदाय ने संन्यास या ज्ञान पर और महायान संप्रदान ने भक्ति या कर्म पर अधिक ज़ोर दिया था।

(६) हीनयान के अनुसार केवल उसी को निर्वाण मिल सकता है, जिसने संसार से सब तरह का नाता तोड़कर भिक्षु का जीवन ग्रहण किया हो; पर महायान के अनुसार उन सब को निर्वाण प्राप्त हो सकता है, जिन्होंने श्रद्धा और भक्ति के मार्ग का अनुसरण किया हो और जो संसार से भी नाता जोड़े हुए हों।

ब्राह्मण धर्म की स्थिति

ब्राह्मण धर्म नष्ट नहीं हुआ—अशोक के समय से कनिष्क के समय तक अर्थात् ई० पू० २०० से ई० प० २०० तक उत्तरी भारत में बौद्ध धर्म का प्रचार बहुत ज़ोरों के साथ था। इन चार

सौ वर्षों में बनी हुई इमारतों, स्तूपों और मन्दिरों के जो भग्नावशेष, शिलालेख तथा मूर्तियाँ मिलती हैं, उनसे बौद्ध मत का प्रचार पूरी तरह से प्रकट होता है। इस समय की प्रायः सभी चीजें बौद्ध धर्म-सम्बन्धी है। पर इससे यह न समझ लेना चाहिए कि उस समय हिन्दू या ब्राह्मण धर्म बिलकुल लुप्त हो गया था। यज्ञ आदि उस समय भी होते थे। हाँ, कदाचित् उतने अधिक न होते थे, जितने पहले हुआ करते थे। हिन्दू देवी-देवताओं की पूजा भी लुप्त नहीं हुई थी। इसका सबूत कैडफाइसिज़ द्वितीय के सिक्कों से ही मिलता है। वह शिव का इतना भक्त था कि उसने अपने सिक्कों पर शिव की मूर्ति अंकित करा दी थी। महायान संप्रदाय की बातों से भी प्रकट होता है कि बौद्ध धर्म धीरे धीरे हिन्दू धर्म की ओर झुक रहा था; क्योंकि वह सप्रदाय वास्तव में बौद्ध धर्म की अपेक्षा हिन्दू धर्म से अधिक मिलता है। उसके ग्रन्थ पाली मे नहीं, बल्कि संस्कृत में हैं। इसके सिवा इस समय के दो शिलालेख (एक गिरनार में रुद्रदामन् का और दूसरा मथुरा मे वासिष्क का) शुद्ध संस्कृत में हैं। इससे भी सिद्ध है कि धीरे धीरे ब्राह्मणों का प्रभाव बढ़ रहा था।

शुंग वंशी राजाओं के समय ब्राह्मण धर्म—अशोक ने अपने साम्राज्य में पशु-बलि बन्द कर दी थी। उस समय के ब्राह्मण बलिप्रदान करना बहुत पुण्य का काम समझते थे। अशोक ने पशुबलि के सम्बन्ध में जो निषेध-सूचक आज्ञा निकाली थी, वह कदाचित् ब्राह्मणों के ही विरुद्ध थी। एक शूद्र राजा की आज्ञा से ब्राह्मणों की चिरप्रचलित प्रथा बन्द हो गई थी; इससे वे लोग अवश्य ही असन्तुष्ट थे। पर वे कुछ

कर न सकते थे। अशोक की मृत्यु के बाद ब्राह्मणों ने दलबद्ध होकर उसके वंशधरों का विरोध करना आरंभ किया। परन्तु वे स्वयं लड़ नहीं सकते। अन्त मे उन्हे इस काम के योग्य एक व्यक्ति मिल गया। वह मौर्य-वंश का सेनापति पुष्यमित्र था। वह ब्राह्मण धर्म का पक्षपाती था और बौद्ध धर्म से घृणा करता था। उसने ब्राह्मणों की सहायता से मौर्य वंश के अन्तिम राजा बृहद्रथ को मारकर मौर्य साम्राज्य पर अधिकार जमा लिया। अशोक ने अपने साम्राज्य मे पशु-बलि प्रायः बिल्कुल बन्द कर दी थी। इस के विरोध के रूप मे पुष्यमित्र ने अशोक ही की राजधानी पाटलिपुत्र में अश्वमेध यज्ञ किया। पुष्यमित्र के राजा होने पर थोड़े ही दिनो में ब्राह्मणो का माहात्म्य बढ़ गया। उन्होंने समस्त विद्याओं को लिपि-बद्ध किया और ब्राह्मण-धर्म को ऐसे साँचे मे ढाल दिया कि वह आज तक बना हुआ है। पुष्यमित्र के यज्ञ मे पतंजलि ऋषि ने पुरोहित का काम किया था, और उसी के आश्रम में रहकर पतंजलि ने महाभाष्य की रचना की थी। मालूम होता है कि अशोक ने ब्राह्मणों के जो अधिकार छीन लिये थे, वे अधिकार ब्राह्मणों ने शुंग राजाओं के समय मे फिर से प्राप्त करके समाज मे अपनी श्रेष्ठता स्थापित करा ली थी।

यवन राजाओं के समय ब्राह्मण-धर्म—पश्चिमोत्तर सीमा तथा पंजाब पर यूनानी राजाओं का शासन लगभग २५० वर्षों तक था। इस बीच में भी ब्राह्मण-धर्म अच्छी तरह प्रचलित था। कदाचित् बहुत से यूनानी भी हिन्दू धर्म को मानने लगे थे। यह बात बेसनगर नामक गाँव में मिले हुए एक स्तंभ और उसके ऊपर खुदे हुए लेख से प्रकट होती है। यह गाँव ग्वालियर राज्य की दक्षिणी

सीमा पर भेलसा के समीप है। प्राचीन विदिशा नगरी यहीं थी। इसके खँडहर अब तक पाये जाते हैं। इसी जगह बेतवा नदी के एक बड़े टीले पर "गरुड़ध्वज" नामक स्तंभ खड़ा है। उस स्तंभ पर एक अति प्राचीन लेख है, जिसका भावार्थ है—

"यह वासुदेव का गरुड़ध्वज विष्णु-भक्त हेलिओडोरस की आज्ञा से बनाया गया। वह यवन (यूनानी) था। उसके पिता का नाम डीओन था। वह तक्षशिला का रहनेवाला था। इसी काम के लिये वह राजा एन्टिएल्काइडस का दूत या प्रतिनिधि होकर विदिशा के राजा भागभद्र के पास आया था।"

इस शिलालेख में एन्टिएल्काइडस "भागवत" (विष्णु का भक्त) कहा गया है। इसका समय ई० पू० १४० और १३० के बीच माना जाता है। इस शिलालेख से यह सूचित होता है कि उस समय हिन्दू धर्म जीवित था; और वासुदेव श्रीकृष्ण की उपासना प्रतिष्ठित यवनों ने भी स्वीकृत कर ली थी। इस शिलालेख से यह भी सिद्ध होता है कि वैष्णव सम्प्रदाय कोई नई चीज नहीं, बल्कि वह दो हज़ार वर्षों से भी अधिक प्राचीन है।

कुषण राजाओं के समय ब्राह्मण धर्म—कुषणों के समय में हिन्दू धर्म के प्रचलित रहने का प्रमाण तो उनके सिक्कों से ही मिलता है। कैडफ़ाइसिज द्वितीय और वासुदेव के सिक्कों पर केवल शिव की मूर्ति पाई जाती है। इससे मालूम होता है कि वे शिव के परम भक्त थे। वासिष्क के समय का एक यूप (यज्ञ-स्तंभ) भी मिला है, जिससे पता चलता है कि उस समय बौद्ध धर्म का प्रचार होने पर भी यज्ञों का होना बन्द नहीं हुआ था। यह यज्ञ-स्तम्भ पत्थर का है और मथुरा के पास यमुना के किनारे

ईसापुर में मिला था। इस पर एक लेख खुदा है, जिससे पता लगता है कि महाराज वासिष्क के चौबीसवें राज्य वर्ष में द्रोणल नामक ब्राह्मण ने द्वादश रात्रि पर्यन्त यज्ञ करके इस यूप की स्थापना की थी। यूप या यज्ञ-स्तम्भ पशु बाँधने के लिये, यज्ञशाला में, गाड़ा जाता था। अतएव सिद्ध होता है कि उस समय यज्ञ का प्रचार अच्छी तरह था। यह शिलालेख संस्कृत भाषा में है, जिससे पता लगता है कि ब्राह्मणों की भाषा संस्कृत भी लुप्त नहीं हुई थी। संस्कृत में यह पहला शिलालेख है। इसके पहले के जितने शिलालेख अब तक मिले हैं, वे सब प्राकृत या संस्कृत-मिश्रित प्राकृत में है।

—❃❃—

चौथा अध्याय

सामाजिक दशा

मौर्य साम्राज्य के अन्त से गुप्त साम्राज्य के उदय तक का इतिहास बहुत ही अनिश्चित अवस्था में है। इस समय का इतिहास जानने के लिये केवल तीन साधन हैं—(१) सिक्के, जो उत्तरी भारत में अधिकता से पाये गये हैं, (२) शिलालेख और (३) विदेशियों के इतिहास-ग्रंथों में भारत का उल्लेख। पर इन तीनों साधनों से भी तत्कालीन भारतवर्ष की सामाजिक दशा का कुछ विशेष पता नहीं लगता। जो कुछ पता लगता भी है, वह नहीं के बराबर है। फिर भी इन तीनों साधनों के आधार पर उस समय की सामाजिक दशा का संक्षिप्त वर्णन नीचे किया जाता है।

सामाजिक उथल पुथल—ध्यान देने योग्य पहली बात यह है कि उस समय विदेशियों के लगातार आक्रमणों से समाज में बड़ी उथल पुथल मच रही थी। यवन (यूनानी), शक, पार्थिव और कुषण आदि विदेशी लोग धीरे धीरे हिन्दू और बौद्ध धर्म ग्रहण कर रहे थे और पूर्ण रूप से भारतीय होते जा रहे थे। मिनैंडर, एन्टिएल्काइडस, रुद्रदामन, कैडफाइसिज द्वितीय, कनिष्क, हुविष्क, और वासुदेव आदि इसके उदाहरण हैं। विदेशी लोग आये तो थे भारत को जीतने, पर भारतीय सभ्यता से स्वयं ही जीत लिये गये। विजेताओं ने अपना धर्म, कर्म और सभ्यता छोड़कर विजित भारतवासियों का धर्म, कर्म और सभ्यता ग्रहण कर ली।

यहाँ तक कि धीरे धीरे उनके नाम भी हिन्दू ढंग के होने लगे। वासुदेव और रुद्रदामन् इसके उदाहरण हैं। पश्चिमी भारत में जो शक वंशी राजा थे, उनके नामों के बाद प्राय: "वर्मन्" या "दत्त" लगा हुआ मिलता है। इससे पता लगता है कि वे पूर्ण रूप से हिन्दू हो गये थे और पौराणिक धर्म को मानने लगे थे। इसी तरह कैडफ़ाइसिज़ द्वितीय और वासुदेव कुषण के सिक्कों पर शिव की मूर्ति मिलती है, जिससे पता लगता है कि वे शिव के परम भक्त थे। इससे यह भी सूचित होता है कि शैव संप्रदाय कोई नया नहीं, बल्कि बहुत पुराना है। उन दिनों शिव की पूजा इतनी अधिक प्रचलित थी कि विदेशी राजाओं को भी अपने सिक्कों पर शिव की मूर्ति रखनी पड़ती थी। इन्टिएल्काइडस के बेसनगरवाले स्तम्भ-लेख से सूचित होता है कि उस समय वहाँ वैष्णव धर्म प्रबल था और उसे यवन भी मानने लगे थे।

जाति भेद—अब प्रश्न यह उठता है कि ये सब विदेशी गये कहाँ? क्या वे देश के बाहर निकाल दिये गये? नहीं। उनके नामों, सिक्कों और शिलालेखों ही से पता चलता है कि वे हिन्दू जाति रूपी महान् समुद्र में समा गये। उस समय हिन्दू जाति में दूसरी जातियों को हजम कर लेने की ताकत थी, जिसका मुसलमानों के समय में अभाव हो गया था। उसी शक्ति की बदौलत उस समय चारों वर्णों और उनके अवान्तर भेदों में कुल विदेशी मिला लिये गये। इसी तरह से आजकल की अनेक जातियों और वर्णसंकरों का जन्म हुआ है। इससे पता लगता है कि उस समय जाति-भेद खूब पुष्ट हो गया था; और विदेशियों के मेल से नई नई जातियाँ बनती जा रही थीं।

ब्राह्मणों का प्रभाव—अशोक के समय में ब्राह्मणों का जो प्रभाव घट गया था, वह इस समय धीरे धीरे फिर बढ़ने लगा था। विशेषतः शुंग और काण्व वंश के राजाओं ने ब्राह्मणों का नष्टप्राय महत्व फिर से स्थापित करने में बहुत सहायता दी। पुष्यमित्र ने स्वयं अश्वमेध यज्ञ करके ब्राह्मणो का सम्मान किया; और काण्व राजा स्वयं ब्राह्मण कुल के थे। इन्हीं दोनों राजवंशो के समय में कदाचित् उस पौराणिक धर्म की नींव पड़ी, जो आगे चलकर गुप्तवंशी राजाओं के समय में पूर्ण उन्नति को प्राप्त हुआ।

बस; उस समय की सामाजिक दशा के बारे में इससे अधिक और कोई बात ज्ञात नहीं है।

पाँचवाँ अध्याय

सांपत्तिक दशा

इस काल की सांपत्तिक दशा के बारे में भी अब तक बहुत थोड़ी बातें मालूम हुई हैं। इस सम्बन्ध में जो कुछ पता लगा है, वह केवल सिक्कों और विदेशियों के इतिहास-ग्रन्थों से। इनसे दो बातों का काफ़ी तौर पर पता लगता है। एक तो यह कि इस काल में विदेशों के साथ खूब व्यापार होता था; और दूसरे यह कि यहाँ जहाज़ खूब बनाये जाते थे और उनके द्वारा यहाँ का माल विदेशों में जाता था। विशेषतः आंध्र वंशी राजाओं के समय दक्षिणी भारत में और कुषण वंशी राजाओं के समय उत्तरी भारत में विदेशों के साथ खूब व्यापार होता था।

आन्ध्र राजाओं के समय दक्षिणी भारत का व्यापार— इस राजवंश के वैभव का समय ईसवी दूसरी शताब्दी के प्रारंभ से तीसरी शताब्दी के अन्त तक माना जाता है। इनके कुछ सिक्कों पर जहाज़ के चित्र बने हुए हैं। इससे प्रतीत होता है कि आन्ध्र राजाओं का प्रभुत्व केवल स्थल पर ही न था, बल्कि उनकी विजय-पताका कदाचित् द्वीपों पर भी फहराती थी*। इन जहाज़वाले सिक्कों से यह भी सिद्ध होता है कि कारो-मण्डल किनारे के लोग ईसवी प्रथम शताब्दी में जहाज़ों द्वारा समुद्री व्यापार करते थे। इन्हीं सिक्कों को देखकर हावेल

---

* V. Smith's Early History of India. P. 203.

साहब ने यह सिद्ध किया है कि हिन्दू लोग पूर्व काल में जहाजों द्वारा ईरान, अरब, बरमा, स्याम, चीन, रोम, यूनान तथा मिस्र आदि देशों से व्यापार करते थे। इन सिक्कों के सिवा कारोमण्डल किनारे में कुसंबर और पल्लव लोगों के भी सिक्के मिले हैं। कुसंबर लोग सातवीं शताब्दी के पहले कई सौ वर्षों तक यहाँ रहे थे। इनके सिक्कों के बारे में पुरातत्ववेत्ता ईलियट साहब लिखते हैं—"सिक्कों पर दो मस्तूलवाले जहाज़ चित्रित हैं। कुसंबर लोग अपने ही जहाजों द्वारा अन्य देशों से समुद्री व्यापार करते थे।" आन्ध्र राजाओं के समय में भारतवर्ष के राजदूत पश्चिमी एशिया, यूनान, रोम, मिस्र, चीन आदि देशों को जहाजों पर जाते थे। भारत से रोम को मसाले आदि भेजे जाते थे और वहाँ से सोने के सिक्के यहाँ आते थे। सन् ६८ ईसवी मे रोमवालो के अत्याचरों से बचने के लिये कुछ यहूदी लोग रोम से दक्षिणी भारत के पूर्वी भाग (मालाबार) में आ बसे थे। ये सब बातें भारतीय जहाज़ों की ही बदौलत हुई थीं। डाक्टर भाण्डारकर का मत है कि आन्ध्र काल में समुद्री व्यापार बहुत ही उन्नत दशा में रहा होगा। स्मिथ साहब भी लिखते हैं कि दक्षिण की तामिल रियासतों के पास बड़ी ही शक्ति-शालिनी समुद्री सेनाएँ और जहाज़ी बेड़े थे। तामिल देश मे लोग दूर दूर के देशों से जहाजो द्वारा भारतवर्ष की अपूर्व वस्तुएँ, मसाले और मोती आदि लेने आते थे। इन वस्तुओं की कीमत वे सोने-चाँदी के रूप में चुकाते थे। दक्षिण के पाण्ड्यवंशी राजा पाण्डियोन ने ई० पू० २० में रोम के सम्राट् आगस्टस सीजर के दरबार में अपना राजदूत भेजा था। दक्षिण के पूर्वी समुद्र-तट के लोग

बारहो महीने अपने जहाज़ों पर विदेश आया-जाया करते थे।

कुषण राजाओं के समय उत्तरी भारत का व्यापार— जिस समय दक्षिण में आन्ध्रवंशी राजाओं का राज्य था, उसी समय उत्तरी भारत में कुषण-वंशी राजाओं का प्रभुत्व था। रोम के सम्राटों की पताका भी उस समय भूमण्डल के कितने ही देशों पर फहरा रही थी। केवल चीन और भारतवर्ष ही स्वतन्त्र थे। जिस समय रोम में सम्राट् हेड्रियन राज्य करता था, उस समय उत्तरी भारत में कनिष्क के शासन का डंका बजता था। उन दिनों जहाज़ी व्यापार की बदौलत रोम से अनन्त सोना इस देश में आता था। इस बात के सबूत में हेड्रियन के सोने के सिक्के हमारे देश में मौजूद हैं। इस देश से प्रायः मसाले, इत्र, जवाहिरात, रेशम, मलमल और रूई आदि वस्तुएँ हमारे जहाज़ों पर विदेशों को जाती थीं और उनके बदले में खरा सोना आता था। रोम के सम्राट् औलियन के समय में भारतीय रेशम वहाँ के बाजारों में सोने के मोल बिकता था। इस प्रकार रोम का धन भारत को जाता देख, वहाँ के सम्राट् टाइबेरियस सीजर ने यह घोषणा कर दी थी कि पतले रेशम से अंग भली भाँति नहीं ढकता; अतएव उसका पहनना मना है *। ईसवी प्रथम शताब्दी में रोम के इतिहासकार प्लीनी ने अपने देश-बान्धवों को धिक्कारा था कि तुम विदेशी माल लेकर प्रति वर्ष करोड़ों रुपये हिन्दुस्तान को भेज देते हो †। विन्सेन्ट स्मिथ

---

* Tacitus, Annals, III, 53. (Periplus of the Erythraean Sea by, W. H. Schoff p. 219)

† Pliny, VI, 26 (The Periplus of the Erythraean Sea, by W. H. Schoff. p. 219.)

का कथन है कि कदाचित् कुषण वंश के राजा कैडफ़ाइसिज़ द्वितीय ने अपने कुछ दूत रोम सम्राट् के पास अपनी पश्चिमोत्तर भारत की विजय की ख़बर देने के लिये भेजे थे*। कैडफ़ाइसिज़ द्वितीय पहला राजा है, जिसने सोने के सिक्के बनवाये थे। उसके पहले के जितने सिक्के मिले हैं, वे सब प्रायः चाँदी या ताँबे के हैं। पर कैडफ़ाइसिज़ द्वितीय के समय से बाद के सोने के सिक्के बहुतायत से मिलते हैं। इसका कारण यही है कि उस समय हिन्दुस्तान का रेशम आदि बहुत सा सौदागरी माल रोम को जाता था और उसके बदले में वहाँ से बहुत सा सोना आता था।

इन सब बातों से पता लगता है कि उस समय देश धन से भरा पूरा था। लोग दरिद्रता से रक्षित थे और लक्ष्मी देवी की कृपा से उन्हें किसी प्रकार का कष्ट न था। उस समय की सांपत्तिक दशा के बारे में इससे अधिक और कोई बात उल्लेख्य नहीं है।

---

* V. Smith's Early of India. p. 239.

छठा अध्याय

साहित्यिक दशा

साहित्यिक भाषा—जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, प्राचीन से प्राचीन शिलालेख, जो अब तक मिले हैं, अशोक के समय के हैं। ये शिलालेख अपने समय की आम बोल चाल की भाषा में थे। पर ज्यों ज्यों ब्राह्मणों का प्रभाव बढ़ने लगा, त्यो त्यों शिलालेखों की भाषा में संस्कृत की मिलावट होने लगी। यहाँ तक कि कुषण-वंशी राजाओं के शासन काल के शिलालेख प्राकृत मिली हुई संस्कृत भाषा में और गुप्त काल के लेख शुद्ध संस्कृत भाषा में मिलते हैं। अर्थात् धीरे धीरे शिलालेखों मे प्राकृत का स्थान संस्कृत ले रही थी। कुषण-वंशी राजाओं के शासन काल में संस्कृत का प्रचार खूब हो गया था; और उस काल में बौद्ध धर्म के जितने ग्रन्थ रचे गये, वे सब संस्कृत भाषा में हैं। अब तक शुद्ध संस्कृत का जो सब से पहला शिलालेख मिला है, वह कुषण राजा वासिष्क के समय का है। इसके बाद शुद्ध संस्कृत का दूसरा शिलालेख सन् १५० ई० के लगभग का है। वह क्षत्रप रुद्रदामन् के समय का है और गिरनार की एक पर्वत-शिला पर खुदा हुआ है। इससे सिद्ध होता है कि उस समय अर्थात् ईसवी सन् के कुछ समय आगे-पीछे संस्कृत का अच्छा प्रचार था। उस समय के प्राकृत या प्राकृत-मिश्रित संस्कृत के जो शिला-लेख मिले हैं, इसका कारण यह मालूम होता है कि

प्रायः वे सब के सब बौद्धों और जैनों के हैं। ये लोग उस ज़माने में प्राकृत या आम बोल चाल की भाषा के पक्षपाती और संस्कृत के प्रचार के विरोधी थे। इसी से इनके शिलालेखों में संस्कृत की अवहेलना हुई है। ब्राह्मण लोग आज से दो हज़ार वर्ष पहले भी संस्कृत ही का विशेष आदर करते थे और उसी में शिलालेख खुदवाते तथा ग्रन्थ लिखते थे। वासिष्क के समय के जिस शिलालेख का ऊपर उल्लेख किया गया है, वह द्रोणल नामक ब्राह्मण का खुदवाया हुआ है। इसी से वह शुद्ध संस्कृत में है। इससे सिद्ध होता है कि उस काल में आम बोल चाल की भाषा प्राकृत और ब्राह्मणो तथा बौद्धो के साहित्य की भाषा संस्कृत थी।

शुंग और काण्व राजाओं के समय में संस्कृत साहित्य—शुंग और काण्व वंशों के राजाओं के समय में संस्कृत भाषा और साहित्य का अच्छा प्रचार था। शुंग-वंशी राजा पुष्यमित्र के आश्रय मे रहकर ही पतंजलि ने महाभाष्य की रचना की थी। काण्व-वंशी राजाओं ने मनु-संहिता का संकलन कराया और रामायण तथा महाभारत को आधुनिक रूप में परिणत किया था।

आन्ध्र-वंशी राजाओं के समय में प्राकृत साहित्य—आन्ध्र-वंशी राजाओं के समय में प्राकृत भाषा और साहित्य बड़ी उन्नत अवस्था में थे। विशेष करके इस वंश के राजा हाल शातवाहन का राज्य काल प्राकृत साहित्य के लिये बड़ी उन्नति का था। इस राजा ने स्वयं प्राकृत (प्राचीन महाराष्ट्री) भाषा में ७०० पद्य लिखे थे, जो "सप्तशतक" के नाम से प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि पैशाची भाषा में "बृहत्कथा" और "कातन्त्र" नामक संस्कृत व्याकरण की रचना भी इसी समय हुई थी।

कनिष्क के समय में संस्कृत-साहित्य—कनिष्क के समय में संस्कृत का बहुत प्रचार था। उस समय बौद्ध धर्म की भाषा पाली की जगह संस्कृत हो गई थी। बौद्ध धर्म के जितने ग्रन्थ उस समय रचे गये, वे सब संस्कृत में हैं। कनिष्क के समय में बौद्ध धर्म की जो महासभा हुई थी, उसके निश्चय के अनुसार सूत्र-पिटक, विनय-पिटक और अभिधर्म-पिटक पर संस्कृत के एक एक लाख श्लोकों में तीन महाभाष्य रचे गये थे। कहा जाता है कि अश्वघोष, नागार्जुन और वसुमित्र नाम के बौद्ध ग्रन्थकार और आचार्य इसी समय मे हुए हैं। इनमें से अश्वघोष संस्कृत के परम विद्वान्, दार्शनिक और उद्भट कवि हो गये हैं। अश्वघोप का जन्म ब्राह्मण वंश में हुआ था। उनके पिता का नाम संघगुह्य था। वे साकेत या अयोध्या के निवासी थे। उनकी माँ एक वणिक् की कन्या थी। उन्होंने गौड़, तिरहुत और काम-रूप (आसाम) आदि देशों में जाकर विद्याध्ययन किया था। चीन और तिब्बत में मिले हुए कई ग्रन्थों से विदित होता है कि पाटलिपुत्र और नालन्द में भी उन्होंने कुछ दिनों तक निवास किया था। वे बहुत बड़े पण्डित थे। उन्होंने अनेक बौद्धों को शास्त्रार्थ में परास्त किया था; पर अन्त में पार्श्व नामक पण्डित के द्वारा वे स्वयं ही परास्त होकर बौद्ध हो गये थे। तब से वे गान्धार देश में राजा कनिष्क के आश्रय में रहने लगे। चीनी और जापानी साहित्य में उनके समय-निरूपण के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न कल्पनाएँ की गई हैं। किसी ने उन्हें बुद्ध-निर्वाण के ५०० वर्ष, किसी ने ६०० वर्ष और किसी ने ७०० वर्ष बाद माना है। पर इसमें सन्देह नहीं कि वे ईसा की पहली शताब्दी के बाद के नहीं

हैं। उनका सब से प्रसिद्ध ग्रन्थ "बुद्ध-चरित" नामक महाकाव्य है। इस की कविता कालिदास की कविता के जोड़ की है। यदि अश्वघोष का काल ईसवी प्रथम शताब्दी और कालिदास का पंचम शताब्दी माना जाय, तो यही सिद्ध होता है कि कालिदास ने अश्वघोष का अनुकरण किया होगा। अश्वघोष का एक और महाकाव्य "सौन्दरनन्द" है। यद्यपि यह कालिदास के काव्यों की टक्कर का नहीं है, तथापि इसमें मनोरंजन की बहुत कुछ सामग्री है। इसके अनेक अंश भाव-वैचित्र्य और चमत्कार से पूर्ण हैं। इस में कवि ने सुन्दरी और नन्द नामक दो व्यक्तियों के चरित वर्णन करके उसी के बहाने मोक्ष की शिक्षा दी है। अतः इस काव्य में शान्त रस का ही आधिक्य है। इस काव्य का नायक नन्द ऐतिहासिक व्यक्ति है। वह बुद्धदेव की मौसी का लड़का था। कहा जाता है कि अश्वघोष ने अलंकार शास्त्र पर भी एक ग्रन्थ लिखा था। उनके लिखे हुए "महायान-श्रद्धोत्पद-शास्त्र," "सूत्रालंकार" "उपाध्याय-सेवाविधि" आदि और भी सात आठ ग्रन्थों का पता लगा है। उनमे से कुछ ग्रंथों के अनुवाद भी चीनी तथा जापानी भाषाओं में मिलते हैं। नागार्जुन के बारे में कहा जाता है कि वे अश्वघोष के बाद हुए। अश्वघोष की तरह वे भी ब्राह्मण वंश के ही थे। शायद वे महायान पन्थ के जन्मदाता या प्रवर्त्तक थे; और नही तो, कम से कम उसकी शाखा "माध्यमिक सम्प्रदाय" के जन्मदाता तो अवश्य थे। इस सम्प्रदाय का मुख्य ग्रन्थ "माध्यमिक सूत्र" उन्हीं का रचा हुआ है। वसुमित्र उस बौद्ध महासभा के सभापति चुने गये थे, जो कनिष्क के समय में हुई थी। इससे पता लगता है कि वे अपने समय के सर्वश्रेष्ठ विद्वान्

थे। उनका लिखा हुआ "महाविभाषा शास्त्र" महायान पन्थ के सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

ज्योतिष शास्त्र की उन्नति—इस काल में सब से अधिक उन्नति ज्योतिष शास्त्र की हुई। ज्योतिष के सब से प्राचीन ग्रन्थ, जिनके विषय में हम लोगों को कुछ मालूम है या जो हम लोगों को आजकल प्राप्त हैं, इसी काल के हैं। प्राचीन हिन्दुओं ने अठारह प्राचीन सिद्धान्त अर्थात् ज्योतिष के ग्रन्थ लिखे थे; पर उनमें से अधिकांश अब लुप्त हो गये हैं। वे अठारह प्राचीन सिद्धान्त ये हैं—(१) पराशर सिद्धान्त, (२) गर्ग सिद्धान्त, (३) ब्रह्म सिद्धान्त, (४) सूर्य सिद्धान्त, (५) व्यास सिद्धान्त, (६) वशिष्ठ सिद्धान्त, (७) अत्रि सिद्धान्त, (८) कश्यप सिद्धान्त, (९) नारद सिद्धान्त, (१०) मरीचि सिद्धान्त, (११) मनु सिद्धान्त, (१२) आंगिरस सिद्धान्त, (१३) रोमक सिद्धान्त, (१४) पुलिश सिद्धान्त, (१५) च्यवन सिद्धान्त, (१६) यवन सिद्धान्त, (१७) भृगु सिद्धान्त और (१८) सौनक या सोम सिद्धान्त।

इस काल में भारतवासियों ने ज्योतिष शास्त्र का अधिकतर ज्ञान यूनानियो से प्राप्त किया था। उक्त अठारह सिद्धान्तों में पराशर सिद्धान्त और उसके उपरान्त गर्ग सिद्धान्त सब से प्राचीन है। कहा जाता है कि पराशर का मूल ग्रन्थ "पराशर तन्त्र" था जो अब लुप्त हो गया है। वराहमिहिर ने अपनी "बृहत् संहिता" में उसके अनेक वाक्य और कहीं कहीं अध्याय तक उद्धृत किये हैं। पराशर में पश्चिमी भारतवर्ष मे यवनों या यूनानियों के होने का उल्लेख है, जिससे सूचित होता है कि यह ग्रन्थ ई० पू० २०० के बाद का है।

गर्ग के विषय में इससे कुछ अधिक वृत्तान्त विदित है। गर्ग उन ग्रन्थकारों में हैं, जिनसे हम ई० पू० दूसरी शताब्दी के भारतवर्ष पर यूनानियों के आक्रमण का वृत्तान्त जान सकते हैं। यद्यपि यूनानी म्लेच्छ थे, तो भी गर्ग उनका सम्मान करते थे।–उनका निम्नलिखित वाक्य प्रसिद्ध है और बहुधा उद्धृत किया जाता है—"यवन (यूनानी) लोग म्लेच्छ हैं, तथापि वे ज्योतिष शास्त्र अच्छी तरह से जानते हैं; अतः उन का ब्राह्मण ज्योतिषियों से बढ़कर और ऋषियों की तरह सम्मान किया जाता है।" डाक्टर कर्न ने गर्ग का समय पहली शताब्दी माना है।

उक्त सिद्धान्तों में से ब्रह्म, सूर्य, वशिष्ठ, रोमक और पुलिश नामक पाँच सिद्धान्त "पंच सिद्धान्त" के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्हीं पाँचो सिद्धान्तों के आधार पर छठी शताब्दी में वराह-मिहिर ने अपनी "पंच सिद्धान्तिका" लिखी थी।

मालूम होता है कि प्राचीन "ब्रह्म सिद्धान्त" का स्थान ब्रह्म-गुप्त के प्रसिद्ध ग्रन्थ "स्फुट ब्रह्मसिद्धान्त" ने ले लिया है। एल-बेरूनी ने ग्यारहवीं शताब्दी में इस "स्फुट ब्रह्मसिद्धान्त" की एक प्रति पाई थी। उसने इसका उल्लेख अपनी भारत यात्रा में किया है। "सूर्य सिद्धान्त" प्रसिद्ध ग्रन्थ है; पर उसमें इतनी बार परिवर्तन और परिवर्धन हुए हैं और वह इतनी बार संकलित किया गया है कि अब वह अपने मूल रूप में नहीं है। हम इस मूल ग्रन्थ के समय के सम्बन्ध में इससे अधिक और कुछ नहीं कह सकते कि यह इसी बौद्ध काल में बना होगा; और सम्भवत अन्तिम बार पौराणिक काल में इस ने यह रूप प्राप्त किया होगा। एलबेरूनी "वशिष्ठ सिद्धान्त" को विष्णुचन्द्र का बनाया

हुआ बतलाता है। पर ब्रह्मगुप्त का मत है कि विष्णुचन्द्र ने इस प्राचीन ग्रन्थ का केवल संशोधन किया था; और यही बात ठीक जान पड़ती है। आज कल वशिष्ठ सिद्धान्त के नाम से जो ग्रन्थ मिलता है, वह निस्सन्देह आधुनिक है। रोमक सिद्धान्त को ब्रह्मगुप्त और एलबेरूनी दोनों ही श्रीसेन का बनाया हुआ कहते हैं। आज कल एक रोमक सिद्धान्त मिलता है, जिसमें ईसा मसीह की जन्मपत्री, बाबर के राज्य का वर्णन तथा अकबर की सिन्ध-विजय दी है। "पुलिश सिद्धान्त" से एलबेरूनी परिचित था। उसने इसकी एक प्रति ली भी थी; और वह इसे पालिस नामक एक यूनानी का बनाया हुआ बतलाता है। यही पाँचो सिद्धान्त हैं, जिन्हें वराहमिहिर ने ईसवी छठी शताब्दी में संकलित किया था। डाक्टर कर्न ने पंच-सिद्धान्तिका का समय गर्ग और वराहमिहिर के बीच में अर्थात् सन् ८५ ई० के लगभग माना है।

अन्य शास्त्रों के ग्रन्थ—इस काल में अन्य शास्त्रों के भी अनेक ग्रन्थ वर्तमान थे, जो अब अप्राप्य हैं। नग्नजित् ने गृह-निर्माण, पत्थर की मूर्तियाँ बनाने, चित्रकारी तथा अन्य ऐसी ही कलाओं के ग्रन्थ बनाये थे। इस काल में, जब कि देश में चारों ओर चिकित्सालय स्थापित थे, वैद्यक शास्त्र ने भी बहुत उन्नति की थी। कहा जाता है कि प्रसिद्ध चरकसंहिता के रचयिता चरक कनिष्क के दरबार के राजवैद्य थे।

---

* V. Smith's Oxford History of India; p. 135.

सातवाँ अध्याय

शिल्प-कला की दशा

अशोक के बाद शिल्प-कला में परिवर्त्तन—अशोक के बाद मौर्य साम्राज्य का वही हाल हुआ, जो औरंगज़ेब के बाद मुग़ल साम्राज्य का हुआ था। मौर्य साम्राज्य बिलकुल छिन्न भिन्न हो गया; और उसके दूरवर्ती प्रान्त स्वतंत्र होकर अलग अलग राज्य बन गये। इस मौके पर बैक्ट्रिया और पार्थिया के यूनानी राजाओं ने उत्तरी पंजाब पर आक्रमण करके उस पर अधिकार जमा लिया। प्रायः ढाई सौ वर्षों तक पंजाब और पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त इन यूनानी राजाओं के आधिपत्य में रहा। हर्मेअस अन्तिम यूनानी राजा था, जिसने पंजाब और पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त पर राज्य किया। उसी के समय में भारतवर्ष पर कुषणों का आक्रमण हुआ। यूनानियों के बाद भारतवर्ष पर कुषण राजाओं का शासन प्रायः दो सौ वर्षों तक अर्थात् ईसवी प्रथम दो शताब्दियों में रहा। यूनानी और कुषण इन दोनों विदेशी राजवंशों के शासन काल में भारतवर्ष की प्राचीन शिल्प-कला में बड़ा परिवर्तन हुआ। इस काल की मूर्तिकारी में यूनानी प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है, जो पहले की मूर्तिकारी में बिलकुल नहीं था। इस काल में यहाँ की प्राचीन मूर्तिकारी में एक दूसरा बड़ा परिवर्तन यह हुआ कि बुद्ध भगवान् की मूर्तियाँ पहले पहल बनाई जाने लगीं। इसके पहले बुद्ध का अस्तित्व कुछ चिह्नों से सूचित किया जाता

था। इस काल की शिल्प-कला या मूर्तिकारी की सब से बड़ी विशेषता यही है। इस काल की मूर्तिकारी या शिल्प-कला को साधारणतः "कुषण मूर्तिकारी" कहते हैं; क्योंकि कुषण राजाओं के समय में इसकी विशेष उन्नति हुई थी। इस काल की मूर्तियों के दो भेद हैं। एक वह जो केवल भारतवर्ष के पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त तथा उत्तर पंजाब में पाया जाता है और जिस पर यूनान की मूर्तिकारी का विशेष प्रभाव है। यह गान्धार मूर्ति-कारी के नाम से विख्यात है। दूसरा भेद वह है, जिसकी उत्पत्ति भारतवर्ष के मध्य भाग—मथुरा, सारनाथ तथा अमरावती—में हुई और जिस पर यूनानी शिल्प-कला का इतना प्रभाव नहीं पड़ा, जितना गान्धार मूर्तिकारी पर पड़ा था। इसकी शैली गान्धार शैली से भिन्न है। इसका नाम हम "स्वदेशी कुषण मूर्तिकारी" रखते हैं; क्योंकि इसमें भारतीय भावों की प्रधानता है।

गान्धार मूर्तिकारी—पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त की मूर्तिकारी का नाम "गान्धार" इसलिये पड़ा कि इस शैली की मूर्तियाँ केवल उस प्रदेश में पाई जाती हैं, जो प्राचीन समय में "गान्धार" कह-लाता था। महाभारत के पाठकों को मालूम होगा कि कौरवों की माता गान्धारी इसी गन्धार देश के राजा की कन्या थीं। आजकल का पेशावर जिला, काबुल की तराई, स्वात, बुनेर, सिन्धु और झेलम नदियों के बीच का प्रदेश तथा तक्षशिला ये सब मिलकर प्राचीन समय में "गन्धार" कहलाते थे। मोटे तौर पर आजकल के पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त तथा उसके आस पास के प्रदेश को प्राचीन समय का "गन्धार" समझना चाहिए। इन स्थानों में जो प्राचीन मूर्तियाँ मिलती हैं, वे सब बौद्ध धर्म से

सम्बन्ध रखती हैं। यहाँ जैन या हिन्दू धर्म की एक भी मूर्त्ति अभी तक नहीं मिली। "गान्धार मूर्तिकारी" का नाम "ग्रीको-बुद्धिस्ट मूर्तिकारी" भी है; क्योंकि इसमें यूनानियों की मूर्ति-निर्माण कला का उपयोग बौद्ध धर्म सम्बन्धी विषयों में किया गया है। बुद्ध की मूर्तियाँ प्राचीन यूनान के सूर्य देवता "अपोलो" की शकल की हैं और उनका पहनावा भी प्राचीन यूनानियों का सा है। गान्धार मूर्तिकारी के सब से अच्छे नमूने कनिष्क और हुविष्क के समय के हैं। यह मूर्तिकारी ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्त्व की है। इससे उत्तरी भारत का ईसा के बाद की दो तीन शताब्दियों का इतिहास आँखों के सामने आ जाता है। गान्धार मूर्तियों में उत्तरी भारत के तत्कालीन समाज, सभ्यता, धर्म तथा कला कौशल का चित्र खिचा हुआ मिलता है। इन मूर्तियों में राजा से रंक तक, समाज के प्रत्येक वर्ग के लोगों का चित्र है। गान्धार मूर्तियाँ अधिकतर लाहौर, कलकत्ते और पेशावर के अजायबघरों में हैं। ऐसी कुछ मूर्तियाँ युरोप के लन्दन, बर्लिन, विएना आदि बड़े बड़े शहरों के अजायबघरों में भी पहुँच गई हैं।

बुद्ध और बोधिसत्व की मूर्तियाँ—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, प्राचीन बौद्ध काल अथवा मौर्य काल की स्वयं बुद्ध भगवान् की मूर्ति कहीं अंकित नहीं मिलती। इसका कारण यही है कि पूर्वकालीन बौद्धों ने बुद्ध का "निर्वाण" यथार्थ रूप में माना था। पर जब महायान संप्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ, तब गौतम बुद्ध और अन्य बोधिसत्व देवता के रूप में पूजे जाने लगे और उनकी मूर्तियाँ बनने लगीं। अशोक के बाद मौर्य साम्राज्य का अधःपतन होते ही भारतवर्ष पर यूनानियों का आक्रमण

हुआ। इनमें से बहुत से यूनानियों ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया। प्राचीन काल का शुद्ध बौद्ध मत, जो एक प्रकार से निराकार उपासना का क्रम था, उन विदेशियों की समझ में न आ सकता था। अतएव उन लोगों ने बुद्ध भगवान् की साकार उपासना करना आरंभ किया। इसके लिये उन्होंने अपने यूनानी कारीगरो से बुद्ध भगवान् की मूर्तियाँ बनवाईं। उस समय तक बुद्ध की कोई मूर्ति नहीं बनी थी; इससे उन यूनानियों के सामने बुद्ध की मूर्ति का कोई आदर्श न था। स्वभावतः उन लोगों ने यूनान की मूर्ति-कला के आदर्श पर ही बुद्ध की मूर्तियाँ गढ़ने का प्रयत्न किया। इस काम के लिये उन्होंने यूनान के सूर्य देवता "अपोलो" की मूर्ति को अपना आदर्श माना। इसी लिये गांधार मूर्तिकारी में बुद्ध की मूर्तियाँ अपोलो देवता की मूर्तियों से बहुत कुछ मिलती जुलती हैं। इन सब मूर्तियों में बुद्ध भगवान् की युवावस्था दिखलाई गई है। उनके सिर पर उष्णीश (पगड़ी) के आकार की एक जटा रहती है, जो "बुद्ध" का एक प्रधान लक्षण है। जटा के बाल घुंघराले और दाहिनी ओर को मुड़े हुए होते हैं। दोनों भौंहों के बीच में बालों की एक गोल बिन्दी रहती है, जिसे "ऊर्णा" कहते हैं। बुद्ध के मस्तक पर यह ऊर्णा उनके जन्म से थी और महापुरुष का एक प्रधान लक्षण समझी जाती थी। बुद्ध भगवान् के दोनों कन्धो से पैरों तक एक चादर लटकती रहती है, जिसकी सिकुड़न और उतार-चढ़ाव बहुत सफ़ाई के साथ दिखलाये होते हैं। यहाँ तक कि उससे शरीर की बनावट और गठन बहुत ही खूबी के साथ प्रकट होती है। गान्धार मूर्तिकारी में बुद्ध कभी बैठे हुए और

कभी खड़े हुए मिलते हैं। बुद्ध की बैठी हुई मूर्तियाँ तीन मुद्राओं में पाई जाती हैं; यथा—"ध्यान मुद्रा", "भूमि-स्पर्श मुद्रा" और "धर्मचक्र मुद्रा"। ध्यान मुद्रा में बुद्ध समाधि में स्थित और गोद में एक हाथ पर दूसरा हाथ रक्खे हुए हैं। भूमि स्पर्श मुद्रा में वे दाहिने हाथ से भूमि को स्पर्श करके साक्षी देते हैं। धर्मचक्र मुद्रा में वे दोनों हाथों को छाती तक इस प्रकार उठाये रहते हैं, मानों वे उपदेश कर रहे हैं। बुद्ध की खड़ी मूर्ति प्रायः "अभय मुद्रा" में दिखलाई पड़ती है। इस मुद्रा में वे एक हाथ छाती तक उठाये हुए इस प्रकार दिखलाये गये हैं, मानों वे संसार को अभय-दान दे रहे हों। कभी कभी बुद्ध भगवान् के दोनों अथवा एक ओर बोधिसत्व की मूर्तियाँ भी मिलती हैं। बोधिसत्व की मूर्तियाँ बुद्ध से अलग भी मिलती हैं। बुद्ध और बोधिसत्व की मूर्तियों में प्रधान भेद यह है कि बुद्ध संन्यासी के वेष में दिखलाई देते हैं; और बोधिसत्व सुन्दर वस्त्र तथा मुकुट आदि अलंकारों से भूषित राजा महाराजों के सदृश। बुद्ध भगवान् की मूर्तियों में दोनों कन्धे चादर से ढके रहते हैं; पर बोधिसत्त्व की मूर्तियों में एक कन्धा खुला रहता है। इन मूर्तियों मे दाहिना हाथ "वरद मुद्रा" में रहता है और बाएँ हाथ में कमल आदि में से कोई चिह्न रहता है। बोधिसत्त्व एक दो नहीं वरन् अनेक हैं। प्रधान बोधिसत्त्व ये हैं—अवलोकितेश्वर, मंजुश्री, मारीचि, वज्र-पाणि और मैत्रेय। अवलोकितेश्वर की मूर्तियों में दाहिना हाथ "वरद मुद्रा" में अर्थात् वर देता हुआ और बायाँ हाथ कमल ग्रहण किये हुए दिखलाया गया है। मंजुश्री दाहिने हाथ से तल-वार उठाकर मानो अज्ञानान्धकार काट रहे हैं। मारीचि सात

वराह पर सवार दिखलाये गये हैं। वज्रपाणि एक हाथ में वज्र लिये हुए हैं; और मैत्रेय एक हाथ से अभय-दान दे रहे हैं और दूसरे हाथ में घंटी के आकार की कोई वस्तु लिये हुए हैं। ये सब बोधिसत्त्व दूसरे नामों में केवल प्राचीन वैदिक देवता हैं। मालूम होता है कि जब बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ और लोग अपना पुराना धर्म छोड़कर इस नये धर्म में आये, तब अपने साथ बहुत से प्राचीन देवी देवता भी, जिनकी पूजा बहुत पहले हुआ करती थी, लेते आये। हीनयान सम्प्रदाय में शक्र, विष्णु, ब्रह्मा, नारायण आदि इन्हीं नामों से ग्रहण किये गये हैं; पर महायान संप्रदाय में ये नाम बदल दिये गये हैं। शक्र का नाम वज्रपाणि और उनके स्वर्ग का नाम त्रयस्त्रिंश लोक रक्खा गया। ब्रह्मा का नाम मंजुश्री, विष्णु का अवलोकितेश्वर, सूर्य का मारीचि और कुवेर का जंभल कर दिया गया। कहते हैं कि मैत्रेय भविष्य में अवतार लेंगे और बुद्ध पद ग्रहण करके संसार का उद्धार करेंगे।

बुद्ध के जीवन की प्रधान घटनाएँ—गन्धार देश में ऐसी बहुत मूर्तियाँ मिली हैं, जिन पर बुद्ध भगवान् के जीवन की प्रधान घटनाएँ चित्रित हैं*। किसी मूर्ति में बुद्ध की माता मायादेवी सो रही हैं और बुद्ध छः दाँतोंवाले श्वेत हस्ती के रूप में स्वर्ग से उतरकर उनके गर्भ में प्रवेश कर रहे हैं। किसी में रानी माया शाल वृक्ष की शाखा पकड़कर खड़ी हैं और उनके गर्भ से बुद्ध का जन्म हो रहा है। किसी में बालक बुद्ध अपने गुरु

---

* दिसम्बर १९१७ की सरस्वती में मेरा लिखा हुआ "बुद्ध के जीवन की प्रधान घटनाएँ" नामक लेख देखिये।

से पढ़ रहे हैं। किसी में वे अपनी कौमार अवस्था में पलंग पर तकिये के सहारे लेटे हुए स्त्रियों का गाना-बजाना सुन रहे हैं। किसी में वे गृह त्यागकर जंगल को जा रहे हैं। किसी में वे तपस्या कर रहे हैं; यहाँ तक कि तपस्या करते करते वे सूखकर काँटा हो गये हैं। किसी मे वे बोधि वृक्ष के नीचे बैठे हुए आत्म-ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं। किसी में मार तथा उसकी सेना उन पर आक्रमण कर रही है। किसी में वे अपने पाँचो शिष्यों को अपने धर्म का प्रथम उपदेश दे रहे हैं। किसी में उन के दर्शनार्थ इन्द्र आ रहे हैं। किसी में बुद्ध का निर्वाण हो रहा है. और किसी मे उनका शव दिखलाया गया है, आदि।

स्वदेशी कुषण मूर्तिकारी—इसके मूल में स्वदेशी भावों की प्रधानता है। इस पर यूनानी मूर्तिकारी का प्रभाव कुछ न कुछ अवश्य पड़ा है; किन्तु वह इतना थोड़ा है और स्वदेशी भावो में इनना डूब सा गया है कि सहसा ज्ञात नहीं होता। इसकी उत्पत्ति तथा ईसवी प्रथम तीन शताब्दियों में अधिकतर प्रचार मथुरा, सारनाथ और अमरावती में था।

मथुरा—ईसवी प्रथम तीन शताब्दियों में मथुरा बहुत बढ़ी चढ़ी नगरी थी। कुषण वंश के राजाओं के अनेक शिला-लेख यहाँ मिले हैं, जिनसे पता लगता है कि उनके समय में मथुरा बहुत महत्व का स्थान था। यहीं पर कुषण वंश के महाराज कनिष्क की कद्दे आदम मूर्ति, कुछ वर्ष हुए, पाई गई थी; और यहीं पर शुद्ध संस्कृत भाषा का पहला शिलालेख मिला था, जो कुषण वंश के महाराज वासिष्क के समय का है। कुषण काल में मथुरा नगरी बौद्ध, जैन तथा हिन्दू इन तीनों धर्मों का केन्द्र और

तीर्थ थी। इसके समीप लाल पत्थर की कई खानें हैं, जिस कारण प्राचीन काल में यह नगरी मूर्ति-निर्माण कला का एक केन्द्र बन गई थी। यहाँ के मूर्तिकार समस्त उत्तरी भारत में प्रसिद्ध थे। जिस तरह आजकल उत्तरी भारत में जयपुर की मूर्तियों का प्रचार है, उसी तरह प्राचीन समय में मथुरा की बनी हुई मूर्तियों का प्रचार था। यहाँ की मूर्तिकारी इतनी प्रसिद्ध थी कि उत्तरी भारत के धनी मनुष्य अपने इष्ट-देवताओं की बड़ी बड़ी मूर्तियाँ यहाँ से बनवाकर सैकड़ों मील दूर अपने अपने स्थान पर ले जाते थे। उदाहरण के लिये मथुरा की बनी हुई बहुत बड़ी बड़ी कई मूर्तियाँ चार सौ मील दूर सारनाथ में मिलती हैं। केवल कुषण काल में ही नहीं, बल्कि बाद को गुप्त काल में भी मथुरा की मूर्ति-निर्माण कला वैसी ही उन्नत अवस्था में थी। कुषण वंशी राजाओं का राज्य गंधार में भी था और मथुरा में भी। यही कारण है कि मथुरा की मूर्तिकारी पर गान्धार मूर्तिकारी का कुछ प्रभाव मालूम होता है। संभव है, उस समय गन्धार प्रान्त के कुछ मूर्ति-कार मथुरा में आये हों और अपना प्रभाव वहाँ की मूर्ति-निर्माण शैली पर छोड़ गये हों। मथुरा में कुछ मूर्तियाँ ऐसी भी मिली हैं, जिनके वस्त्र, भाव तथा आकृति बिलकुल यूनानियों की सी है।

सारनाथ—मथुरा के समान सारनाथ भी कुषण काल में बौद्ध और जैन धर्म का केन्द्र था। सारनाथ में इन दोनों धर्मों के अनेक मन्दिर और मठ थे, जिन्हें बारहवीं शताब्दी के अन्त में कट्टर मुसल्मानों ने तोड़कर मिट्टी में मिला दिया। हिन्दू धर्म के केन्द्र बनारस के प्राचीन मन्दिरों और मूर्तियों का भी यही हाल हुआ। सारनाथ के मूर्तिकार साधारण तौर पर चुनार के

पीले पत्थर की मूर्तियाँ बनाते थे। अशोक का सारनाथवाला शिला-स्तंभ भी इसी पत्थर का बना हुआ है। परन्तु, जैसा कि ऊपर कहा गया है, धनी मनुष्य प्रायः मथुरा की बनी हुई मूर्तियाँ ही अधिक पसन्द करते थे और वहाँ से मँगवाकर सारनाथ में स्थापित करते थे। सारनाथ की बनी हुई कुषण काल की मूर्तियों पर भी कुछ कुछ यूनानी प्रभाव दिखाई देता है।

अमरावती—मद्रास प्रान्त के गुन्टूर ज़िले में कृष्णा नदी के किनारे अमरावती नगरी भी कुषण काल में मूर्ति निर्माण-कला का एक केन्द्र थी। यहाँ एक स्तूप के ध्वंसावशेष में संगमरमर की बहुत सी मूर्तियाँ हैं। वे इतनी उत्तम हैं कि मर्मज्ञों की राय में वे भारतीय मूर्तिकारी की पराकाष्ठा हैं। उनकी शैली गन्धार और मथुरा की शैलियों से मिलती है। स्वदेशी भावों की प्रधानता होते हुए भी यूनानी मूर्तिकारी का उन पर जो प्रभाव पड़ा है, उसका पता सहज में लग सकता है।

स्वदेशी कुषण-मूर्तिकारी की विशेषताएँ—गान्धार मूर्तिकारी की तरह मथुरा, सारनाथ तथा अमरावती की मूर्तिकारी में भी एक विशेष बात ध्यान देने योग्य है। इसी काल में हमें पहले पहल बुद्ध की मूर्तियाँ दिखलाई पड़ती हैं। इन स्थानों में भी कुषण काल के पहले की बुद्ध की कोई मूर्ति नहीं मिलती। गन्धार देश में केवल बौद्ध धर्म सम्बन्धी मूर्तियाँ मिलती हैं; किन्तु मथुरा तथा सारनाथ में कुषण काल की बौद्ध, जैन और हिन्दू तीनों धर्मों से सम्बन्ध रखनेवाली मूर्तियाँ मिलती हैं। गान्धार मूर्तियों की तरह मथुरा आदि में भी कुषण-काल की बौद्ध मूर्तियों के सिरों पर एक उष्णीश (जटा) है; किन्तु बाल घूँघरवाले नहीं।

दोनों भौंहों के बीच में बालों की एक गोलाकार बिन्दी अर्थात् ऊर्णा भी रहती है। गान्धार मूर्तियों की तरह बुद्ध के दोनों कन्धों से एक चादर पैर तक लटकती रहती है; किन्तु कपड़े की बारीकी वैसी खूबी के साथ नहीं दिखलाई गई, जैसी गुप्त काल की मूर्तियों में है। मूर्ति के सिर के चारों ओर एक बिलकुल सादा तथा अलंकार-रहित प्रभामण्डल भी रहता है। बाद को गुप्त काल में यही प्रभामण्डल सादा नहीं, किन्तु बेल-बूटों से खूब सजा हुआ मिलता है। इसके सिवा कुषण काल की मूर्तियों मे वह गंभीरता, शान्ति तथा चित्ताकर्षक भाव नहीं है, जो गुप्त काल की मूर्तियों में है। कुषण काल की मूर्तियों में जो कुछ विदेशी भाव थे, वे गुप्त काल की मूर्तियों से बिलकुल लुप्त हो गये। गुप्त काल का इतिहास हमारे विषय के बाहर है. इसमे उस काल की शिल्प कला के सम्बन्ध में हम विशेष नहीं लिखना चाहते।

आठवाँ अध्याय

बौद्ध धर्म का ह्रास और पौराणिक धर्म का विकास

बुद्ध के समय में बौद्ध धर्म केवल एक छोटे से प्रान्त में सीमाबद्ध था। जब ई० पू० ४८७ के लगभग बुद्ध भगवान् का निर्वाण हुआ, तब बौद्ध धर्म केवल एक छोटा सा संप्रदाय था। उस समय उसका प्रचार केवल गया, प्रयाग और हिमालय के बीचवाले प्रान्त में था। पर अशोक के धार्मिक उत्साह की बदौलत वह धर्म केवल कुल भारतवर्ष में ही नहीं, बल्कि उसके बाहर भी दूसरे देशों में फैल गया। अशोक के समय से कनिष्क के समय तक अर्थात् मोटे तौर पर ई० पू० २०० से ई० प० २०० तक बौद्ध धर्म का प्रचार उत्तरी भारत में बड़ी प्रबलता के साथ हो रहा था। इन चार सौ वर्षों की बनी हुई मूर्तियों, स्तूपों और मन्दिरों के जो भग्नावशेष तथा शिलालेख मिले हैं, वे सब प्रायः बौद्ध धर्म सम्बन्धी हैं। पर इससे यह न समझ लेना चाहिए कि हिन्दू या ब्राह्मण धर्म उस समय बिलकुल लुप्त हो गया था। यज्ञ आदि उस समय भी होते थे, पर अधिक नहीं। हिन्दू देवी-देवताओं की पूजा भी लुप्त नहीं हुई थी। इसका सबूत पुष्यमित्र के अश्वमेध यज्ञ, एन्टिएल्काइडस के बेस-नगरवाले शिलालेख, कैड़फाइसिज़ द्वितीय तथा वासुदेव के सिक्कों और वासिष्क के मथुरावाले यूप-स्तंभ से मिलता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि जो बौद्ध धर्म किसी समय सारे

भारतवर्ष का प्रधान धर्म था, वह भारतवर्ष से एक दम किस तरह लुप्त हो गया। इसका उत्तर यह है कि वह गायब नहीं हुआ, बल्कि दूसरे रूप में बदल गया। हर एक संस्था मे समय की आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्तन हुआ करते हैं। जिस समय बुद्ध भगवान् ने अपना धर्म चलाया, उस समय यज्ञ और बलिदान खूब होते थे। लोगों में दया का भाव कम हो रहा था। वे यज्ञ, होम, जप, मन्त्र और तपस्या को ही सब से बड़ा धर्म मान रहे थे और वास्तविक धर्म की ओर से पराङ्मुख हो रहे थे। वे रवाज की गुलामी में चारो ओर से जकड़े हुए थे और सरल तथा स्वाभाविक जीवन की महिमा भूल गये थे। ऐसे समय में बुद्ध ने एक नये धर्म की स्थापना करके अहिंसा तथा दया का प्रचार किया और अच्छे कर्म करने की महिमा लोगों को बतलाई। बुद्ध ने लोगों से कहा कि तुम हवि, घृत आदि अग्नि मे मत जलाओ, बल्कि अपने बुरे विचारों और कार्यों को, अपनी बुरी प्रवृत्तियों और इच्छाओं को, अपने क्रोध और ईर्ष्या के भावों को ज्ञान रूपी अग्नि में दहन करो। पर बुद्ध का प्रचलित किया हुआ धर्म एक प्रकार का संन्यास मार्ग था। बुद्ध के मूल उपदेश में आत्मा, ब्रह्म या ईश्वर का अस्तित्व नहीं माना गया था। सर्व-साधारण इस शुष्क निरीश्वर संन्यास-मार्ग को न समझ सकते थे। बुद्ध के सिद्धान्तों के अनुसार निर्वाण प्राप्त करने के लिये संसार से वैराग्य लेकर भिक्षुओं की तरह जीवन बिताना नितान्त आवश्यक था; पर सब लोग गृहस्थी छोड़कर भिक्षु या संन्यासी नहीं बन सकते थे। अतएव उनके लिये एक ऐसे सरल और प्रत्यक्ष मार्ग की आवश्यकता हुई, जो सब के हृदयों को आकर्षित

कर सके। इसी उद्देश्य से महायान संप्रदाय की उत्पत्ति हुई, जो एक प्रकार का भक्ति मार्ग था। इस सम्प्रदाय के अनुसार बुद्ध भगवान् परमात्मा समझे जाने लगे। बुद्ध के साथ ही साथ बहुत से बोधिसत्वों की भी कल्पना की गई। महायान संप्रदाय में बुद्ध और बोधिसत्व की पूजा देवी-देवताओं की तरह होने लगी। इसके साथ ही साथ यह उपदेश किया जाने लगा कि देवादिदेव बुद्ध की भक्ति करने से, उनके स्तूप की पूजा करने से अथवा उनकी मूर्ति पर भक्तिपूर्वक दो चार पुष्प चढ़ा देने से ही मनुष्य को सद्गति प्राप्त हो सकती है। महायान के सिद्धान्तों के अनुसार गृहस्थाश्रम में रहते हुए भक्ति के द्वारा निर्वाण पद पाना असंभव नहीं। यह महायान संप्रदाय प्राचीन बौद्ध धर्म की अपेक्षा हिन्दू धर्म से अधिक मिलता है। ज्यों ज्यों महायान संप्रदाय का प्रचार बढ़ने लगा, त्यों त्यों उसके रूप में अधिक परिवर्तन होता गया और वह पौराणिक धर्म से अधिक मिलने लगा। साथ ही पौराणिक धर्म और ब्राह्मणों का प्रभाव भी बराबर बढ़ने लगा। यहाँ तक कि गुप्त राजाओं के काल में पौराणिक धर्म और ब्राह्मणों का प्रभाव पूर्ण रूप से जम गया। गुप्त राजा हिन्दू धर्म के अनुयायी थे और ब्राह्मणों की राय से काम करते थे। वे संस्कृत के भी पण्डित थे और संस्कृत विद्वानों तथा कवियों का आदर करते थे। गुप्त वंश के द्वितीय तथा चतुर्थ राजा समुद्रगुप्त और कुमारगुप्त ने अश्वमेध यज्ञ करके हिन्दू धर्म को फिर से जाग्रत कर दिया। इस राज-सम्मान से हिन्दू धर्म को बड़ा भारी बल प्राप्त हुआ और साथ ही इससे बौद्ध धर्म को बड़ा धक्का भी पहुँचा। तो भी गुप्त काल में बौद्ध धर्म का अधिक ह्रास नहीं

हुआ था। फाहियान को सिन्धु नदी से मथुरा तक ५०० मील की यात्रा में सैकड़ों बौद्ध मन्दिर और संघाराम मिले, जिनमें सहस्रों भिक्षु निवास करते हुए दिखलाई पड़े। पर भारतवर्ष के अन्य स्थानों में बौद्ध धर्म बिलकुल हीन अवस्था में था। इसके बाद ईसवी सातवीं शताब्दी मे हर्ष तथा ह्वेनत्सांग के समय बौद्ध धर्म बहुत हीनता को प्राप्त हो गया था। जो गन्धार प्रदेश फाहियान के समय बौद्ध धर्म का प्रधान केन्द्र हो रहा था, उसी में ह्वेनत्सांग ने बौद्ध धर्म को बड़ी गिरी हुई दशा में पाया। उसने अपने यात्रा-वृत्तान्त मे बौद्ध धर्म की इस हीन अवस्था पर बड़ा दुःख प्रकट किया है। अन्त मे सातवीं शताब्दी के बाद मुसलमानों के लगातार आक्रमण से बौद्ध धर्म का बचा खुचा प्रभाव भी सदा के लिये जाता रहा। मुसलमानों ने अनेक बौद्ध-विहार जला दिये और उनमें रहनेवाले भिक्षु तलवार के बल से उच्छिन्न कर दिये गये। इस प्रकार धीरे धीरे बौद्ध धर्म अपनी जन्मभूमि से सदा के लिये लुप्त हो गया।

बौद्ध धर्म किस तरह धीरे धीरे हिन्दू धर्म में परिवर्तित हो रहा था, यह पाली और संस्कृत के इतिहास से मालूम होता है। बुद्ध भगवान् ने अपने धर्म का प्रचार उस समय की बोलचाल की भाषा में किया था। अशोक ने अपने धर्मलेख उस समय की सर्वसाधारण की भाषा में लिखवाये थे। पर धीरे धीरे बौद्ध धर्म पर ब्राह्मणों का प्रभाव इतना बढ़ गया था कि कनिष्क के समय मे महायान संप्रदाय के ग्रन्थ संस्कृत में ही लिखे जाने लगे। धीरे धीरे शिलालेखों में भी संस्कृत भाषा का प्रयोग होने लगा। वासिष्क के राज्य काल का शुद्ध संस्कृत का एक शिलालेख मथुरा

में और दूसरा शिलालेख रुद्रदामन् का गिरनार में है। इसके बाद गुप्त काल के प्रायः समस्त शिला लेख संस्कृत में ही मिलते हैं। गुप्त राजाओं के सिक्कों पर भी सस्कृत भाषा के लेख अंकित हैं। इन सब बातों से सूचित होता है कि बौद्ध धर्म धीरे धीरे हिन्दू धर्म में परिवर्तित हो रहा था।

बौद्ध धर्म किस तरह धीरे धीरे हिन्दू धर्म में रूपांतरित हो रहा था, यह शिलालेखों से भी जाना जाता है। अशोक के समय से कनिष्क के समय तक के शिलालेखों में जितने व्यक्तियों के नाम आये हैं या जितने दानों के उल्लेख हुए हैं, उनमें से तीन-चौथाई बौद्ध धर्म सम्बन्धी हैं। बाक़ी एक-चौथाई में से अधिकतर जैन धर्म सम्बन्धी हैं। कनिष्क के समय से शिलालेखों में ब्राह्मणों, हिन्दू देवी-देवताओं, हिन्दू मन्दिरों और यज्ञों का अधिकतर उल्लेख आता है। यहाँ तक कि पाँचवीं शताब्दी में गुप्त राजाओं के काल के तीन-चौथाई शिलालेख हिन्दू धर्म संबंधी हैं; और बाकी एक-चौथाई मे से अधिकतर जैन धर्म सम्बन्धी। इससे साफ जाहिर है कि बौद्ध धर्म धीरे धीरे हिन्दू धर्म को अपना स्थान दे रहा था। जो बौद्ध धर्म कनिष्क के समय तक भारतवर्ष का एक प्रधान धर्म था, वही गुप्त काल मे या उसके बाद केवल थोड़े से लोगों का धर्म रह गया था। इस कारण जिस भारत को हम कनिष्क के समय तक **"बौद्ध-कालीन भारत"** कह सकते हैं, वही कनिष्क के बाद **"पौराणिक या हिन्दू-कालीन भारत"** में बदल जाता है। परिवर्तन का यह क्रम धीरे धीरे लगातार शताब्दियों तक जारी रहा; यहाँ तक कि बौद्ध धर्म की जन्मभूमि भारतवर्ष में अब नाम के लिये भी बौद्ध न रह गया।

ब्राह्मणों के रचे हुए ग्रन्थों के आधार पर कुछ लोगो का यह विश्वास है कि बौद्ध धर्म भारतवर्ष में ब्राह्मणों और हिन्दू राजाओं के अत्याचार से मिट गया। संभव है, ब्राह्मणों के कहने से हिन्दू राजाओं ने समय समय पर बौद्धों पर भयानक अत्याचार किये हो: पर यह समझना भारी भूल है कि केवल हिन्दू राजाओं या ब्राह्मणों के अत्याचार से ही बौद्ध धर्म, जो किसी समय समस्त भारत का प्रधान धर्म था, यहाँ से सदा के लिये लुप्त हो गया। बल्कि यों कहना चाहिए कि भारत में बौद्ध धर्म धीरे धीरे हिन्दू धर्म मे परिवर्तित होता हुआ अन्त में उसी में मिल गया।

उपसंहार

बुद्ध भगवान् केवल भारतवर्ष के ही नहीं वरन् समस्त संसार के महापुरुषों में गिने जाते हैं। उन्होंने भारतवर्ष के इतिहास मे एक नवीन युग की स्थापना की। उनके आने के पहले वैदिक धर्म अपनी सरलता और स्वाभाविकता खो चुका था। लोग यज्ञ, होम, बलिदान, जप और मन्त्र को ही सब से बड़ा धर्म मानने लगे थे। यज्ञ-प्रथा का प्रभाव समाज पर बहुत ही बुरा पड़ता था। यज्ञों में जो पशु-वध होता था, उससे मनुष्यों के हृदय कठोर और निर्दय होते जा रहे थे और उनमें से जीवन के महत्व का भाव उठता जा रहा था। लोग आत्मिक जीवन का गौरव भूलने लगे थे। वे बाह्याडम्बर को ही अपने जीवन में सब से श्रेष्ठ स्थान देते थे। लोग ब्राह्मणों के हाथ में अपना धर्म, कर्म, जप, होम आदि छोड़ देते थे और स्वयं कुछ नहीं करते थे। लोग यह समझते थे कि ब्राह्मणों के द्वारा धर्म-कर्म कराने से हमारे लिये मुक्ति का द्वार खुल जायगा। वे आत्मा की वास्तविक उन्नति के प्रति उपेक्षा कर रहे थे। आत्मिक उन्नति प्राप्त करने अथवा प्रकृति पर विजय पाने के लिये अनेक प्रकार की तपस्याओं के द्वारा अपनी काया को कष्ट पहुँचा रहे थे। समाज के बहुत से लोग आत्मा, परमात्मा, माया, प्रकृति सम्बन्धी शुष्क वितण्डावाद में फँसे हुए थे। इन लोगों के द्वारा समाज में एक प्रकार की नीरसता और शुष्क ज्ञान-मार्ग का प्रचार हो रहा

था। मनुष्यों में ऊँच नीच का भाव खूब जोर पकड़ रहा था। ऊँची जातियों के लोग शूद्रों और हीन जाति के लोगों को बहुत छोटी निगाह से देखते थे। लोगों में प्रचलित धर्म के प्रति असन्तोष और अविश्वास फैला हुआ था। लोग नये नये भावों से प्रेरित होकर परिवर्तन के लिये लालायित हो रहे थे। वे एक ऐसे पुरुष की प्रतीक्षा कर रहे थे, जो अपने गंभीर विचारों और सदुपदेशों से उनकी आत्मिक पिपासा शान्त करे, और उनके सामने एक ऊँचा आदर्श रखकर उनका जीवन उन्नत बनावे। ऐसे समय बुद्ध भगवान् ने अवतार लेकर समय की आवश्यकता को ठीक तरह से समझा और भारतवर्ष क्या, संसार के इतिहास में एक नया युग स्थापित किया।

सब से बड़ी बात जो बुद्ध भगवान् ने की, वह यह थी कि उन्होंने ऊँच नीच का भाव बिलकुल मिटा दिया। उन्होंने अपने धर्म का द्वार छोटे-बड़े, ब्राह्मण और शूद्र सब के लिये समान रूप से खोल दिया। उनकी दृष्टि मे ब्राह्मण और अन्त्यज, ऊँच और नीच सब बराबर थे। उनके मत से सब लोग पवित्र जीवन के द्वारा निर्वाण प्राप्त कर सकते थे। कोई गृहस्थ, चाहे वह कितने ही नीच वंश का क्यों न हो, भिक्षुओं के सम्प्रदाय मे आकर अपने सदाचार से बड़ी से बड़ी प्रतिष्ठा पा सकता था।

दूसरी बात बुद्ध भगवान् ने यह की कि अहिंसा और दया का प्रचार करके लोगों को अधिक सात्विक और सदाचारी बनाने का प्रयत्न किया। गौतम बुद्ध की सब से प्रधान शिक्षा गृहस्थ और भिक्षु दोनों के लिये यही थी कि मनुष्य को न तो स्वयं कोई जीव मारना चाहिए और न किसी को मारने के लिये प्रेरित

करना चाहिए। उनके सिद्धांतों के अनुसार गृहस्थों और भिक्षुओं के लिये आवश्यक होता था कि वे प्रत्येक प्राणी के वध का विरोध करें, चाहे वह प्राणी छोटा हो या बड़ा।

तीसरी बात बुद्ध भगवान् ने यह की कि अपने शिष्यों को सहयोग की शिक्षा दी और अपने देशवासियों के सामने संघटन शक्ति का आदर्श रक्खा। उनका स्थापित किया हुआ भिक्षु संघ सहयोग और संघटन शक्ति का बड़ा उज्ज्वल उदाहरण है। इसी सहयोग शक्ति की बदौलत बौद्ध धर्म का प्रचार केवल भारत के कोने कोने मे ही नहीं, बल्कि बाहर भी दूर दूर तक हो गया।

चौथी बात बुद्ध भगवान् ने यह की कि अच्छा कर्म करने की महिमा लोगों को बतलाई। बुद्ध के सिद्धांतों के अनुसार जन्म एक दुःख की बात है। इस जन्म के दुःख से छुटकारा पाना ही सब से बड़ा उद्देश्य माना गया है; और अच्छा कर्म करने से ही मनुष्य जन्म के दुःख से छूट सकता है। बुद्ध भगवान् ने मनुष्यों को यह उपदेश दिया कि जो लोग धर्म-मार्ग पर चलना चाहते हों, उन्हें चाहिए कि वे दयालु, सदाचारी और पवित्र-हृदय बनें। बुद्ध के पहले लोगों का विश्वास था यज्ञों में, मन्त्रों मे, तपस्याओं मे और शुष्क ज्ञान मार्ग में। पर बुद्ध ने लोगों को यज्ञ, मन्त्र, कर्म-काण्ड और धर्माभास की जगह अन्तःकरण शुद्ध करने की शिक्षा दी। उन्होंने दीनों और दरिद्रों की भलाई करने, बुराई दूर करने, सब से भाई की तरह स्नेह करने और सदाचार तथा सच्चे ज्ञान के द्वारा दुःखों से छुटकारा पाने का उपदेश दिया। बुद्ध की पाँच प्रधान शिक्षाएँ, जो "पंचशील" कहलाती हैं, यही सूचित करती हैं कि बुद्ध भगवान् सदाचार और सत्कर्म पर बहुत ज़ोर

देते थे। वे पाँच शिक्षाएँ ये है:—(१) किसी जीव को न मारना, (२) चोरी न करना, (३) झूठ न बोलना, (४) नशे की आदत न डालना और (५) व्यभिचार न करना।

यही पाँच बाते हैं, जिनकी शिक्षा बुद्ध भगवान् ने लोगों को दी और जिनका प्रचार सर्व साधारण मे विशेष रूप से किया। पर बौद्ध धर्म की बदौलत भारतवर्ष को तीन भारी हानियाँ भी सहनी पड़ी। पहली हानि यह हुई कि बौद्ध धर्म ने स्त्रियों को बहुत नीचा स्थान दिया, जिससे स्त्रियों के अधिकारों को बड़ा धक्का पहुँचा। प्रारंभ मे स्त्रियों को भिक्षु-संघ मे भर्ती होने का अधिकार नहीं प्राप्त था; पर अंत मे अपने प्रधान शिष्य आनन्द के बहुत कहने से बुद्ध भगवान ने स्त्रियो को भी संघ मे भर्ती करने की अनुमति दे दी। पर उन्होंने अपने उपदेश में स्त्रियो के स्वभाव की बहुत निन्दा की है।

दूसरी हानि बौद्ध धर्म की बदौलत यह हुई कि अधिक दया का प्रचार होने के कारण लोगों मे क्षत्रियत्व अथवा वीरता का अभाव हो गया। अहिंसा के अधिक प्रचार के कारण लोगों में युद्ध संबंधी कार्यों के प्रति घृणा का भाव पैदा हो गया। अतएव जब भारतवर्ष पर मुसलमानो का आक्रमण हुआ, तब यहाँ के लोगों में पहले का सा क्षत्रियत्व और वीरता न रह गई थी। इसी से मुसलमानों को भारतवर्ष विजय करने मे इतनी आसानी हुई।

तीसरी हानि बौद्ध धर्म के कारण यह हुई कि लोगो के हृदयों में नीरसता तथा वैराग्य का भाव प्रबल हो गया; क्योंकि बुद्ध भगवान् का प्राचीन मत शुद्ध संन्यास मार्ग था और उससे लोगों को संसार से विरक्त होने की शिक्षा मिलती थी। यही

दोष दूर करने के लिये महायान संप्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ। पर उससे मूर्ति पूजा की जड़ जमी, जिससे भारतवर्ष को एक दूसरी विपत्ति का सामना करना पड़ा। सारे देश में मठ, मन्दिर और मूर्तियाँ व्याप्त हो गईं। न जाने उन पर कितना द्रव्य पानी की तरह बहाया जाने लगा। विशेषतः इन मन्दिरों और मठों की संपत्ति की चर्चा सुनकर ही मुसलमानों ने पहले पहल भारतवर्ष पर आक्रमण किया था।

यद्यपि वर्तमान समय में बौद्ध धर्म के चिह्न भारतवर्ष में स्पष्ट रूप से नहीं दिखलाई पड़ते, तथापि उसका जो प्रभाव हमारी शिक्षा, दीक्षा और सामाजिक उन्नति पर पड़ा, वह बहुत अधिक है। शिल्प-कला में हमारा नाम करनेवाला बौद्ध काल ही है। अशोक के समान धार्मिक सम्राट् बुद्ध महाराज के उपदेश का ही परिणाम है। भारत के गुहा मन्दिर और मूर्तियाँ बौद्ध धर्म की ही करामात हैं। युरोप के खैराती कामों और परोपकारी भावों की प्रशंसा करनेवालों को यह सुनकर आश्चर्य होगा कि उनके यहाँ तो पहले पहले ईसवी चौदहवीं शताब्दी में, फ्रान्स में, केवल मनुष्यों के लिये अस्पताल खुले थे; किन्तु हमारे देश में मनुष्यों के लिये तो चिकित्सालय बहुत पहले से थे ही, किन्तु बौद्ध धर्म के प्रभाव से जीव-जन्तुओं और कीड़े मकोड़ों के लिये भी ईसा से तीन सौ वर्ष पहले चिकित्सालय खुल चुके थे। जानवरों के लिये अस्पताल गुजरात में चीनी यात्री फ़ाहियान को पाँचवीं शताब्दी में और ह्वेनत्सांग को सातवीं शताब्दी में भी खूब उन्नत दशा में मिले थे। सड़कों के दोनो तरफ़ पेड़ लगवाना, कूएँ खुदवाना, लम्बी लम्बी नहरें निकालना, रास्तों में धर्म-शालाएँ बनाना, ये सब बातें

बौद्ध धर्म ही की शिक्षा का फल थीं। उसी के प्रभाव से हमारे देश में प्रजातन्त्र राज्य और नियम-बद्ध साम्राज्य की प्रणाली भी बहुत उन्नत दशा को पहुँची थी। जिस राजनीति का डंका आज-कल युरोप और अमेरिका में बज रहा है, उसकी भी उन्नति हमारे यहाँ बौद्ध काल में पूर्ण रूप से हो चुकी थी। सारांश यह कि भारतवर्ष के इतिहास का बौद्ध काल बहुत अधिक उन्नति और ऐश्वर्य का काल था और उसका बहुत कुछ प्रभाव हमारी सभ्यता तथा आचरण पर पड़ा है। इसी बौद्ध काल के समाज, सभ्यता, साहित्य तथा शिल्पकला का इतिहास इस ग्रन्थ में दिया गया है। आशा है, पाठकों को इससे लाभ पहुँचा होगा।

—※※—

परिशिष्ट (क)

चार बौद्ध महासभाएँ

प्रथम महासभा

कहा जाता है कि बुद्ध के निर्वाण के कुछ ही दिन बाद सुभद्द (सुभद्र) नामक भिक्षुक ने अन्य भिक्षुओं से कहा—"अच्छा हुआ, बुद्ध मर गये। हम लोग उनके चंगुल से छूट गये। अब हम लोग स्वतंत्रता के साथ जो चाहेंगे, कर सकेंगे।" उसने बुद्ध भगवान् के विरुद्ध आन्दोलन करना प्रारंभ किया। मालूम होता है कि उस समय बौद्ध धर्म में प्रबल मत-भेद हो गया था; और भिक्षु संप्रदाय कदाचित दो पक्षों में बँट गया था, जिनमें से एक पक्ष का नेता सुभद्र था। सुभद्र के मत का खण्डन तथा बुद्ध भगवान् के उपदेशों और सिद्धान्तों का संग्रह करने के लिये महा-काश्यप, आनन्द और उपालि आदि पाँच सौ भिक्षुओं ने राजगृह में एक महासभा की। इस महासभा के सभापति वृद्ध विद्वान् महाकाश्यप थे। यह महासभा राजगृह के पास वेभार (वैहार) पहाड़ी की सप्तपर्णी गुफा में हुई। मगध के राजा अजातशत्रु ने यह गुफा इसी उद्देश्य से बनवाई थी। वह सभा लगातार सात महीनों तक होती रही। इसमें बुद्ध के विनय और धर्म सम्बन्धी सिद्धान्त संगृहीत किये गये।

द्वितीय महासभा

बौद्ध ग्रन्थों से पता लगता है कि द्वितीय बौद्ध महासभा प्रथम महा-सभा के लगभग सौ वर्ष बाद वैशाली के समीप वेलुकाराम में की

गई। मालूम होता है कि उस समय फिर भिक्षु-संप्रदाय में एक ऐसा दल पैदा हो गया था, जिसने बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों में कुछ परिवर्तन करने का उद्योग किया। इस उद्योग के विरुद्ध काकनद के पुत्र स्थविर यश तथा रेवत आदि ७०० भिक्षुओं ने वैशाली में एक महासभा की। यह महासभा लगातार आठ महीनों तक होती रही। इसमें बुद्ध भगवान् के उपदेशों और सिद्धान्तों की पुनरावृत्ति की गई। पर मालूम होता है कि इस महासभा के निश्चय को सब लोगों ने नहीं माना; क्योंकि इसके विरुद्ध पक्षवालों ने अपनी सभा अलग की, जिसमें अधिक भिक्षु सम्मिलित हुए थे। खेद है कि इस विरुद्ध सभा का कोई विशेष वृत्तान्त ज्ञात नहीं। बौद्ध दन्त-कथाओं में से पता चलता है कि यह सभा कालाशोक के राज्य काल मे हुई थी। पर इस कालाशोक का भी कुछ पता नहीं है।

तृतीय महासभा

"दीपवंश" और "महावंश" से पता लगता है कि द्वितीय महासभा के १३५ वर्ष बाद सम्राट् अशोक ने बौद्ध धर्म के ग्रन्थों अर्थात् "त्रिपिटक" को अन्तिम बार निश्चित करने के लिये ई० पू० २४२ के लगभग पटने में एक तीसरी सभा की। इस सभा के अगुआ तिस्स मोग्गलिपुत्त थे। उस समय पटने के अशोकाराम में ६३ हज़ार धूर्त भिक्षु रहते थे। वे बुद्ध भगवान् के सिद्धान्तों के विरुद्ध आचरण करते थे और बौद्ध धर्म को बदनाम कर रहे थे। उन्हे वहाँ से निकलवाकर मोग्गलिपुत्त आदि एक हज़ार भिक्षु अशोकाराम विहार में एकत्र हुए। लगातार नौ मास तक सभा करके उन लोगों ने त्रिपिटक की पुनरावृत्ति की। मालूम होता है कि इसी सभा के निश्चय के अनुसार बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिये भिक्षु-गण विदेशों में भेजे गये थे। इस सभा के बाद ही अशोक ने अपने पुत्र महेन्द्र को धर्म-प्रचारार्थ लंका भेजा। महेन्द्र अपने साथ बहुत से ऐसे भिक्षुओं को भी लेता गया था, जिन्हें "त्रिपिटक" कण्ठाग्र थे। इस प्रकार लंका में वे त्रिपिटक पहुँचे, जो पटने की सभा में निश्चित

हुए थे। अनुमान है कि सारनाथ का स्तंभ-लेख, जिसमें स्पष्ट शब्दों में लिखा है—"जो भिक्षुकी या भिक्षुक संघ में फूट डालेगा, वह सफेद कपड़ा पहनाकर उस स्थान में रख दिया जायगा, जो भिक्षुओं के लिये उचित नहीं है" इसी सभा के निश्चय के अनुसार बना था।

चतुर्थ महासभा

बौद्ध धर्म की चौथी महासभा कनिष्क के समय में हुई। अशोक के बाद फिर धीरे धीरे बौद्ध धर्म अनेक संप्रदायों में बँटने लगा। यहाँ तक कि कनिष्क के पहले बौद्ध धर्म में निश्चित रूप से १८ संप्रदाय हो गये थे। कदाचित् इन संप्रदायों को एक करने के लिये ही यह सभा हुई थी। इस सभा के सम्बन्ध में बौद्ध ग्रन्थों में परस्पर विरोधी बातें पाई जाती हैं। तारानाथ कृत बौद्ध धर्म के इतिहास से पता लगता है कि अठारह संप्रदायों में जो झगड़ा हो रहा था, वह इस महासभा में तै हुआ। एक दूसरे तिब्बती ग्रन्थ से पता लगता है कि कनिष्क ने भिन्न भिन्न संप्रदायों के पारस्परिक विरोध का अन्त करने के लिये अपने गुरु पार्श्व से एक बौद्ध महासभा करने का प्रस्ताव किया। पार्श्व ने यह प्रस्ताव स्वीकृत कर लिया और इसके अनुसार बौद्ध धर्म के विद्वानों की एक बड़ी सभा करने का प्रबन्ध किया। कनिष्क ने इसके लिये कश्मीर की राजधानी में एक बड़ा विहार निर्माण कराया। इस महासभा में ५०० विद्वान् उपस्थित थे और इसके सभापति वसुमित्र चुने गये थे। इन विद्वानों ने समस्त बौद्ध ग्रन्थों को अच्छी तरह से देख भालकर सब संप्रदायों के मत के अनुसार बड़े परिश्रम के साथ संस्कृत भाषा के एक एक लाख श्लोकों में सूत्र-पिटक, विनय-पिटक और अभिधर्म-पिटक पर तीन महा-भाष्य रचे। ये महाभाष्य क्रम से "उपदेश", "विनय-विभाषा-शास्त्र" और "अभिधर्म-विभाषा-शास्त्र" कहलाते हैं। जब महासभा का कार्य समाप्त हुआ, तब जो महाभाष्य उसमें रचे गये थे, वे ताम्रपत्र पर नकल करके एक ऐसे स्तूप में रक्खे गये, जो कनिष्क की आज्ञा से केवल

इसी लिये बनवाया गया था। मालूम होता है कि इस महासभा में कुछ ऐसे सिद्धान्त भी निश्चित हुए थे, जो सब संप्रदायों को मान्य थे।

परिशिष्ट (ख)

बुद्ध का निर्वाण काल

बुद्ध के निर्वाण का ठीक समय क्या है, इसका अभी निश्चय नहीं हुआ। इस पर भिन्न भिन्न विद्वानों के भिन्न भिन्न मत हैं। मैक्स म्यूलर और कार्पेन्टियर साहब ने बुद्ध के निर्वाण का समय ई० पू० ४७७ सिद्ध किया है*। लंका की दन्त-कथाओं से निर्वाण का समय ई० पू० ५४४ या ५४३ सिद्ध होता है। फ्लीट और गीगर साहब ने इसका समय ई० पू० ४८३ निश्चित किया है। विन्सेन्ट स्मिथ साहब ने निर्वाण-काल ई० पू० ४८७ माना है†। पर इस बात से प्रायः सभी विद्वान् सहमत हैं कि यह घटना ई० पू० ४९० और ४८० के बीच किसी समय हुई। अस्तु; तीन स्वतन्त्र प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि बुद्ध का निर्वाण ई० पू० ४८७ के लगभग हुआ। ये तीनों प्रमाण इस प्रकार हैं—

(१) वसुबन्धु की जीवनी के लेखक परमार्थ नामक प्राचीन बौद्ध ग्रन्थकार ने लिखा है कि वृषगण और विन्ध्यवास नाम के बौद्ध आचार्य निर्वाण के बाद दसवीं शताब्दी में हुए। इन दोनों आचार्यों का समय ईसवी पाँचवीं शताब्दी माना जाता है। अतएव बुद्ध का होना ई० पू० पाँचवीं शताब्दी में सिद्ध होता है।

(२) चीन में वर्ष-गणना के लिये प्राचीन समय में प्रति वर्ष एक लकीर या शून्य बना दिया जाता था। कहा जाता है कि बुद्ध का

---

* इन्डियन एन्टिक्वेरी, १९१४ पृ० १२६-१३३।

† विन्सेन्ट स्मिथकृत अर्ली हिस्टरी आफ इन्डिया, पृ० ४६-४७।

निर्वाण कब हुआ, यही सूचित करने के लिये ये शून्य बनाये जाते थे। सन् ४८९ ई० तक इन शून्यों की संख्या ९७५ थी। अतएव ९७५ में से ४८९ निकाल देने से ४८६ बचता है; और यही समय बुद्ध के निर्वाण का था*।

(३) खुतन (चीनी तुर्किस्तान) में पाये गये बौद्ध ग्रन्थों में की एक दन्त-कथा से पता लगता है कि बुद्ध-निर्वाण के २५० वर्ष बाद अशोक हुए। इस दन्त-कथा से यह भी पता चलता है कि अशोक चीन के बादशाह शेह्लांगटी का समकालीन था। शेह्लांगटी ने ई० पू० २४६ से ई० पू० २१० तक राज्य किया था। अतएव २४६ में २५० जोड़ देने से बुद्ध का निर्वाण-काल ई० पू० पाँचवीं शताब्दी में ४८७ के लगभग सिद्ध होता है†।

परिशिष्ट (ग)

बौद्ध काल के विश्वविद्यालय

तक्षशिला विश्वविद्यालय

बौद्ध-कालीन भारत का सब से प्राचीन और सब से प्रसिद्ध विद्यालय तक्षशिला में था। इस प्राचीन नगर के खँडहर अब तक मिलते हैं। रावलपिण्डी से बीस मील पर जो सरायकाला स्टेशन है, उससे थोड़ी ही दूर पर, उत्तर पूर्व की ओर, ३-४ मील के घेरे में वे फैले हुए हैं। तक्षशिला जिस स्थान पर बसा हुआ था, वह पहाड़ की एक बहुत ही रमणीक तराई है। इसके सिवा यह नगर उस सड़क पर बसा हुआ

---

* जर्नल आफ़ रायल एशियाटिक सोसाइटी ग्रेट ब्रिटेन, १९०५. पृ० ५१।

† जर्नल आफ़ एशियाटिक सोसाइटी बंगाल, १८८६, पृ० १९३-२०३।

था, जो हिन्दुस्तान मे सीधी मध्य तथा पश्चिमीय एशिया को जाती थी। इसी सड़क के द्वारा मध्य तथा पश्चिमीय एशिया और भारत के बीच, प्राचीन समय में, व्यापार होता था। इन्हीं सब बातों के कारण कोई आश्चर्य नहीं जो यह नगर प्राचीन समय मे इतने महत्व का समझा जाता रहा हो। एरियन नामक यूनानी इतिहास-लेखक ईसवी दूसरी शताब्दी में हो गया है। उसने भारतवर्ष तथा सिकन्दर के भारत-आक्रमण का वर्णन किया है। उस वर्णन में ई० पू० तीसरी-चौथी शताब्दी के भारतवर्ष के इतिहास की यथेष्ट सामग्री है। तक्षशिला के बारे मे वह लिखता है—"सिकन्दर के समय में वह बहुत बड़ा तथा ऐश्वर्यशाली नगर था। इसमें सन्देह नहीं कि सिन्धु और झेलम नदियों के बीच जितने नगर थे, उनमें वह सब से बड़ा और सब से अधिक महत्त्व का समझा जाता था।" यहाँ प्राचीन गन्धार राज्य की राजधानी थी। अशोक के राज्य-काल में उसका प्रतिनिधि यहाँ रहता था। ईसवी सातवीं शताब्दी में ह्वेन्सांग नाम का चीनी बौद्ध यात्री भारतवर्ष मे आया था। वह भी तक्षशिला की उपजाऊ भूमि तथा हरियाली की प्रशंसा कर गया है।

यह विश्व विद्यालय बुद्ध के पहले ही स्थापित हो चुका था। जातकों से पता लगता है कि इसमे वेद, वेदांग, उपांग आदि के अतिरिक्त आयुर्वेद, धनुर्वेद, मूर्तिकारी, चित्रकारी, गृहनिर्माण विद्या आदि भी सिखलाई जाती थी। साहित्य, विज्ञान और कला कौशल के सब मिलाकर अठारह विषयों की पढ़ाई इसमें होती थी। इनमें से प्रत्येक विषय के अलग अलग विद्यालय थे और भिन्न भिन्न विषय अलग अलग अध्यापक पढ़ाते थे। बौद्ध ग्रन्थों से पता लगता है कि अनेक राजाओं ने यहाँ आकर धनुर्विद्या सीखी थी। कितने ही लोगों ने यहाँ संगीत-विद्या मे प्रवीणता प्राप्त की थी, जिससे वे अपने मधुर संगीत के द्वारा सर्प आदि जीवों तक को वश में कर लेते थे। कहा जाता है कि प्रसिद्ध संस्कृत वैयाकरण पाणिनि और चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधान मन्त्री तथा राजनीति शास्त्र-विशारद चाणक्य ने

यहीं शिक्षा पाई थी। किसी समय महर्षि आत्रेय यहाँ वैद्यक शास्त्र के अध्यापक थे। मगध-नरेश बिम्बिसार के राजवैद्य जीवक ने यहीं के अध्यापकों से चिकित्सा-शास्त्र सीखा था। कहा जाता है कि जीवक ने भगवान् बुद्ध की भी चिकित्सा की थी।

इस विश्व-विद्यालय में आयुर्वेद की शिक्षा का विशेष प्रबन्ध था। आयुर्वेद के बड़े बड़े ज्ञाता शिक्षा देने के लिये यहाँ रहते थे। वे केवल शिक्षा ही नहीं देते थे, बल्कि स्वयं असाध्य रोगों की चिकित्सा भी करते थे। यहाँ अनेक प्रकार की जड़ी-बूटियाँ अधिकता से होती थीं। इसी लिये इस विषय की शिक्षा और अनुभव प्राप्त करने के लिये यह स्थान सर्वथा उपयुक्त था। कहा जाता है कि एक बार चीन के एक राजकुमार को भयानक नेत्र-पीड़ा हुई। जब अपने यहाँ के चिकित्सकों की चिकित्सा से उसे आरोग्य लाभ न हुआ, तब वह चिकित्सा कराने के लिये तक्षशिला में आया। यह कथा अश्वघोष के सूत्रालंकार नामक ग्रन्थ में है। "महावग्ग" में लिखा है कि जब जीवक तक्षशिला मे आयुर्वेद की शिक्षा ग्रहण कर रहा था, तब एक दिन उसके अध्यापक ने उसे तक्षशिला के चारों ओर एक योजन के घेरे में घूम घूमकर ऐसे पौध और लताएँ ढूँढ लाने की आज्ञा दी, जो औषध के काम में न आते हों। पर बहुत खोज करने पर भी उसे कोई ऐसा पौधा न मिला। हर एक पेड़ या लता में कोई न कोई रोग-निवारक गुण निकल ही आता था। कई वर्ष हुए, यारकन्द में कुछ हस्त-लिखित संस्कृत वैद्यक ग्रन्थ पृथ्वी में गड़े हुए पाये गये थे। उन्हें डाक्टर हार्नली ने पढ़ा और बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी ने प्रकाशिक किया था। उनसे भी यही प्रमाणित होता है कि तक्षशिला में आयुर्वेद की शिक्षा का विशेप प्रबन्ध था।

इस विश्वविद्यालय में १६ वर्ष की उम्र के विद्यार्थी भर्ती होते थे। मगध, काशी आदि दूर दूर के स्थानों के विद्यार्थी यहाँ विद्याध्ययन के लिये आते थे। इन विद्यार्थियों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों

वर्णों के लोग होते थे। राजा से रंक तक के बालक यहाँ भर्ती हो सकते थे। "महासुत्सोन जातक" से पता लगता है कि उस समय तक्षशिला में १०१ राजकुमार विद्याध्ययन कर रहे थे। वहाँ दो प्रकार के विद्यार्थी पढ़ते थे—एक "धर्मान्तेवासिक", जो गुरु की सेवा-शुश्रूषा करके उसके बदले में विद्या पढ़ते थे; और दूसरे "आचार्य भागदायक", जो गुरु को गुरु-दक्षिणा देकर पढ़ते थे। गुरु-दक्षिणा १००० मुद्रा थी। विद्यार्थी गुरु के यहाँ पुत्रवत् रहते थे। किस विषय की शिक्षा कितने दिनों में समाप्त होगी, इसका कोई निश्चित नियम न था। यह बात उस विषय की कठिनता और विद्यार्थी की धारणा शक्ति पर ही निर्भर रहती थी। जीवक ने, जिसका उल्लेख ऊपर आ चुका है, सात वर्षों मे आयुर्वेद की संपूर्ण शिक्षा प्राप्त की थी।

"तिलमुट्ठि जातक" का कुछ अंश हम यहाँ उद्धृत करते हैं, जिससे पता लगेगा कि तक्षशिला के विश्वविद्यालय में विद्यार्थियो के भर्ती होने का क्या क्रम था—

"काशी के राजा ब्रह्मदत्त ने अपने षोड़श वर्षीय कुमार को अपने समीप बुलाकर एक जोड़ी खड़ाऊँ, पत्तों का बना हुआ एक छाता और एक सहस्र मुद्राएँ देकर कहा—'पुत्र, अब तुम तक्षशिला जाओ और वहीं शिक्षा ग्रहण करो।' राजकुमार अपने पिता की आज्ञा मानकर उसी समय चल पड़ा और यथा समय तक्षशिला पहुँचा। उस समय अध्यापक अपने विद्यार्थियों को पढ़ाकर घर के द्वार पर टहल रहे थे। उन्हें देखते ही राजकुमार ने अपनी खड़ाऊँ उतार दी, छाता बन्द कर लिया और हाथ जोड़े हुए चुपचाप उनके सामने खड़ा हो गया। अध्यापक ने बड़े प्रेम से उस नये आये हुए विद्यार्थी का स्वागत किया और उसे थका हुआ जानकर आराम करने को कहा। इसके बाद अध्यापक ने उसे भोजन कराया। खा पीकर कुछ देर आराम करने के बाद वह फिर गुरु के पास आया और हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। गुरु ने पूछा—

'तुम कहाँ से आ रहे हो ?'

'काशी से।'

'तुम किसके पुत्र हो ?'

' मैं काशी-नरेश का पुत्र हूँ।'

'तुम यहाँ किस लिये आये हो ?'

'विद्याध्ययन करने के लिये।'

'क्या तुम गुरु-दक्षिणा लेते आये हो ? अथवा गुरु की सेवा-शुश्रूषा करके विद्याध्ययन करना चाहते हो ?'

'दक्षिणा लेता आया हूँ।' इतना कहकर उसने गुरु के चरणों में वे सहस्र मुद्राएँ रख दीं, जो उसके पिता ने चलते समय उसे दी थीं।"

अभी तक इस बात का निश्चय नहीं हुआ कि तक्षशिला का विश्वविद्यालय कब स्थापित हुआ था और किस समय उसका लोप हुआ। परन्तु यह निश्चित है कि ई० पू० छठी शताब्दी से पहली शताब्दी तक यह विश्व-विद्यालय भारतवर्ष में विद्या का सब से बड़ा केन्द्र माना जाता था*।

नालन्द विश्वविद्यालय

तक्षशिला विश्वविद्यालय के बाद बौद्ध काल का दूसरा विश्वविद्यालय नालन्द में था। यह स्थान मगध की प्राचीन राजधानी राजगृह से सात मील उत्तर और पटने से चौंतीस मील दक्षिण है। आजकल इस जगह बड़गाँव नामक ग्राम बसा हुआ है, जो गया ज़िले में है। यहाँ अभी तक नालन्द की प्राचीन इमारतों के खंडहर पाये जाते हैं†। इस विश्वविद्यालय

---

* सरस्वती, जनवरी १९०९ और माधुरी पौष १९७९ में तक्षशिला विश्वविद्यालय के बारे में लेख निकल चुके हैं। उन्हीं दोनों लेखों के आधार पर तक्षशिला विश्वविद्यालय का यह वर्णन लिखा गया है।

† कनिंघम कृत एन्शिएण्ट जिओग्राफी, पृ० ४६८.

की नींव कब पड़ी, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। पर चीनी यात्री ह्वेनूत्सांग ने अपने यात्रा-वर्णन में लिखा है कि बुद्ध के निर्वाण के कुछ समय बाद ही शक्रादित्य नाम के एक राजा ने इसे बनवाया था। कहा जाता है कि अशोक के समय में ही संसार से विरक्त कुछ भिक्षु और संन्यासी नालन्द में कुटी बनाकर रहने लगे थे। क्रमशः उनकी कीर्ति फैलने लगी और नालन्द विद्या-पीठ में परिणत हो गया। गुप्त काल में नालन्द विद्या का सब से बड़ा केन्द्र था। इसी समय यह विद्यापीठ महा-विद्यालय में परिणत हुआ और भारतवर्ष के सभी प्रान्तों के विद्यार्थी यहाँ आकर विद्याध्ययन करने लगे। सातवीं शताब्दी में ह्वेनूत्सांग ने नालन्द के ऐश्वर्य का बहुत मनोहर वृत्तान्त लिखा है। चीन ही में उसने नालन्द का हाल सुना था; तभी से उसे देखने के लिये वह बहुत लालायित हो रहा था। भारतवर्ष में आकर वह घूमता फिरता नालन्द भी गया। वहाँ पहुँचते ही उसके दिल पर ऐसा असर पड़ा कि वह तुरन्त विद्यार्थियों में शामिल हो गया। उस समय नालन्द विश्वविद्यालय में १०,००० विद्यार्थी निवास करते थे। आठवीं शताब्दी में बौद्ध धर्म का ह्रास होने के साथ ही साथ नालन्द का भी ह्रास हो गया। अन्त में मुसलमानों के आक्रमण से इस विश्वविद्यालय का सदा के लिये अन्त हो गया; और वहाँ के भिक्षु और संन्यासी आदि या तो मार डाले गये या अन्य देशों में भाग गये।

ह्वेनूत्सांग * ने नालन्द के बारे में लिखा है कि वहाँ चारों ओर ऊँचे ऊँचे विहार और मठ खड़े थे। बीच बीच में सभागृह और विद्यालय बने हुए थे। वे सब समाधियों स्तूपों और मन्दिरों से घिरे थे। उनके चारों ओर बौद्ध शिक्षकों और प्रचारकों के रहने के लिये चौमंज़िली इमारतें थीं। इनके सिवा ऊँची ऊँची मीनारों और विशाल भवनों की

* Walter's Ywan-Chwang Vol II.

शोभा देखने ही योग्य थी। इन भवनों में नाना प्रकार के बहुमूल्य रत्न जड़े हुए थे। रंगबिरंगे दरवाज़ों, कड़ियों, छतों और खंभों की सजावट देखकर लोग मोहित हो जाते थे। इस विश्वविद्यालय का पुस्तकालय नौमंज़िला था, जिसकी ऊँचाई क़रीब तीन सौ फुट थी। इसमें बौद्ध धर्म सम्बन्धी सभी ग्रन्थ थे। प्रचीन काल में इतना बड़ा पुस्तकालय कदाचित् ही कहीं रहा हो।

वहाँ छः बड़े बड़े विद्यालय थे। उन विद्यालयो में विद्यार्थियों से फ़ीस न ली जाती थी, बल्कि उलटे उन्हें प्रत्येक आवश्यक वस्तु मुफ्त दी जाती थी; अर्थात् भोजन, वस्त्र, औषध, निवास-स्थान आदि सब कुछ उन्हें मुफ्त मिलता था। उच्च श्रेणी के विद्यार्थियों को अच्छी कोठरियाँ और नीची श्रेणी के विद्यार्थियों को साधारण कोठरियाँ मिलती थीं। पुरातत्व विभाग की ओर से वहाँ जो खुदाई हुई है, उससे पता लगता है कि एक कोठरी में एक ही विद्यार्थी रहता था; क्योंकि बड़ी से बड़ी कोठरियों की लंबाई १२ फुट से अधिक और चौड़ाई ८ फुट से अधिक नहीं है। विश्वविद्यालय का कुल ख़र्च दान के द्रव्य से चलता था। यह भी पता लगा है कि इसके अधीन २०० से ऊपर ग्राम थे, जो बड़े बड़े राजाओं की ओर से इसे दान के रूप में मिले थे।

नालन्द मे भिन्न भिन्न विषयों की शिक्षा देने के लिये एक सौ आचार्य थे। विश्वविद्यालय में गणित, ज्योतिष आदि सांसारिक विषयों के साथ ही साथ आत्मविद्या और धर्म की भी शिक्षा दी जाती थी। ह्वेनत्सांग ने लिखा है कि वहाँ बौद्ध धर्म के ग्रन्थों के सिवा वेद, सांख्य, दर्शन और अन्य विषयों से सम्बन्ध रखनेवाले सभी ग्रन्थ पढ़ाये जाते थे। हेतु विद्या, शब्द विद्या, वैद्यक आदि अनेक विविध विषय विश्वविद्यालय के पाठ्य क्रम में सम्मिलित थे। नालन्द आकाश के ग्रह, नक्षत्रादि देखने का भी बड़ा भारी स्थान था और वहाँ की जल-घड़ी संपूर्ण मगध-वासियों को ठीक ठीक समय का ज्ञान कराती थी। इस में शिल्पकला विभाग भी था।

मालूम होता है कि वहाँ एक कठिन परीक्षा होती थी, जिसमें बड़े कड़े प्रश्न किये जाते थे; और जो उसमें उत्तीर्ण होते थे, वही विद्यालय में भरती किये जाते थे। पढ़ाई का क्रम कम से कम दो या तीन वर्ष का था*।

इस विश्वविद्यालय के पदक, मुहरें और प्रशंसापत्र (सार्टिफिकेट आदि) पाने के लिये लोग लालायित रहते थे। इसकी बहुत सी मुहरें प्राप्त हुई हैं, जिन पर ये शब्द खुदे हुए हैं—"श्रीनालन्द-महाविहारीय-आर्य-भिक्षुक-संघस्य"। इन मुहरों के दोनों किनारों पर शान्त भाव से बैठे हुए दो मृगों के चिह्न बने हैं†।

विश्वविद्यालय का प्रबन्ध बहुत सन्तोषजनक था। वहाँ के नियम बहुत कड़े थे और उन का पालन बड़ी कड़ाई के साथ किया जाता था। प्रति दिन बड़े तड़के एक बड़ा घंटा बजाकर स्नान का समय सूचित किया जाता था। विद्यार्थीगण सौ सौ या हज़ार हज़ार के झुंडों में अँगोछा हाथ में लिये हुए चारों ओर से तालाब की ओर जाते हुए दिखाई पड़ते थे। स्नान करने के लिये ऐसे दस तालाब थे। प्रति दिन संध्या समय धर्माचार्य मन्त्र उच्चारण करते हुए एक कोठरी से दूसरी कोठरी में जाते थे।

नालन्द के विश्वविद्यालय का लोप कब हुआ, यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता। इसमें सन्देह नहीं कि दसवीं शताब्दी तक इसका अस्तित्व था; क्योंकि इतिहास से पता लगता है कि बंगाल के राजा देवपाल ने वीरदेव नामक किसी पुरुष को यहाँ के विहार का महन्त बनाया था। फिर बंगाल के राजा महिपाल के राज्य काल के नवें वर्ष में विहार के जल जाने पर तैलधक ग्राम के बालादित्य ने इसका पुनरुद्धार

---

* ताकाकुसु—"इत्सिंग" पृ० १७७.

† आर्कियोलाजिकल रिपोर्ट (ईस्टर्न सर्किल), १९१६-१७, पृ० ४३.

कराया। काल की कुटिल गति से नालन्द के प्राचीन गौरव की गवाही अब वहाँ केवल मिट्टी के थोड़े से धुस्स दे रहे हैं*।

तक्षशिला और नालन्द के अतिरिक्त श्रीधन्यकटक (दक्षिण भारत में कृष्णा नदी के तट पर वर्तमान अमरावती के निकट), ओदन्तपुरी और विक्रमशिला इन तीनों स्थानों में बड़े बड़े विश्वविद्यालय थे। ओदन्तपुरी और विक्रमशिला दोनों बिहार प्रान्त में थे। पर ये तीनों विश्वविद्यालय गुप्त काल के या उसके बाद के थे। इससे वे इस ग्रन्थ के विषय के बाहर हैं।

---

* हिन्दुस्तान रिव्यू, सितंबर, १९१८ में नालन्द विश्वविद्यालय के सम्बन्ध में एक उत्तम लेख निकला था। उसका अनुवाद सरस्वती, अगस्त १९११, में प्रकाशित हुआ था। उसी लेख के आधार पर नालन्द का उक्त वर्णन किया गया है।

परिशिष्ट (घ)

बौद्ध-कालीन घटनाओं की समय-तालिका

ईसा पूर्व

६०० शैशुनाग वंश की स्थापना

५२८–५०० बिम्बिसार का राज्य-काल

५००–४७५ अजातशत्रु का राज्य-काल

५९९–५२७ जैन ग्रन्थों के अनुसार वर्धमान महावीर का जीवन-काल

५३९–४६७ ऐतिहासिक अनुसन्धानों के अनुसार वर्धमान महावीर का जीवन-काल

५२७ जैन ग्रन्थों के अनुसार वर्धमान महावीर का निर्वाण-काल

४६७ ऐतिहासिक अनुसन्धानों के अनुसार वर्धमान महावीर का निर्वाण-काल

५६७–४८७ गौतम बुद्ध का जीवन-काल

४८७ गौतम बुद्ध का निर्वाण-काल

४७५–४५० दर्शक का राज्य-काल

३७१ नन्द-वंश की स्थापना

३२७ सिकन्दर का भारत पर आक्रमण

३२६ सिकन्दर का भारत से कूच

३२३ सिकन्दर की मृत्यु

३२२–२९८ चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्य-काल

३०५ सेल्यूकस का आक्रमण

२९८–२७३ बिन्दुसार (अमित्रघात) का राज्य-काल

२७३—२३२ अशोक का राज्य-काल

२६९ अशोक का राज्याभिषेक

२६१ अशोक की कलिंग-विजय

२४९ बौद्ध तीर्थों की यात्रा के लिये अशोक का प्रस्थान

२४३ अशोक के समय में बौद्ध महासभा

२३२ अशोक की मृत्यु

२३२ दशरथ का राज्यारोहण

२२० आन्ध्र राजवंश का प्रारंभ

२०६ काबुल पर एन्टिओकस थीअस का आक्रमण

१९० काबुल, पंजाब और सिन्ध का डेमेट्रियस के अधिकार में आना

१८४ मौर्य वंश के अन्तिम राजा बृहद्रथ का अपने सेनापति पुष्य-मित्र के हाथ से मारा जाना

१८४ पुष्यमित्र के द्वारा शुंग वंश की स्थापना

१८४—१४८ पुष्यमित्र का राज्य-काल

१७५ बलख का यूक्रेटाइडीज़ के अधिकार में आना

१७१—१३६ मिथ्रडेटस प्रथम का राज्य-काल

१६०—२५ पंजाब और पश्चिमोत्तर सीमा पर यूनानियों का शासन

१६० यूचियों के द्वारा शकों का मध्य एशिया से निकाला जाना

१५५ मिलिन्द (मिनैन्डर) का आक्रमण

१५५ खारवेल का आक्रमण

१४८—७२ पुष्यमित्र के उत्तराधिकारियों का राज्य-काल

७२—२७ काण्व वंश का राज्य-काल

७५—५८ मोअस का राज्य-काल

५८ एज़ेस प्रथम का राज्यारोहण

५८ विक्रम संवत् का प्रारंभ

२५ भारत में यूनानी शासन का अन्त

२५ कैडफ़ाइसिस प्रथम का राज्यारोहण

ईसा पश्चात

१९—४५ गोंडोफ़र्निस का राज्य-काल

४५—७८ कैडफ़ाइसिस द्वितीय का राज्य-काल

७८–१२० कनिष्क का राज्य-काल

११९–१२४ नहपान क्षत्रप का राज्य-काल

१२०–१४० हुविष्क का राज्य-काल

१४०–१८० वासुदेव का राज्य-काल

१५० रुद्रदामन् का गिरनारवाला शिलालेख

३२० गुप्त साम्राज्य की स्थापना और बौद्ध काल का अन्त तथा पौराणिक काल का प्रारंभ।

ग्रन्थ-सूची

बौद्ध-कालीन भारत के इतिहास का अध्ययन करने के लिये निम्न-लिखित ग्रन्थ और लेख अत्यन्त उपयोगी हैं। इस ग्रन्थ के लिखने में यथा-संभव इनसे सहायता की गई है।

अँगरेजी

(1) Anand Coomarswamy—Buddha and the Gospel of Buddhism.

(2) Anguttara Nikaya—Edited by Richard Marris and Edmund Hardy (Pali Text Society)

(3) Banerji, R. D.—The Scythian Period of Indian History, Indian Antiquary, 1908.

(4) Barnett, L. D.—Antiquities of India.

(5) Barodia—History and Literature of Jainism.

(6) Beal, S —Buddhist Records of the Western World.

(7) Bhagwan Lal Indraji—The Northern Khatrapas J R. A. S., 1894.

(8) Benoy Kumar Sarkar—The Positive Back-ground of Hindu Sociology.

— The Political Institutions and Theories of the Hindus.

(9) Bhandarkar, D R.—Lectures on the Ancient History of India.

(10) ,, —Excavations at Besnagar. Archæological Survey of India, 1913–14 and 1914–15.

(11) Bhandarkar, R G.—On the date of Patanjali. Indian Antiquary, 1872.

(12) ,, —Early History of the Deccan.

(13) Buhler, G. and Fleet, J. F.—"Indian Palaeography" in Indian Antiquary, 1904. (Appendix)

(14) Carpentier, J.—Date of Mahavira, Indian Antiquary. 1914; pp. 118, 125 and 167.

(15) Cunningham, A —Bhilsa Topes.

(16) — The Stup of Bharhut

(17) — Mahabodhi or the Great Buddhist Temple at Buddha Gaya.

(18) — The Ancient Geography of India.

(19) — Coins of Ancient India.

(20) — Coins of the Indo-Scythians.

(21) Dey, N. L.—The Gographical Dictionary of Ancient and Mediaevial India. Revised edition in Indian Antiquary, 1919 etc.

(22) Dhammapada. Edited by Suriyagoda Sumangala Thera (Pali Text Society)

(23) — Translated by F. Max Muller. Sacred Books of the East Vol. X.

(24) Digha Nakaya—Edited by T. W. Rhys Davids and J. E. Carpenter (Pali Text Society.)

(25) Dipvansa—Edited and translated by H. Oldenburg.

(26) Divyavadana—Edited by Cowell and Neil

(27) Dutt, R. C.—History of Civilisation in Ancient India.

(28) Eliot, Sir Charles—Hinduism and Buddhism in 3 Volumes.

(29) Fergusson, J.—Tree and Serpent Worship

— History of Indian and Eastern Architecture

(30) Fick, R.—The Social Organisation in North-East India in Buddha's Time, translated from German by S. K. Maitra.

(31) Fleet, J. F.—Epigraphy, Imperial Gazetter. II.
(32) — Moga, Manes, and Vonones. J. R. A. S. 1907.
(33) Foucher, A.—The Beginnings of Buddhist Art. Translated from French by F. W. Thomas.
(34) Gieger, W.—Dipvamsa and Mahavamsa. Indian Antiquary. 1906. p. 153.
(35) Grunwedel, A.—Buddhist Art in India.
(36) Hardy, R. S—Eastern Monarchism.
(37) — Manual of Buddhism.
(38) Hargreaves, H.—The Buddhist Story in Stone.
(39) Havell, E B.—The History of Aryan Rule in India.
(40) — Indian Sculpture and Painting.
(41) Hoerle. A. F. R.—History and Doctrines of Gosala in Hastings, Encyclopædia of Religion and Ethics, Vol. I. p. 258.
(42) — Proceedings of the Asiatic Society of Bengal, 1898. p. 39.
(43) Hultesch, E—Jatakas at Bharaut. J R. A. S. 1912. p. 399
(44) Jacobi, H.—On Mahavira and his Predecessors. Indian Antiquary, IX. p 158.
(45) — Introduction to Sacred Books of the East, Vols. XXII and XLV.
(46) Jagmander Lal Jaini.—Outlines of Jainism.
(47) Jataka—Edited by V. Fausboll.
(48) — Translated by various hands under the editorship of E. B. Cowell.
(49) Jayaswal, K. P.—An Introduction to Hindu Polity. Modern Review, 1913.
(50) Kennedy, J.—The Secret of Kanishka. J. R. A. S. 1912.

(51) — The Early Commerce of Babylon with India. J. R. A. S. 1898, p. 241-88.

(52) Kern, H.—Manual of Indian Buddhism.

(53) Krishnaswami Aiyangar.—Ancient India.

(54) Lalitvistar—Edited by Rajendra Lal Mitra.

(55) Macdonell, A. A.—Sanskrit Literature.

(56) Maisay, F. C.—Sanchi and its Remains.

(57) Max Muller, F. A. —A History of Ancient Sanskrit Literature.

(58) Mahavansa—Edited and translated by W. Geiger.

(59) Majjhima Nikaya—Edited by V. Trenckner and R. Chalmers (Pali Text Society)

(60) Mc. Crindle,—Ancient India as described by Megasthenes and Arrian.

— Invasion of India by Alexander the Great

— Ancient India as described in Classical Literature.

— Periplus of the Erythaean Sea.

— Ptolemy's Geography.

— Ancient India as described by Ktesias.

(61) Marshall, J. H —Archæological Exploration in India. J. R A. S 1907, 1908, 1909, 1911.

(62) — A Guide to Taxila.

(63) — A Guide to Sanchi.

(64) — Besnagar Inscription, J. R. A. S. 1909, p. 1053.

(65) — Excavations at Taxila, Archæological Survey of India, 1912-13.

(66) Milindpanha, Edited by V. Trenckner.

(67) — Translated by T. W. Rhys Davids. Sacred Books of the East XXXV, XXXVI.

(68) Narendra Nath Law.—Aspects of Ancient Indian Polity.

(69) — Studies in Ancient Hindu Polity. Vol. I.

(70) Oldenburg, H.—Buddha. English translation by Hoey.

(71) — Ancient India.

(72) Pargiter, F. E —The Purana tex of the Dynasties of the Kali Age.

(73) Pramathnath Banerjea.—Public Administration in Ancient India.

(74) Radhakumud Mukerji —A History of Indian Shipping.

(75) — Local Government in Ancient India.

(76) Rajtarangini-Translated by A. M. Stein.

(77) Rangaswami Aiyangar, K. V.—Considerations on some aspects of Ancient Indian Polity.

(78) Rapson, E. J.—Cambridge History of India. Vol. I. Ancient India.

(79) — Coins of the Andhra and Khatrapa Dynasties.

(80) — Ancient India.

(81) — Indian Coins.

(82) Rawlinson, H G.—Intercourse between India and the Western World.

(83) Rhys Davids. T W.—Buddhism.

(84) — Buddhist India.

(85) — Buddhism: Its History and Literature.

(86) — Early Buddhism.

(87) Rhys Davids, Mrs. C. A. F —Buddhism, (Home University Library Series)

(88) — Notes on Early Economic Conditions in Northern India. J. R. A. S. October, 1901.

(89) Rockhill, W. W —Life of the Buddha.

(90) Ramesh Chanbra Majumdar.—Corporate Life in Ancient India.

(91) Smith, V A —The Early History of India. 3rd edition.

(92) — The Oxford History of India.

(93) — Asoka. 3rd edition.

(94) — Autonomous Tribes of the Punjab Conquered by Alexander. J. R. A S , 1903.

(95) — The Kushana or Indo-Scythian Period of Indian History. J. R A. S , 1903.

(96) — Catalogue of Coins in the Indian Museum, Calcutta. Vol. I.

(97) Sahni, Dayaram.—Catalogue of the Sarnath Museum.

(98) Samyutta Nikaya, Edited by Leon Feer and Mrs. Rhys Davids (Pali Text Society).

(99) Sewell, R.—Roman Coins found in India, J. R A. S. 1904.

(100) Shama Sastri, R.—Chanakya's Land Revenue Policy, Indian Antiquary, 1905.

(101) Spooner, D. B.—The Zoroastrian Period of Indian History. J. R. A. S. 1915, pp 63-89; 405-55.

(102) — Hand Book to the Sculptures in the Peshawar Museum.

(103) Stem, M. A.—Zoroastrian Deities on Indo-Scythian Coins, Indian Antiquary, 1988 pp 89-98

(104) — Ancient Khotan.

(105) Sutta Nipata-Edited by Anderson and Smith (Pali Text Society)

(106) Takakusu, Dr. J.—Itsing.

(107) Thomas, F. W.—The Date of Kanishka. J. R. A S. 1913.

(108) — Sakasthana, J. R. A. S. 1906.

(109) Vinaya-Edited by H. Oldenberg.

(110) — Translated by Rhys David and H Oldenburg. Sacred Books of the East, XIII, XVII, XX.

(111) Vogel, J. Ph.—Catalogue of the Mathura Museum.

(112) Waddell, L A.—Discovery of the Exact Site of Asoka's Classic capital of Pataliputra.

(113) — Excavations at Pataliputra

(114) Warren, H. C.—Buddhism in Translation.

(115) Watters.—On Yuan Chwang's Travels in India.

(116) Whitehead, R. B.—Indo-Greek Coins, Lahore Museum Catalogue Vol. I.

(117) Wilson, H. H —Ariana Antiqua.

संस्कृत तथा हिन्दी

(१) कौटिलीय अर्थशास्त्र (शाम शास्त्री-संपादित)

(२) प्राचीन लिपि माला (गौरीशंकर हीराचन्द ओझा रचित)

(३) मुद्राराक्षस नाटक (विशाखदत्त-कृत)

(४) मालविकाग्निमित्र (कालिदास रचित)

(५) अशोक के धर्म-लेख (जनार्दन भट्ट कृत)

(६) भारतवर्ष का इतिहास ("मिश्रबन्धु" रचित)

(७) बुद्ध के जीवन की प्रधान घटनाएँ (जनार्दन भट्ट लिखित) सरस्वती दिसंबर १९१७.

(८) तक्षशिला का इतिहास (जनार्दन भट्ट लिखित) सरस्वती नवम्बर १९१८.

(९) ईसापुर के यूप-स्तंभ (पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी-लिखित) सरस्वती, सितम्बर १९१५.

(१०) मौर्य साम्राज्य का लोप (पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी लिखित) सरस्वती, दिसम्बर १९१५.

(११) अशोक-लिपि (बा० जगन्मोहन वर्मा-लिखित) सरस्वती, अप्रैल १९१३ और आगे.

(१२) कनिष्क-काल-निर्णय (पं० हरि रामचन्द्र दिवेकर लिखित) सरस्वती, जनवरी १९१५.

(१३) क्षत्रप वंश का इतिहास (पं० विश्वेश्वरनाथ रेऊ लिखित) सरस्वती, मार्च से जुलाई तक, १९१९.

(१४) भरतीय पुरातत्व में नई खोज (जनार्दन भट्ट लिखित) सरस्वती, जुलाई १९२०.

(१५) भगवान् बुद्धदेव (पं० वेंकटेश नारायण तिवारी लिखित) सरस्वती, जनवरी, फरवरी और मई १९१०.

(१६) महाराज अशोक भी धार्मिक स्वतंत्रता (पं० गोविन्द वल्लभ पाण्डेय लिखित) सरस्वती, जून १९१५.

(१७) बौद्ध धर्म की प्रतिष्ठा (लेखक-वैष्णव) सरस्वती, मई १९१४.

(१८) तक्षशिला विश्वविद्यालय (सरस्वती, जनवरी १९०९ तथा माधुरी पौष १९७९)

(१९) नालन्द विश्वविद्यालय (सरस्वती, अगस्त १९१९)

(२०) भारत की प्राचीन मूर्तिकारी (ले० जनार्दन भट्ट) सरस्वती मे प्रकाशित.

साहित्य-रत्न-माला

हिंदी में ऐसी पुस्तकमालाएँ बहुत ही कम हैं, जिनकी सभी पुस्तकें विषय, उनकी प्रतिपादन-शैली और भाषा आदि के विचार से उच्च कोटि के साहित्य में स्थान पा सकें। इसी अभाव की पूर्ति के लिये यह पुस्तकमाला प्रकाशित की गई है। इस पुस्तकमाला की सभी पुस्तकें सभी दृष्टियों से उच्च कोटि की और स्थायी साहित्य मे परिगणित होने के योग्य होती हैं। इसमें केवल लब्धप्रतिष्ठ लेखकों के लिखे हुए साहित्य, विज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र, इतिहास आदि उपयोगी विषयों के अच्छे अच्छे ग्रन्थ ही प्रकाशित होते हैं। जो लोग १) प्रवेश शुल्क देकर स्थायी ग्राहकों में नाम लिखावेंगे, उनसे पुस्तकों का डाकव्यय न लिया जायगा। इस माला का पहला ग्रंथ

साहित्यालोचन

साहित्य की आलोचना से संबंध रखता है। जिनको साहित्य से कुछ भी अनुराग है, अथवा जो साहित्य से किसी प्रकार का संबंध रखते हैं, उनके लिये इस ग्रंथ में जानने, समझने और मनन करने योग्य अनेकानेक बातें भरी पड़ी हैं। इस ग्रन्थ ने हिन्दी संसार में एक नवीन प्रकार की जाग्रति उत्पन्न की है और यह हिन्दी साहित्य के इतिहास के एक नवीन युग के प्रवर्त्तन में सहायक हुआ है। प्रत्येक साहित्य-प्रेमी के पास और प्रत्येक पुस्तकालय में इसकी एक प्रति अवश्य रहनी चाहिए। मूल्य ३)

माला का दूसरा ग्रंथ

भाषा-विज्ञान

भी हिन्दी में अपने ढंग का पहला ग्रन्थ है। इसमें भाषा-विकास की अवस्थाएँ, भारतीय आर्य भाषाओं का इतिहास, आधुनिक देशी भाषाओं और विशेषतः हिन्दी भाषा का विकास आदि अनेक उपयोगी विषय दिए गए हैं। साहित्य-प्रेमियों में इसका बहुत अधिक आदर हुआ है। मूल्य ३)

प्रकीर्णक पुस्तकमाला

(१) **वैज्ञानिक साम्यवाद**—इस पुस्तक में संक्षेप में यह बतलाया गया है कि साम्यवाद वास्तव में क्या है, उसकी उपयोगिता क्या है और उसके सिद्धान्तों के अनुसार कार्य्य होना आवश्यक तथा अनिवार्य्य क्यों है। मूल्य ≡)

(२) **हिन्दी भाषा का विकास**—भारत के आदिम आर्य्यों की भाषा से लेकर अब तक की प्रचलित सब भाषाओं का और उनसे विकसित होनेवाली हिन्दी भाषा का पूरा इतिहास। विशेषतः विद्यार्थियों के लिये बहुत ही उपयोगी है। मूल्य ।|≈)

(३) **जातक कथामाला**—(पहला भाग) बुद्ध भगवान के पूर्व जन्मों की बहुत ही मनोहर और शिक्षाप्रद कहानियाँ। मू० १)

रामचन्द्र वर्म्मा,

साहित्य-रत्न-माला कार्यालय,

बनारस सिटी।